विविध आचार्यों द्वारा व्यञ्जना-रक्षार्थ प्रयुक्त युक्तियों का आलोचनात्मक अध्ययन

प्रयाग विश्वविद्यालय की डी. फिल. उपाधि के लिए प्रस्तुत

ोध प्रबन्ध

निर्देशिका

डा0 ज्ञानदेवी श्रीवास्तव

रीडर संस्कृत विभाग

प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग

शोधकर्त्री

हरिप्रिया

प्रयाग १९८९

श्री राधा माधव जी के चरणों
में समर्पित

भूमिका

संस्कृत काव्य-शास्त्र के इतिहास की परम्परा में ध्वनि-सिद्धान्त का योगदान निश्चय ही अतुलनीय है। आचार्य आनन्दवर्धन ध्वनिवाद के वरिष्ठ संस्थापक के रूप में विख्यात हैं। आचार्य के देयांशों से संस्कृत साहित्य निश्चय ही विकसित और समृद्ध हुआ है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में आचार्य आनन्दवर्धन से ले कर परवर्ती विविध आचार्यों द्वारा व्यञ्जना-रक्षार्थ प्रयुक्त की गई युक्तियों का विश्लेषण किया गया है। प्रस्तुत प्रकृत शोध-कार्य को मैंने अध्ययन की स्पष्टता एवं क्रमबद्धता की दृष्टि से पांच अध्यायों में विभक्त किया है। भारतीय साहित्य के महत्तम ध्वनिसिद्धान्त की आधारभूता व्यञ्जना वृत्ति पर इस सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया गया है। प्रकृत प्रबन्ध में सर्वप्रथम व्यञ्जना वृत्ति के स्वरूप तथा अपरिहार्यता एवं इसके उद्‌भव एवं विकास का विवेचन किया गया है। साथ ही इसके भेद-प्रभेदों का भी निरूपण है। तदनन्तर व्यञ्जना-विरोधी आचार्यों की व्यञ्जना-खण्डनात्मक युक्तियों का तथा उनकी मान्यताओ के प्रारूप पर विचार किया गया है। अन्त में विभिन्न ध्वनिवादी आचार्यों की व्यञ्जना-रक्षार्थ युक्तियों को प्रस्तुत करके विरोधी आचार्यों की युक्तियों का एकैकशः खण्डन किया गया है। अपने इस प्रयास में मैं कहां तक सफल हुई हूँ इसके निर्णायक तो नीरक्षीरविवेकी सुधीजन ही हैं।

सर्वप्रथम "गुरवे नमः" के रूप में समादृत डॉ. श्रीमती ज्ञानदेवी श्रीवास्तव के प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। जिनके सहयोग, मार्गदर्शन तथा आशीर्वाद ने मेरी शोध-संरचना को साकार रूप देने में हर प्रकार का सम्भव सहयोग प्रदान किया। श्रद्धेय गुरुवर्य डॉ. सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव, अध्यक्ष संस्कृत विभाग की मैं चिर ऋणी हूँ जिनकी शिष्यवत्सलता के कारण ही मै शोध कार्य से सम्बन्धित सहयोग प्राप्त कर सकी। तत्पश्चात् मैं अंग्रेजी और हिन्दी के उन लेखकों के प्रति भी आभार प्रकट करना अपनी नैतिकता समझती हूँ, जिनके मूल्यवान ग्रन्थों द्वारा मै अपना यह मनोरथ पूर्ण कर सकी।

मैं अपने माता पिता के प्रति हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने मुझे परिवार में पुत्री का स्थान प्रदान कर मुझे कार्य करने की

निश्चिन्त मानसिकता प्रदान की। श्वसुरालय के सदस्यों के स्नेह पर तो मेरा अधिकार ही है। इस कार्य की पूर्णता में उनका सहयोग महत्वपूर्ण है। रवि प्रकाश वर्मा, पंकज वर्मा, माधवेन्द्र पुरी दास, पंकज राय, विनय कृष्ण एवं विभव कृष्ण की भी मैं ऋणी हूँ जिनका साधिकार समय नष्ट करके मैं इस कार्य में सफल हो सकी हूँ। इस सन्दर्भ में मैं अपने दोनो भाइयों के सहयोग को कभी विस्मृत नहीं कर सकती।

टंकक श्री राम भरोसे शर्मा एवं श्री ए.बी.कुशवाहा के प्रति मैं आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने संस्कृत के दुरूह शब्दों का टंकण अत्यन्त धैर्य एवं लगन के साथ किया। चूँकि इस प्रबन्ध का टंकण कम्प्यूटर द्वारा किया गया है अतः कहीं-कहीं वाक्य के लिखने में पंचमवर्ण (ङ.ञ) तथा चन्द्रबिन्दु सम्बन्धी अशुद्धियां हैं यद्यपि इनको दूर करने का यथासम्भव प्रयास किया गया है तथापि मैं इन अशुद्धियों के लिये विद्वज्जनों से क्षमा की याचना करती हूँ।

अन्ततः मैं उन सभी विद्वज्जनों के प्रति अपना आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होने मेरे इस प्रयास में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग दिया है।

हरिप्रिया

हरिप्रिया
संस्कृत विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

व्यञ्जना-परिचय

व्यञ्जना आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा उद्भावित वह शब्द-व्यापार है जो व्यङ्ग्यार्थ के बोध के लिये अपरिहार्य है। चूंकि इनसे पहले शब्द-व्यापार के रूप में व्यञ्जना किसी भी प्रस्थान में स्पष्ट रूप से मान्य और प्रतिपादित नहीं थी, इसलिये इस अश्रुतपूर्व व्यापार के नाम पर विज्ञ आलोचकों का चौंकना स्वाभाविक था । फलस्वरूप संस्कृत वाङ्मय के विविध प्रस्थान के अनुयायी आचार्यों द्वारा इसका विरोध आरम्भ हुआ। विरोधी आचार्यों ने इसके उन्मूलनार्थ विविध प्रकार के तर्क दिये। इन विरोधी आचार्यों ने व्यङ्ग्यार्थ को अभिधागम्य, लक्षणागम्य, तात्पर्यावृत्तिगम्य तथा अनुमानगम्य प्रतिपादित करते हुये व्यञ्जना वृत्ति की कल्पना को व्यर्थ बताया। दूसरी ओर व्यञ्जना वृत्ति के समर्थक आचार्यों ने इन विरोधियों के द्वारा प्रयुक्त तर्कों का खण्डन करते हुये व्यञ्जना वृत्ति को दृढ़ आधार पर संस्थापित करने का प्रयास किया। इस प्रकार प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की सीमा के अन्तर्गत न केवल व्यञ्जना वृत्ति का विवेचन अपेक्षित प्रतीत होता है अपितु अभिधा और लक्षणा वृत्ति तथा उनकी सीमाओं का विवेचन भी अपरिहार्य हो जाता है। अतएव अभिधा, लक्षणा के विचारपूर्वक व्यञ्जना का विवेचन किया जा रहा है --

अभिधा :--

अभि उपसर्गपूर्वक " धा " धातु से आतश्चोपसर्गे (3 ।3 ।106) सूत्र से अङ् प्रत्यय करने से निष्पन्न अभिधा शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है--"अभिधीयते (संकेतितः अर्थः) अनया इति अभिधा" अर्थात् जिसके द्वारा संकेतित अर्थ का बोध हो वही अभिधा है। अभिधा के लिये आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, विश्वनाथ, हेमचन्द्र आदि काव्यशास्त्रियों ने शक्ति शब्द का भी प्रयोग किया है । शक्ति शब्द की व्युत्पत्ति है - " शक्यतेऽनया इति शक्तिः " । आचार्य मम्मट ने शक्ति के स्थान पर व्यापार शब्द का प्रयोग किया है।[1]

1- स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ।

का. प्र., द्वि. उ., पृ. 53

उपर्युक्त काव्यशास्त्री तथा मम्मट शक्ति एवं व्यापार में कोई भिन्नता नहीं मानते हैं, क्योंकि ये आचार्य कहीं तो उसके लिये शक्ति शब्द का प्रयोग करते हैं और कहीं व्यापार शब्द का । किन्तु वैयाकरण अभिधा, लक्षणा, व्यन्जना को शब्द की तीन वृत्तियां मानते हैं और अभिधा के लिये शक्ति शब्द का ही प्रयोग करते हैं ।[1]

अभिधा के स्वरूप के ज्ञानार्थ सर्वप्रथम अभिधा की परिभाषा दर्शनीय है । आनन्दवर्धन के अनुसार अभिधा अभिधान-शक्ति है ।[2] अभिनवगुप्त के अनुसार अभिधा सामान्य स्वरूप वाले पदार्थों में ही होती है । संकेत की अपेक्षा से अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति ही अभिधा शक्ति है । "पदार्थेषु सामान्यात्मस्वभिधा व्यापारः समयापेक्षयार्थावगमनशक्तिह्यभिधा ।"[3] आचार्य मम्मट ने अभिधा का लक्षण इस प्रकार किया है :--

"स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते "

मम्मट अभिधा वृत्ति द्वारा बोध्य अर्थ को मुख्यार्थ कहते हैं । जैसे शरीर के सारे अवयवों में मुख सबसे प्रधान है और सबसे पहले दिखाई देता है उसी प्रकार वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ इन तीनों में यह वाच्यार्थ सर्वप्रथम उपस्थित होता है ।[4] इस मुख्यार्थ का बोध कराने वाला व्यापार ही अभिधा कहलाता है । आचार्य हेमचन्द्र ने भी अभिनवगुप्त के समान ही अभिधा की परिभाषा दी है । उनके अनुसार भी समय या संकेत की अपेक्षा से अर्थ का अवगमन कराने वाली मुख्य शक्ति अभिधा कहलाती है ।[5] आचार्य

1- सा च वृत्तिस्त्रिधा - "शक्तिर्लक्षणा व्यन्जना च"

परमलघुमंजूषा - पृ. 13

2- नहि यैवाभिधानशक्तिः सैवावगमन शक्तिः

ध्व., उ. 3, पृ. 458

3- ध्व. लोचन, पृ. 80

4- शब्दव्यापारात् योऽर्थोऽव्यवधानेन गम्यते सोऽर्थो मुख्यः
स हि यथा सर्वेभ्योहस्तादिभ्योऽवयवेभ्यः पूर्वं मुखमवलोक्यते तथा सर्वेभ्यः प्रतीयमानेभ्योऽर्थेभ्यः पूर्वमवगम्यते तस्मात् मुखमिव मुख्यः इति शाखादिभ्यो यः ‡5\3\203‡ इति पाणिनिसूत्रेण य प्रत्यय :--

बालबोधिनी टीका पृ. 39

5- समयापेक्षा वाच्यावगमनशक्तिर्मुख्याऽभिधा चोच्यते ।

काव्यानुशासन - पृ. 41

विश्वनाथ ने शब्द-शक्तियोंके विवेचन के प्रसंग में अभिधा का स्वरूप इस प्रकार बताया है। - " तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमा अभिधा " 1 अर्थात् संकेतित अर्थ का बोध कराने के कारण अभिधा शब्द की प्रथमा ॥अग्रिमा॥ शक्ति है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अभिधा शब्द की वह शक्ति है, जिससे साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध होता है। लक्षणा एवं व्यञ्जना वृत्तियों की अपेक्षा सर्वप्रथम उपस्थित होने के कारण आचार्य विश्वनाथ इसे अग्रिमा कह कर सम्बोधित करते हैं। उदाहरणस्वरूप गो शब्द का सास्नादिमान् अर्थ में संकेतग्रह होने के कारण गो शब्द से संकेतित गो रूप अर्थ का बोध होता है। इसी अर्थ का बोध कराने वाले व्यापार को अभिधा व्यापार या वृत्ति या शक्ति कहा जाता है।

रसगंगाधर में पंडितराज जगन्नाथ ने बताया है कि अभिधा अर्थ का शब्दगत अथवा शब्द का अर्थगत सम्बन्ध विशेष है और उसी को शक्ति कहा जाता है।[2] आचार्य ने अभिधा का तीन वर्गों में विभाजन किया है।[3] परमलघुमंजूषा में नागेशभट्ट ने भी योग, रूढ़ि और योगरूढ़ि शब्दों के रूप में अभिधा का विभाजन किया है। रूढ़ि का लक्षण है- जहां शास्त्रकल्पित अवयवों का अर्थ न हो और समुदायार्थनिरूपित शक्ति हो वहां रूढ़ि शक्ति है। योग का लक्षण है- जहां शास्त्रकल्पित अवयवों का अर्थ हो वहां योग शक्ति है। योगरूढ़ि का लक्षण है-जहां शास्त्रकल्पित अवयवों के अर्थ के साथ विशेष अर्थ निरूपित हो वहां योगरूढ़ि शक्ति है।[4] इसका पं. जगन्नाथ जी ने उल्लेख

1- सा. द. द्वि. परि. पृ. 26

2- शक्त्याख्यो अर्थस्य शब्दगतः शब्दस्यार्थगतो वा सम्बन्ध विशेषो भिधा - रसगंगाधर, द्वि. आनन - पृ. 134।

3- सेयमभिधा त्रिविधा केवलसमुदायशक्तिः केवलावयवशक्तिः समुदायावयवशक्तिसंकरश्चेति - पृ. 137, रसगंगाधर।

4- सा च शक्तिस्त्रिधा, रूढ़िर्योगो योगरूढ़िश्च। शास्त्रकल्पितावयवार्थभानाभावे समुदायार्थनिरूपितशक्ति रूढ़िः यथा मणिनूपरादौ। शास्त्रकल्पितावयवार्थनिरूपिता शक्तिर्योगः यथा पाचकादौ। शास्त्रकल्पितावयवार्थान्वित विशेष्यभूतार्थनिरूपिता शक्तिर्योगरूढ़िः यथा पङ्कजपदे। तत्र पङ्कजनिकर्तृपदमभिति बोधात्। - परमलघुमंजूषा पृ. 30

करते हुये लिखा है कि– "एता एव विधा रूढ़ियोगयोगरूढ़िशब्दैर्व्यपदिश्यन्ते" ।[1]

महान वैयाकरण भर्तृहरि के अनुसार अभिधा बोधस्वरूपा है। जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों में अपने – अपने विषयों के प्रति बोधकता अनादिकाल से सिद्ध है उसी प्रकार शब्दों की भी बोधकता प्राचीनकाल से ही प्रमाणित है ।[2] नागेशभट्ट ने परमलघुमंजूषा में अभिधा को सम्बन्धरूपा प्रतिपादित किया है ।[3] वैयाकरणों के अनुसार अभिधा का विषय उपाधि ही है। उपाधिशक्तिवाद का आधार महाभाष्य में ऋलृक् सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में पतञ्जलि की वह पंक्ति है, जिसमें उन्होंने लिखा है – जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा – शब्द रूप से शब्दों का चार प्रकार का विभाग होता है ।[4] आचार्य मम्मट के अनुसार आनन्त्य और व्यभिचार दोषों के निवारणार्थ व्यक्ति में संकेतग्रह न मानकर व्यक्ति की उपाधियों में संकेत स्वीकार किया जाता है ।[5] मीमांसकों के अनुसार अभिधा का विषय केवल जाति ही है ।[6] उनके अनुसार अविनाभाव–सम्बन्ध के द्वारा जाति से व्यक्ति का आक्षेप हो जाता है ।

न्यायशास्त्र में संकेत को ईश्वरेच्छा माना गया है। सृष्टि के

1– रसगंगाधर– पृ. 138 ।

2– इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा ।
अनादिरर्थैः शब्दानाम् सम्बन्धो योग्यता तथा ।।
वाक्यपदीय – 3 सम्बन्ध – 29

3– तस्मात् पदपदार्थयो : सम्बन्धान्तरमेव शक्तिः ।
प. ल. मं. – पृ. 15

4– चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दा गुणशब्दा : क्रियाशब्दा : यदृच्छाशब्दाश्चतुर्था : । महाभाष्य, पृ. 85

आरम्भ में ईश्वर ने यह इच्छा की कि अमुक् शब्द से अमुक् अर्थ का बोध हो जाये।[1] इसी ईश्वरेच्छा को अभिधा शक्ति नाम से अभिहित किया गया। नैयायिक अभिधा के चार प्रकार मानते हैं। (1) योग (2) रूढ़ि (3) योगरूढ़ि (4) यौगिकरूढ़ि। नैयायिकों के अनुसार न केवल जाति में शक्तिग्रह माना जा सकता है और न केवल व्यक्ति में। इसलिये जाति तथा आकृति विशिष्ट व्यक्ति पद का अर्थ होता है।[2]

बौद्ध दार्शनिकों का अभिधा के संकेत - ग्रहण के विषय में भिन्न मत हैं। उनके अनुसार "अपोह" [3] को शब्द का अर्थ माना गया है। अपोह का अर्थ अतद्व्यावृत्ति या तदभिन्नभिन्नत्व है। इस प्रकार बौद्धों के मत में अपोह में ही संकेतग्रह मानना चाहिये।

लक्षणा-

काव्य मे स्वीकृत तीन शब्द शक्तियों में दूसरी शक्ति लक्षणा है। यह केवल आलंकारिकों के द्वारा ही नहीं अपितु वैयाकरणों, मीमासंकों तथा नैयायिकों के द्वारा भी समादृत की गई है। सर्वप्रथम लक्षणा का ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है। विश्व के प्रथम भाषा-वैज्ञानिक निरुक्तकार यास्क ने ब्राह्मण-ग्रन्थों में भाक्त प्रयोगों का उल्लेख किया है।[4]

प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार मीमांसा - शास्त्र के आदि आचार्य महर्षि जैमिनि है। जैमिनि ने मीमांसा - सूत्रों की रचना की, जिस पर शबरस्वामी का भाष्य आज भी उपलब्ध है। भाष्य करते

1- अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छा सङ्केतः।
न्या. सि. मु. पृ. 547।

2- व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः। -न्यायसू. - 2\2\68

3- अपोहो वा शब्दार्थः कैश्चिदुक्त इति।
का. प्र. - पृ. 51।

4- बहुभाक्तवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति -
निरुक्त, द्वितीय भाग, पृ. 708।

हुये शबरस्वामी ने लक्षणा का सोदाहरण उल्लेख अनेक स्थलों पर किया है ।[1]

शबरस्वामी के पश्चात् सर्वाधिक प्रतिभासम्पन्न आचार्य कुमारिल भट्ट ने तन्त्रवार्तिक में लक्षणा एवं गौणी वृत्ति का न केवल पृथक्- पृथक् विवेचन किया अपितु इसका स्वरूप भी लक्षित किया है। कुमारिलभट्ट के अनुसार अभिधेय से अविनाभूत सम्बद्ध पदार्थ में शब्द की प्रवृत्ति लक्षणा होती है और लक्ष्यमाण गुणों के साथ सम्बद्ध होने के कारण गौणी वृत्ति होती है ।[2]

आचार्य मुकुलभट्ट ने भी लक्षणा का विवेचन अभिधावृत्तिमातृका में किया है । इन्होंने अभिधा के एक भेद के रूप में लक्षणा की परिकल्पना की है । वे अभिधा को दो भागों में विभक्त करते हैं --- §1§ निरन्तरार्थनिष्ठ §2§ सान्तरार्थनिष्ठ । जिस अर्थ की प्रतीति शब्दव्यापार द्वारा होती है वह निरन्तरार्थनिष्ठ या मुख्यार्थ है । जिसकी प्रतीति अर्थ का बोध होने के पश्चात् होती है वह सान्तरार्थनिष्ठ या लक्ष्यमाण अर्थ कहलाता है ।[3]

वेदान्त-दर्शन का विवेचन करने वाले आचार्य शंकराचार्य ने वाक्यवृत्ति में मुख्यार्थ के प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा बाधित हो जाने पर,

---

1- यत्तु उक्तम् " पौर्णमास्यमावास्य शब्दो लक्षणया प्रकृतान् यागाननुवदितुं शक्तो नाञ्जस्येन " - इति ।
नैष दोष : यदा आञ्जस्येनशब्दार्थो नावकल्पते, तदा लक्षणयाऽपि कल्प्यमान : साधुर्भवति, यथा अग्नौ तिष्ठति, अवटे तिष्ठति, अग्निसमीपे अवटसमीपे तिष्ठति - इति भवति संव्यवहार : लक्षणापि हि लौकिक्यैव - इति ।
मीमांसा-शबरभाष्य - पृ. 143

2- अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणोच्यते ।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता ।।
- तन्त्रवार्तिक 1,4,22

3- शब्दव्यापारतो यस्य प्रतीतिस्यतस्य मुख्यता ।
अर्थावसेयस्य पुनर्लक्ष्यमाणत्वमुच्यते ।।
अभिधावृत्तिमातृका - पृ. 4

मुख्यार्थ के द्वारा अविनाभूत अर्थान्तर की प्रतीति को लक्षणा माना है । शंकराचार्य ने स्वरूप-निरूपण के पश्चात् लक्षणा के विविध भेद भी बताये हैं ।[1]

चित्सुखाचार्य ने तत्व-प्रदीपिका के प्रथम् परिच्छेद में लक्षणा का स्वरूप - निरूपण किया है। चित्सुखासचार्य न तो अन्वयानुपपत्ति को न ही वाक्यप्रामाण्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानते हैं ।[2]

प्राचीन वैयाकरणों में सर्वप्रथम पतञ्जलि के महाभाष्य में लक्षणा शक्ति का संकेत " पुंयोगादाख्यायाम् " सूत्र के भाष्य में मिलता है ।[3] यहीं से लक्षणा का विकास प्रारम्भ हुआ । भर्तृमित्र ने महाभाष्यकार के आधार पर पांच प्रकार की लक्षणा का निरूपण किया ।[4]

सुप्रतिष्ठित वैयाकरण भर्तृहरि ने लक्षणा के स्वरूप का विवेचन तो नहीं किया है, किन्तु लक्षणा शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया है ।[5] वाक्यपदीयकार के अनुसार निमित्त मुख्यार्थ होता है

1- मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्यापरिग्रहे ।
मुख्यार्थेनाविनाभूते प्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।।
सा च त्रिविधा । जहल्लणाऽजहल्लक्षणा जहद्जहल्लक्षणा चेति ।
वाक्यवृत्ति पृ. 36

2- तस्मात्पदानां पदार्थस्वरूपमात्रपरत्वे वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिरेव लक्षणाक्षेपिकेति तदेव लक्षणलक्षणायाः सर्वलौकिकवैदिक लक्षणायां व्यापकत्वात् ।
तत्वप्रदीपिका पृ. 262

3- पातञ्जल महाभाष्य, 4\1\48, पृ. 325

4- अभिधेयेन सामीप्यात् सारूप्यात् समवायत : ।
वैपरीत्यात् क्रियायोगात् लक्षणा पञ्चधा मता ।।
ध्व. लोचन टीका पृ. 25

5- लक्षणायां स्तुतिर्येषां काञ्चिदेव क्रियां प्रति
(क) तैर्व्यस्तैश्च समस्तैश्च स धर्म उपलक्ष्यते ।
वाक्यपदीय, 2\380, पृ. 490

और निमित्ती गौण होता है ।[1] इसी को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि जहां शब्द की गति स्खलित होती है वहां गौण और जहां शब्द स्खलद्गति नहीं होता वहां मुख्यार्थ होता है ।

सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित ने प्रौढ़ मनोरमा के कारक-प्रकरण के प्रसंग में शक्ति और लक्षणा नामक दो वृत्तियों का उल्लेख किया है। यह भी लक्षणा के अन्तर्गत गौणी को मानते हैं ।[2] आचार्य नागेशभट्ट ने तो स्पष्ट रूप से लक्षणा को स्वीकार किया है ।[3]

तार्किकों के अनुसार स्वशक्य सम्बन्ध ही लक्षणा है ।[4] यहां स्व का अर्थ है लाक्षणिक पद गङ्गा। उसका शक्य हुआ मुख्यार्थ (प्रवाह) - उसका सम्बन्ध संयोग आदि । इस प्रकार नैयायिकों के मत में लक्षणा शब्द और अर्थ का वह सम्बन्ध है जो शब्द द्वारा निरूपित होता है और शब्द-बोध का प्रयोजक होता है ।

1- स्वार्थे प्रवर्तमानस्य यस्यार्थं योऽवलम्बते ।
निमित्तं तत्र मुख्यं स्याद् निमित्ती गौण उच्यते ।।
वा. प. - 2\267, पृ. 377

2- वृत्तिस्तु शक्तिर्लक्षणा च - - गौणी तु लक्षणान्तर्भूता पृथग्वाऽस्तु।
प्रौढ़ मनोरमा पृ. 240

3- वस्तुतः तात्पर्यानुपपत्तिरेव लक्षणा बीजम् ।
लघु मंजूषा पृ. 94

4- न्यायमते स्वशक्यसम्बन्धः लक्षणा ।
न्यायकोशः पृ. 698

(क) तदर्थस्तु स्वं लाक्षणिकं पदं गङ्गापदम् । तस्य शक्यः प्रवाहः तत्सम्बन्धः संयोगः इति। स च समवायादिर्यथायथं ग्राह्यः स्वशक्यसम्बन्धश्च शब्दनिरूपितोऽर्थनिष्ठः शाब्दबोधप्रयोजकः शब्दार्थयोः सम्बन्धः । - न्यायकोशः

(ख) अत्र अन्वयानुपपत्तिर्लक्षणाबीजम् इति प्राञ्च आहुः- (मु. 4) 39
न्यायकोश

तात्पर्यानुपपत्तिरेव (तात्पर्यनिर्वाहिका) सर्वत्र लक्षणा बीजम् इति नव्याः प्राहुः (भा. प. श्लोक 83)

अन्य प्रस्थानों में लक्षणा का अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर काव्यशास्त्र में लक्षणा का जो स्वरूप है, उसे यहां पर प्रस्तुत किया जा रहा है -

लक्षणा शब्द लक्ष धातु - युच् प्रत्यय - स्त्रियां टाप् करने पर बनता है । [1]

वरिष्ठ ध्वनिवादी आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार - मुख्यार्थ बाधादि सहकारियों की अपेक्षा से अर्थ की प्रतीति कराने वाली शक्ति लक्षणा है - " मुख्यार्थ बाधादिसहकार्यपेक्षा प्रतिभासनशक्तिर्लक्षणा शक्तिः । [2]

अभिनवगुप्त से पहले यदि हम अलंकार-शास्त्र में लक्षणा की स्थिति देखना चाहें तो वहां भी लक्षणा के स्पष्ट संकेत मिलते हैं । उद्भट ने रूपक के प्रसंग में गुणवृत्ति का उल्लेख किया है । [3] आचार्य वामन तो वक्रोक्ति को सादृश्यसम्बन्धरूपा लक्षणा ही मानते हैं । [4]

आचार्य मम्मट ने काव्य-प्रकाश में लक्षणा का निरूपण इस प्रकार किया है -

" मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया " ।[5]

---

1. लक्षणाशब्दश्च लक्षधातोर्युचप्रत्यये स्त्रियांटापि सिद्ध्यति-न्यायकोशः
पृ. 699
2. ध्व. लोचन, प्र. उ. पृ. 90
3. शब्दानामभिधानमभिधा व्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च ।
काव्यालंकारसारसंग्रह - 1 ।11
4. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः ।
- का. सू. वृ. - 4 ।3 ।8
5. काव्य प्रकाश - द्वितीय उल्लास - पृ. 54

अर्थात् जब पद के मुख्यार्थ का वाक्य में अन्य पदों के साथ अन्वय होने में बाधा आती है तब रूढ़िवश अथवा प्रयोजनवश मुख्यार्थ से सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ की प्रतीति होती है । उस अन्य अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं । इस लक्ष्यार्थ की बोधिका को ही लक्षणा शक्ति कहते हैं । यह (शब्द में) आरोपित व्यापार है, क्योंकि मुख्यार्थ ही अपने तात्पर्य के अनुपपन्न हो जाने पर अपने से किसी न किसी सम्बन्ध से सम्बद्ध अर्थ का बोध कराता है किन्तु इस मुख्यार्थ व्यापार को शब्द में इसलिये आरोपित कर दिया जाता है क्योंकि अन्ततोगत्वा बाधित मुख्यार्थ ही लक्ष्यार्थ का उत्पादक होता है । वस्तुतः अभिधा शब्द का मुख्य व्यापार है, उसकी लोक प्रसिद्ध शक्ति है, वह साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराती है किन्तु लक्षणा शब्द का मुख्य व्यापार न होकर शब्द का सान्तरार्थनिष्ठ व्यापार है ।[1] शब्द प्रथम वाच्यार्थ का बोध कराता है और उसके बाद बाधित होकर अन्य अर्थ का बोध कराता है । इस प्रकार शब्द के लोक प्रसिद्ध एवं मुख्य व्यापार की तुलना में लक्ष्यार्थ कल्पित या आरोपित शब्द व्यापार है ।[2]

अभिधा शब्द की स्वाभाविक शक्ति है क्योंकि अभिधा में शब्द और अर्थ का वाच्य-वाचक सम्बन्ध भी स्वाभाविक है । लक्षणा के आरोपित शब्दव्यापार होने के कारण यह अस्वाभाविक है । प्राचीन नैयायिक अभिधा को ईश्वरेच्छा से उद्भावित मानते हैं क्योंकि अभिधानाभिधेय नियम ईश्वरेच्छारूप है किन्तु लक्षणा मनुष्य कल्पित होने के कारण अर्पिता है, अभिधा की भांति सहजा नहीं ।

इसलिये साहित्यदर्पणकार ने भी लक्षणा को अर्पिता शक्ति कह कर सम्बोधित किया है ।[3] इस प्रकार आरोपित व्यापार या अर्पिता

---

1. रूढितः प्रसिद्धेः, तथा गंगातटे घोष इत्यादेः प्रयोगाद् येषां न तथा प्रतिपत्तिः तेषां पावनत्वादीनां धर्माणां तथा प्रतिपादनात्मनः प्रयोजनाच्च मुख्येनामुख्योऽर्थो लक्ष्यते यत् स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा ।
2. शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो-अन्तरम् व्यवधानम् तेन सह वर्तते इति सान्तरः (मुख्यार्थबाधाद्युपस्थित्या) योऽर्थः लक्ष्यरूपः तन्निष्ठः-तद्विषयकः (तद्बोधकः) इत्यर्थः (काव्य प्रकाश झलकीकरकृत टीका पृ. 43)
3 साहित्य दर्पण - 2:1

शक्ति लक्षणा के समुदित होने में §1§ मुख्यार्थ-बाध §2§ मुख्यार्थ -योग §3§ रूढि अथवा प्रयोजन , ये तीनों सम्मिलितरूप से हेतु माने गये हैं। काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट ने "मुख्यार्थबाधादित्रयं हेतुः" कह कर इन हेतुओं का उल्लेख किया है। अब क्रमशः इन तीनों हेतुओं पर विचार अपेक्षित होने के कारण उनका विवेचन किया जा रहा है।

मुख्यार्थ-बाध

मुख्यार्थ- बाध का अर्थ है जहाँ मुख्यार्थ अनुपपन्न हो जावे। इस बिषय में विद्वानों में वैमत्य है। कुछ लोग मुख्यार्थबाध का अर्थ अन्वयानुपपत्ति मानते हैं यथा प्राच्य नैयायिक आदि । किन्तु यह अर्थ करने पर काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम् में लक्षणा नहीं हो सकेगी , क्योंकि यहाँ वाच्यार्थ है- कौओं से दही की रक्षा करना। इस अर्थ में अन्वयानुपपत्ति है ही नहीं फिर भी यहाँ काक शब्द की दध्युपघातक में लक्षणा मानी गयी है, तथा लक्षणा होने पर इस वाक्य का यह तात्पर्य होगा कि कौए, कुत्ते आदि जो दध्युपघातक हैं उनसे दही की रक्षा करना। " काकेभ्यो रक्ष्यताम् सर्पिरिति बालोऽपि चोदितः । उपघातपरे वाक्ये न श्वादिभ्यो न रक्षति। "[1]

इसलिये मुख्यार्थबाध का अर्थ अन्वयानुपपत्ति नहीं अपितु तात्पर्यानुपपत्ति मानना चाहिये ऐसा नागेशभट्ट मानते हैं । उनके अनुसार तात्पर्यानुपपत्ति ही लक्षणा का मूल कारण है।[2] मुख्यार्थ बाध का अर्थ मुख्यार्थाविवक्षा ही है। मुख्यार्थ का बाध तो सम्भव नहीं हैं। अभिधायक शब्द तो अपने अभिधेयार्थ का बोध अवश्य करायेगा भले ही वाक्य के अन्वय करने में उसकी अनुपपत्ति हो जाये। इसीलिये नव्य नैयायिक भी तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज मानते हैं। यद्यपि प्राच्य नैयायिक तो अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानते हैं।

---

1. वाक्यपदीय - 2 । 3 । 4
2. वस्तुतः तात्पर्यानुपपत्तिरेव लक्षणाबीजम् ।

परमलघुमंजूषा - पृ. 94

॥2॥ मुख्यार्थ योग: –

शब्द से जिस अन्य अथवा अमुख्य अर्थ का बोध होता है उसका मुख्यार्थ से कोई न कोई सम्बन्ध होना आवश्यक है ।

अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समावायत: ।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पन्चधा मता ।।

इत्यादि पांच निमित्तों को मुख्यार्थ योग में समाविष्ट कर दिया गया है । इनमें से कोई एक सम्बन्ध मुख्यार्थ से अवश्य होना चाहिये ।

रूढ़ि अथवा प्रयोजन –

कहीं रूढ़ि अर्थात् प्रसिद्धि के कारण शब्द से लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है और कहीं किसी प्रयोजनवश लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग किया जाता है । रूढ़ि अथवा प्रयोजन लक्ष्यार्थ के निर्धारण में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि इसी से लक्ष्यार्थ निश्चित होता है नहीं तो "गड्.गायां घोष:" में घोष शब्द की मेंढक में लक्षणा मान ली जाये ।

इस प्रकार इन तीनों हेतुओ में प्रथम दो हेतु तो सामान्यहै किन्तु अन्तिम हेतु में कहीं रूढ़िवश तथा कहीं प्रयोजनवश लक्षणा होती है । रूढ़ि के कारण होने वाली लक्षणा का उदाहरण है –– " कर्मणि कुशल: " यहां लक्षणा किस प्रकार घटित होती है यह आचार्य मम्मट के अनुसार द्रष्टव्य है ––

कुशलशब्द का मुख्यार्थ है कुश या दर्भ नामक ग्रास को लाने वाला ॥कुशान् दर्भान् लाति ॥ कर्मणि कुशल: प्रयोग में कुशग्राहक रूप अर्थ संगत नहीं होता । इस मुख्यार्थ का बाध हो जाता है । अतएव असंगति का निराकरण करने के लिये यह शब्द दक्ष या चतुररूप लक्ष्यार्थ का प्रतिपादन करता है । कुश के पत्ते तीक्ष्ण होते हैं, वे लाने वाले के हाथ आदि को काट देते हैं । अत: कुशोत्पाटन के लिये विवेकशीलता की आवश्यकता है । वैसी ही विवेकशीलता किसी कार्य को भलीभांति करने के लिये अपेक्षित है । यही साधर्म्य सम्बन्ध है और क्योंकि लोक में कुशल शब्द का दक्ष अर्थ प्रसिद्ध है । अत: कर्मणि कुशल: में कुशल

शब्द की दक्ष अर्थ में लक्षणा हुई है । [1]

प्रयोजन हेतुक लक्षणा का उदाहरण है " गड्.गायां घोषः " । इसका मुख्यार्थ है गड्.गा पर बस्ती है । किन्तु गड्.गा शब्द का मुख्यार्थ है जल-प्रवाह और वह घोष का आधार हो ही नहीं सकता । अतः मुख्यार्थ बाध हो जाता है ।

यहां प्रयोजनवश गड्.गा शब्द की तट में लक्षणा मानी जाती है गड्.गातट के गड्.गा की धारा के समीप होने से गड्.गा के साथ तट का सामीप्य सम्बन्ध है । गड्.गा शब्द से गंगातट का लक्षणा द्वारा बोध कराने में वक्ता का प्रयोजन यह है कि इसमें प्रवाहगत शीलता और पावनता की प्रतीति होती है । यदि गड्.गा तटे घोषः किया जाये तो शैत्यपावनत्वादि की वैसी प्रतीति नहीं होगी क्योंकि गड्.गा से दूर भी गड्.गातट पर घोष हो सकता है और वहां तो गड्.गा के शैत्य पावनत्व का कोई सम्बन्ध ही नहीं है । अतएव इस उदाहरण में गड्.गाशब्द की गड्.गातट अर्थ में लक्षणा मानी गई है ।

लक्षणा के लिये " भक्ति " शब्द का प्रयोग भी मिलता है । आचार्य अभिनवगुप्त ने भक्ति शब्द की निष्पत्ति चार प्रकार से की है -

भज्यते सेव्यते पदार्थेन् प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यते इति भक्तिधर्मोऽभिधेयेन् सामीप्यादिः । तत आगतो भाक्तो लाक्षणिकोऽर्थः । [2]

काव्यशास्त्री लक्षणा के दो भेद करते हैं । (1) शुद्धा, (2) गौणी । किन्तु मीमांसक गौणी को एक स्वतन्त्र वृत्ति के रूप में मानते हैं । [3]

---

1. कर्मणि कुशल इत्यादौ दर्भग्रहणाद्ययोगाद्, ...
   मुख्यार्थस्य बाधे विवेचकत्वादौ .... रूढितः प्रसिद्धेः ।
   का. प्र. पृ. 57
2. ध्व. लोचन, पृ. 31 (भज सेवायाम् । कर्मणि क्तिन्)
3. अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
   लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता ।। तन्त्रवार्तिक-कुमारिलभट्ट

सरस्वतीकंठाभरण में भोजराज ने भी गौणी को एक पृथक् वृत्ति के रूप में माना है । [1] किन्तु अभिनवगुप्त " गुणवृत्तिः गौणलाक्षणिक प्रकार :" मानते हुए काव्यशास्त्रियों की गौणी लक्षणा तथा मीमांसकों की गौणी वृत्ति को समाविष्ट करने के उद्देश्य से भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं : –

" गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्यार्थभागस्तैक्ष्णयादिर्भक्तिः तत आगतो गौणोऽर्थः भाक्तः" अर्थात् गुण समुदाय के बोधक शब्द का तीक्ष्णतादि जो अर्थभाग होता है उसे भक्ति कहते हैं । उससे प्राप्त हुये गौण अर्थ को भाक्त कहते हैं । अभिनवगुप्तकृत तीसरी व्युत्पत्ति लक्षणा के प्रयोजनरूप हेतु के आधार पर की गई है --

" भक्तिः प्रतिपाद्ये सामीप्यतैक्ष्ण्यादौ श्रद्धातिशयः, तां प्रयोजनत्वेनोद्दिश्य तत आगतो भाक्त इति गौणो लाक्षणिकश्च ।" भक्ति की चौथी व्युत्पत्ति मुख्यार्थबाधरूप हेतु के आधार पर है । "मुख्यस्य चार्थस्य भङ्गो भक्तिरित्येवं मुख्यार्थबाधा, निमित्तं, प्रयोजनमिति त्रयसद्भाव उपचारबीजमित्युक्तं भवति ।" [2]

इस प्रकार लक्षणा के तीनों हेतु भक्ति में विद्यमान होने के कारण लक्षणा को भक्ति कहना सर्वथा संगत है ।

जिस प्रकार अभिधा शब्द की शक्ति है उसी प्रकार लक्षणा अर्थ की शक्ति है। गङ्गायां घोषः में मुख्यार्थ ही लक्ष्यार्थ को लक्षित करता है, शब्द नहीं । आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में " गुणवृत्तौ यदार्थोऽर्थान्तरमुपलक्षयति " कह कर लक्षणा को अर्थशक्ति माना है । [3] सर्वदर्शनसंग्रहकार माधवाचार्य ने भी लक्षणा को अर्थशक्ति मानते हुये आनन्दवर्धन का समर्थन किया है । [4]

---

1. शब्दो हि मुख्यागौणीलक्षणाभिरर्थप्रकरणादिसंपादितसाचिव्याद् आभिस्तिसृभिरेव वृत्तिभिरर्थविशेष प्रतिपत्तिनिमित्तं भवति ।
सरस्वती कंठाभरण – पृ. 735
2. ध्व. लोचन पृ. 31 – 32
3. ध्व. तृ. उ. पृ. 465
4. यद्यपि प्रयुक्तः शब्दः प्रथमे मुख्यार्थं प्रतिपादयति तेनार्थेनर्थान्तरं लक्ष्यते इति अर्थधर्मोऽयं लक्षणा तथापि तत्प्रतिपादके शब्दे समारोपितः सन् शब्दव्यापार इति व्यपदिश्यते । एतदेवाभिप्रेत्योक्तं लक्षणारोपिता क्रियेति । सर्वदर्शनसंग्रह पृ 374 पं. 435

लक्षणा का स्वरूप सिद्ध हो जाने पर लक्षणा के भेदोपभेदों पर विचार अपेक्षित प्रतीत होता है । मुकुलभट्ट, मम्मट, विश्वनाथ्, जगन्नाथ आदि आचार्यों ने लक्षणा के भेद किये हैं किन्तु काव्य-प्रकाश में निहित आचार्य मम्मट का विभाजन सरल, सुबोध एवं व्यवहारिक दृष्टि से उपयोगी है । अतः उन्हीं के आधार पर लक्षणा के भेद प्रस्तुत किये जा रहे हैं ।

मम्मट के अनुसार लक्षणा दो प्रकार की होती है । (1) शुद्धा, (2) गौणी । सादृश्य सम्बन्ध पर आधारित लक्षणा गौणी कहलाती है जबकि सादृश्येतर सम्बन्ध पर आधारित लक्षणा उपचाररहित होने के कारण शुद्धा कहलाती है । उपचार का अर्थ है अत्यन्त भिन्न दो पदार्थों का सादृश्यातिशय के कारण भेदस्थगन । [1] कुन्ताः प्रविशन्ति एवं गङ्गायां घोषः शुद्धा के उदाहरण है । जबकि गौर्वाहीकः गौणी का क्योंकि प्रथम दोनों उदाहरणों में सादृश्य सम्बन्ध नहीं है जब कि गौर्वाहीकः में सादृश्य सम्बन्ध है ।

इसके बाद वे उपादान और लक्षण रूप से शुद्धा लक्षणा के दो भेद करते हैं । [2] उनके अनुसार जहां शब्द अपने अन्वय की सिद्धि के लिये (अन्य) अमुख्य अर्थ का आक्षेप कर लेता है और अपने अर्थ का भी त्याग नहीं करता है । वहां पदार्थ के उपादान के कारण उपादान लक्षणा होती है । [3]

जैसे कुन्ताः प्रविशन्ति में " कुन्त " भाला रूप अचेतन अर्थ का वाचक है । उसमें प्रवेश क्रिया का अन्वय नहीं बन सकता । अतः अपने अन्वय की सिद्धि के लिये " पुरुष " अर्थ का आक्षेप कर "कुन्तधारी पुरुष " का बोधक हो जाता है । अतएव यहां उपादान लक्षणा हुई । यह उपादान लक्षणा ही वैयाकरणों की अजहत्स्वार्था वृत्ति या अजहल्लक्षणा है । इसके विपरीत जहां कोई शब्द वाक्य में प्रयुक्त दूसरे शब्द के साथ

---

1. (क) सादृश्यात् सम्बन्धेन, प्रवृत्तिरुपचार :

- झलकीकर

(ख) अत्यन्तं विशकलितयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना
भेदप्रतीतिस्थगनमुपचारः - काव्य प्रकाश दर्पण - विश्वनाथ

2. स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम् ।
उपादानं लक्षणं चेत्युकता शुद्धैव सा [illegible] हि. उ. पृ. 58

3. स्वार्थापरित्यागेन परार्थलक्षणमुपादान[illegible] - प्रद[illegible]

अपने अन्वय की सिद्धि के लिये अपने अर्थ का परित्याग कर अन्य अर्थ का बोधक बनता है वहां लक्षणलक्षणा होती है। [1] गङ्.गायां घोषः में गङ्.गा शब्द अपने जलप्रवाह रूप अर्थ का परित्याग कर सामीप्य सम्बन्ध से सम्बद्ध तट रूप अन्य अर्थ का बोध कराता है । अतएव यह लक्षणलक्षणा का उदाहरण है ।

शुद्ध लक्षणा में दो भेद करने के पश्चात् शुद्धा, गौणी के सारोपा, साध्यवसाना नामक दो-दो भेद किये हैं ।

जिस लक्षणा में विषयी ﴾ आरोप्यमाण गो आदि ﴿ तथा विषय ﴾वाहीक ﴿ दोनों अपने-अपने रूप में कहे जाते हैं अर्थात् - जहां दोनों का भेद छिपाया नहीं जाता है । अपितु इन दोनों का समानाधिकरण रूप में निर्देश किया जाता है वहां सारोपा लक्षणा होती है जैसे गौर्वाहीकः । प्रस्तुत उदाहरण गौणी सरोपा लक्षणा का है क्योंकि यहां विषयीं और विषय में जाड्य रूप सादृश्य सम्बन्ध है और आरोप का विषय तथा विषयी दोनों शब्दतः उपात्त हैं । जब विषयी गौ इत्यादि के द्वारा आरोप के विषय वाहीक आदि का निगरण कर लिया जाता है वहां साध्यपसाना होती है जैसे गौरयम् ।यहां पर भी गौणी साध्यवसाना का उदाहरण है। क्योंकि दोनों में सादृश्य सम्बन्ध हैं और विषयी गौ ने विषय वाहीक का निगरण भी किया है । उक्त उदाहरण तो गौणी लक्षणा के हुए, इसी प्रकार शुद्धा सारोपा लक्षणा का उदाहरण आयुर्घृतम् है । यहां पर दोनों में सादृश्य सम्बन्ध नहीं है और दोनों भिन्न भिन्न विषय, विषयी अपने अपने रूप में कह दिये गये हैं । यहां पर सादृश्य सम्बन्ध न होकर कार्यकारणभाव सम्बन्ध है । शुद्धा साध्यवसाना का उदाहरण आयुरेवेदम् होगा । यहां पर विषयी ने विषय का निगरण भी किया है और सादृश्येतर सम्बन्ध भी है ।

इस प्रकार मम्मट के अनुसार लक्षणा छः प्रकार की है ।

---

1. स्वार्थपरित्यागेन परार्थोपस्थापनं लक्षणम्

— प्रदीपकार

मम्मट के अनुसार लक्षणा भेद

- लक्षणा
  - शुद्धा
    - उपादान
    - लक्षण
    - सारोपा
    - साध्यवसाना
  - गौणी
    - सारोपा
    - साध्यवसाना

पं. जगन्नाथ के अनुसार लक्षणा भेद

- लक्षणा
  - निरूढा
  - प्रयोजनवती
    - गौणी
      - सारोपा
      - साध्यवसाना
    - शुद्धा
      - जहत्स्वार्था (लक्षण)
        - सारोपा
        - साध्यवसाना
      - अजहत्स्वार्था (उपादान)
      - सारोपा
      - साध्यवसाना
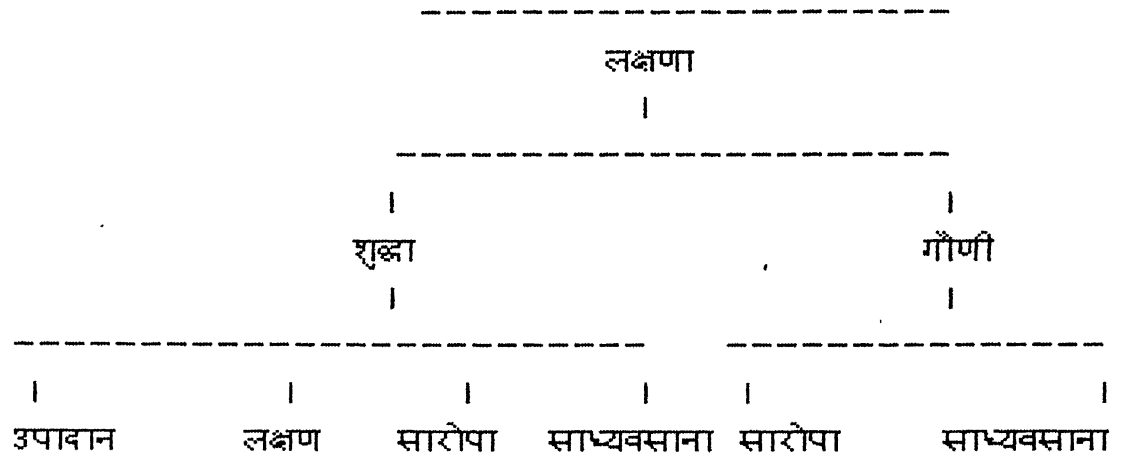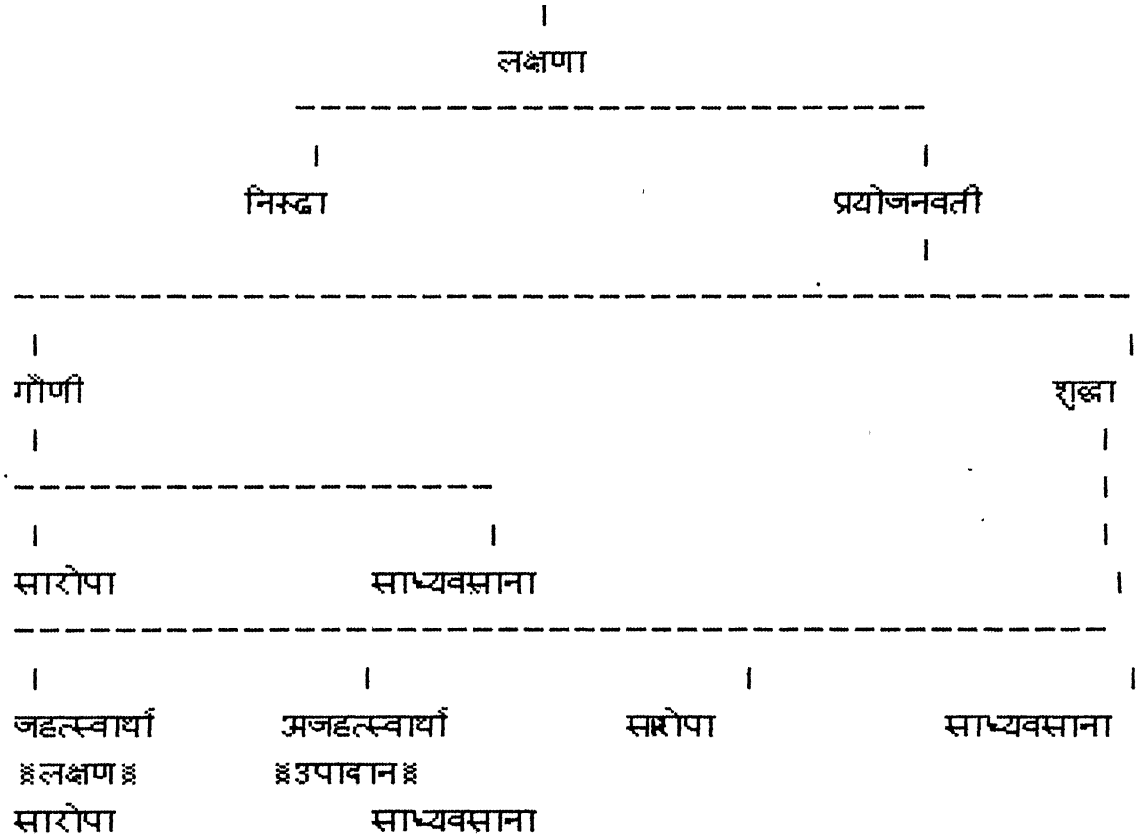
व्यञ्जना

साहित्यशास्त्रियों द्वारा स्वीकृत शब्दव्यापारों में व्यञ्जना व्यापार सर्वोत्कृष्ट है । वि उपसर्ग पूर्वक अञ्ज् धातु - णिच् प्रत्यय - युच् प्रत्यय तथा स्त्रियां टाप् करने पर व्यञ्जना शब्द की निष्पत्ति होती है । [1] अञ्ज् धातु का अर्थ है प्रकाशित होना, वि उपसर्ग विशेष का द्योतक है अतः व्यञ्जना शब्द का अर्थ हुआ " वह व्यापार जिसके द्वारा विशेष रूप से प्रकाशित हो । " काव्य के अन्तर्गत इसी व्युत्पत्ति को ध्यान में रख कर व्यञ्जना व्यापार व्यवहृत होता है । व्यञ्जना रमणीय एवं सहृदयश्लाघ्य प्रतीयमानार्थ का प्रकाशन करती है । इसीलिये काव्य के अन्तर्गत इसका महत्व सर्वातिशायी है ।

व्यञ्जना वृत्ति की स्थापना का श्रेय श्री आनन्दवर्धनाचार्य को है। ध्वनि-सम्प्रदाय के वरिष्ठ संस्थापक आचार्य आनन्दवर्धन ने इस वृत्ति की स्थापना शब्द की तुरीया वृत्ति के रूप में की है । आनन्दवर्धन ने काव्य के आत्मतत्व के रूप में ध्वनि का प्रतिपादन किया । [2] यहां पर यह तथ्य उल्लेखनीय है कि यद्यपि आनन्दवर्धन ध्वनिलक्षणकारिका में ध्वनि शब्द का प्रयोग एक मात्र काव्य विशेष के अर्थ में ही करते हैं तथापि इसके पूर्व अर्थात् प्रथम उद्योत की प्रथम से बारहवीं कारिका पर्यन्त जहां भी उन्होंने ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है सर्वत्र व्यङ्ग्यार्थ के अर्थ में किया है । [3]

प्रश्न यह उठता है कि काव्य के आत्मतत्वभूत इस ध्वनि का आशय आचार्य की दृष्टि में क्या है । ध्वनिलक्षणकारिका में ध्वनि को परिभाषित करते हुये वे स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित करते हैं कि ध्वनि से आशय उस काव्य - विषेष से है जहां अर्थ स्वयं को और शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस (उस प्रसिद्ध, अभी तक व्याख्यात (

---

1. व्यञ्जतेऽर्थोऽनया इति व्यञ्जना वि - अञ्ज् - णिच् - ण्यासश्रन्थोयुच् - 3 ।3 ।107
   अन्जू (व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु (
2. काव्यस्यात्मा ध्वनिः - 1 ।1
3. योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः
   - ध्व. - 1 । 2

सहृदयश्लाघ्य अर्थ को व्यक्त करता है । [1] उक्त कारिका की व्याख्या करते हुये लोचनकार अभिनवगुप्त ध्वनि शब्द की पांच प्रकार से व्युत्पत्ति करते हुये व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ, व्यञ्जनाव्यापार, व्यङ्ग्यार्थ तथा काव्यविशेष ये पांच अर्थ करते हैं और स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि आचार्य आनन्दवर्धन को ध्वनिशब्द से यहाँ ﴾ इस कारिका में ﴿ काव्य विशेष रूप अर्थ ही अभिप्रेत है । [2] तथापि प्रथम से बारहवीं कारिका पर्यन्त आनन्दवर्धन ने काव्य की आत्मा के रूप में जिस ध्वनि की प्रतिष्ठा की है उस ध्वनि का अर्थ व्यङ्ग्यार्थ है । प्रथम कारिका में वे ध्वनि का उल्लेख काव्य की आत्मा के रूप में करते हैं [3] द्वितीय कारिका में काव्य की आत्मा को सहृदयश्लाघ्य अर्थ ﴾ व्यङ्ग्यार्थ ﴿ बताते हैं । [4] चतुर्थ कारिका में इस व्यङ्ग्यार्थ के लिये प्रतीयमान शब्द का प्रयोग करते हुये उसे वाच्यादि अर्थों से सर्वथा पृथक् सिद्ध करते हैं । [5] पांचवी कारिका में पुनः रस रूप व्यङ्ग्यार्थ को काव्य की आत्मा अधिक जोरदार शब्दों में प्रतिपादित करते हैं । [6] इस प्रकार प्रथम उद्योत की बारहवीं कारिका तक वे लगभग निरन्तर व्यङ्ग्यार्थ की चर्चा करते हैं और प्रायः काव्य की आत्मा के रूप में उसका उल्लेख करते रहे हैं । अतः ध्वनि का अर्थ हुआ व्यङ्ग्यार्थ । वास्तव में यही वह अर्थ है –

---

1. यत्रार्थः शब्दो व तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थौ ।
   व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ।।
   –ध्व. प्र. उ. 13वीं कारिका
2. कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति ।
   – ध्व. लो. प्र. उ.–पृ. 105
3. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः यः समाम्नातपूर्वः ।
   ध्व.
4. योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः ।
   वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ।।
   ध्व.
5. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
   यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ।।
   ध्व.
6. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
   क्रौन्चद्वन्द्व वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ।।
   ध्व.

जिसके द्वारा काव्य में अलौकिक चमत्कार की सृष्टि होती है, किन्तु यह अर्थ वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न है । प्रश्न यह उठता है कि इस अर्थ का ग्रहण शब्द की किस वृत्ति के द्वारा माना जाये । अभिधा वृत्ति तो वाच्यार्थमात्र देकर विरत हो जाती है तात्पर्या वृत्ति का पर्यवसान अन्वयमात्र में होता है । शब्द की लक्षणा वृत्ति लक्ष्यार्थ मात्र देकर समाप्त हो जाती है । अतः वाच्यार्थ, तात्पर्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न इस व्यङ्‌ग्यार्थ का बोध कराने के लिये उन्होंने शब्द की एक तुरीया वृत्ति की कल्पना की और उसको व्यञ्जना नाम दिया ।[1]

आनन्दवर्धन ने कहीं स्पष्ट रूप से व्यञ्जना की परिभाषा नहीं दी है । किन्तु व्यङ्‌ग्यार्थ की सत्ता के आधार पर व्यञ्जना की सत्ता सिद्ध की जा सकती है क्योंकि व्यञ्जना की सिद्धि व्यङ्‌ग्य के आधीन है और व्यङ्‌ग्य की सिद्धि व्यञ्जना के आधीन है ।[2] वक्ता कभी अपने स्पष्ट शब्दों के द्वारा ही वाच्यार्थ का बोध कराना चाहता है और कभी किसी प्रयोजन से उसको अनभिधेय ही रखना चाहता है । उस अनभिधेय अर्थ (व्यङ्‌ग्यार्थ) का द्योतन जिस व्यापार से होता है वही व्यञ्जना व्यापार है ।[3]

आचार्य अभिनवगुप्त ने भी आनन्दवर्धन की ही सरणि पर व्यञ्जना व्यापार को अभिधा, तात्पर्या और लक्षणा से पृथक बताया है ।[4] अभिनवगुप्त के अनुसार व्यञ्जना एक ऐसा विलक्षण व्यापार है

---

1. सर्वथा प्रसिद्धं शाब्दप्रकारविलक्षणत्वं शब्दव्यापारविषयत्वं च तस्यास्ति ।
ध्व. तृ. उ. पृ. 485
2. व्यञ्जकसिद्धयधीनं व्यङ्‌ग्यत्वम् व्यङ्‌ग्यापेक्षया च व्यञ्जकत्वसिद्धिः ।
ध्व. तृ. उ. पृ. 455
3. प्रयोक्ता हि कदाचित् स्वशब्देन अर्थं प्रकाशयितुं समीहते कदाचित्स्व-शब्दानभिधेयत्वेन प्रयोजनापेक्षया कयाचित् ।
ध्व. तृ. उ. पृ. 486-487
4. तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसो व्यापारो ध्वननद्योतन व्यञ्जन प्रत्यायनावगमनादि सोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः ।
ध्व. प्र. उ. पृ. 60

जो उपर्युक्त तीनों वृत्तियों को न्यग्भूत करके स्वयं प्रधान हो जाता है । अभिनवगुप्त ने तो इसे काव्य की आत्मा भी कह दिया है । इस प्रकार अभिनवगुप्त के मत में व्यञ्जना व्यापार सर्वोपरि है ।[1]

आचार्य मम्मट ध्वनिमार्गानुयायी हैं । मम्मट ने काव्य - प्रकाश में व्यञ्जना वृत्ति का विशद विवेचन किया है । मम्मट ने लक्षणा के प्रसंग में प्रयोजन-प्रतीति के लिये अनिवार्य लक्षणामूला व्यञ्जना की परिभाषा दी है ।[2] आचार्य मम्मट के अनुसार जिस प्रयोजन की प्रतीति कराने के लिये लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाता है, उस प्रयोजन की प्रतीति कराने में भी व्यञ्जना के अतिरिक्त अन्य कोई व्यापार समर्थ नहीं है । आचार्य मम्मट ने भी अभिनवगुप्त के समान व्यञ्जना को अभिधा, लक्षणादि वृत्तियों से पृथक् एवं इसके ध्वनन-द्योतन आदि पर्याय बताये हैं ।[3]

आचार्य रुय्यक ने अलंकार सर्वस्व में ध्वनिकार के मत को निर्विवाद स्वीकार करते हुये कहा है कि - " अस्ति तावद् व्यङ्ग्यनिष्ठो व्यञ्जनाव्यापारः " । रुय्यक ने आनन्दवर्धन के द्वारा संस्थापित सिद्धान्त का अपने ग्रन्थ के आरम्भ में उल्लेख किया है एवं व्यञ्जना व्यापार की स्थिति सर्वथा असंदिग्ध बताई है ।[4]

---

1. तच्छक्तित्रयोपजनितार्थावगममूलजाततत्प्रतिभासपवित्रितप्रतिपत्तृ - प्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वनन व्यापारः स च प्रागवृत्तं व्यापारत्रयं न्यक्कुर्वन् प्रधानभूतः काव्यात्मेति । ध्व. लो. प्र. उ. पृ. 61
2. यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ।
   फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ।।
   का. प्र. द्वि. उ. पृ.81
3. तटादौ ये विशेषाः पावनत्वादयस्ते चाभिधा-तात्पर्य-लक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेण गम्याः । तच्च व्यञ्जनध्वननद्योतनादिशब्दवाच्यमवश्यमेषितव्यम् ।
   का. प्र. द्वि. उ. पृ. 86
4. ध्वनिकारः पुनरभिधातात्पर्यलक्षणाख्यव्यापारत्रयोत्तीर्णस्य ध्वननद्योतना-दिशब्दाभिधेयस्य व्यञ्जनव्यापारस्यावश्याभ्युपगन्तव्यत्वाद् व्यापारस्य च वाक्यार्थत्वाभावाद् वाक्यार्थस्यैव व्यङ्ग्यरूपस्य गुणालंकारोपस्कर्तव्यत्वेन प्राधान्याद् विश्रान्तिधामत्वादात्मत्वं सिद्धान्तितवान् । .... अस्ति तावद् व्यङ्ग्यनिष्ठो व्यञ्जना व्यापारः ।
   अ. स. पृ. 8-11

आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में व्यञ्जना व्यापार की सत्ता को असंदिग्ध बताया है । हेमचन्द्र ने अभिनवगुप्त का अनुसरण करते हुये व्यञ्जना व्यापार का लक्षण किया है [1] अतएव यह भी व्यञ्जना समर्थक आचार्य की कोटि में ही आते हैं ।

निष्णात विद्वान् एवं अद्वितीय साहित्यशास्त्री जयदेव ने भी चन्द्रालोक में शब्दवृत्तियों का विवेचन करते हुये व्यञ्जना का निरूपण किया है । [2] जयदेव के अनुसार जिस प्रकार तीन ﴾गम्भीर, कुटिल और सरल ﴿ प्रवाहों से युक्त गङ्गा शोभित होती है उसी प्रकार वृत्ति के तीन भेदों से युक्त होकर वाणी कहीं गम्भीर कहीं कुटिल और कहीं सरल होती हुई शोभित होती है । इन विशेषणों में गम्भीर पद व्यञ्जना के लिये आया है और कुटिल पद लक्षणा के लिये तथा सरल पद अभिधा के लिये । व्यञ्जना के लिये प्रयुक्त विशेषण "गम्भीर" सार्थक प्रतीत होता है क्योंकि वास्तव में व्यङ्ग्यार्थ स्पष्टतया भासित नहीं होता, और जिस प्रकार गम्भीर व्यक्ति के मनोगत भावों को जानना कठिन होता है उसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान भी सर्वसामान्य को नहीं होता अपितु सहृदयों को ही होता है ।

जयदेव ने व्यञ्जना – व्यापार की उपमा चंचल नेत्रों वाली सुन्दरी से दी है – जिस प्रकार पुरुषों की ओर भावपूर्ण दृष्टि से देखने वाली चंचलाक्षी नायिका के अवलोकन में नेत्रों की बाह्य – क्रिया के अतिरिक्त एक दूसरा भी आन्तरिक भाव छिपा रहता है उसी प्रकार शब्द के स्पष्टार्थ के अतिरिक्त उसके अर्थ में दूसरा भी अर्थ छिपा रहता है, जिसे व्यङ्ग्यार्थ कहते हैं, जो व्यञ्जना वृत्ति द्वारा प्रकट होता है ।

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने " व्यापार " के स्थान पर "शक्ति " शब्द का प्रयोग करते हुये व्यञ्जना व्यापार को शब्द

---

1. ﴾क﴿ तच्छक्त्युपजनितार्थावगमपवित्रितप्रतिपत्तृप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्ति – र्व्यञ्जकत्वम् । काव्यानुशासन पृ. 41
   ﴾ख﴿ इत्यभिधातात्पर्यलक्षणात्मकव्यापारत्रयातिवर्ती व्यञ्जनव्यापारो – ऽनपह्नवीयः । काव्यानुशासन पृ. 35
2. वृत्तिभेदैस्त्रिभिर्युक्ता स्त्रोतोभिरिव जान्हवी ।
   भारती भाति गम्भीरा कुटिला सरला क्वचित् ।।
   चन्द्रालोक, सप्तम मयूखः

शक्ति कहा है। [1] आचार्य विश्वनाथ का लक्षण सुस्पष्ट एवं समीचीन है। विश्वनाथ के अनुसार अभिधादि वृत्तियों के समाप्त हो जाने पर जिस वृत्ति के द्वारा अन्य अर्थ ﴾ प्रतीयमानार्थ ﴿ बोधित होता है वह शब्द तथा अर्थ में रहने वाली व्यञ्जना नाम की वृत्ति है । " शब्द-बुद्धि कर्मणां विरम्य व्यापाराभावः " इस न्याय से जब अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या वृत्तियां क्षीण हो जाती हैं तब शब्दनिष्ठ, अर्थनिष्ठ, प्रकृतिनिष्ठ, प्रत्ययनिष्ठ, उपसर्गादिनिष्ठ शक्ति व्यञ्जना उदित होकर अतीव रमणीय व्यङ्ग्यार्थ को प्रकाशित करती है । [2] व्यञ्जना का कार्य-क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है । वह अभिधा और लक्षणा के साथ भी रहती है तथा इसका स्वतन्त्र क्षेत्र भी है। तीनों प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ ﴾ वस्तु, अलंकार तथा रसरूप﴿ की ज्ञापिका केवल यही व्यञ्जना है ।

अप्पय्य दीक्षित ने मम्मट की सरणि पर काव्य का वर्गीकरण किया है । वे ध्वनिवादियों का अनुसरण करते हैं । उनकी अपनी निजी मान्यतायें नहीं हैं । उन्होंने व्यञ्जना की परिभाषा अपने ग्रन्थ में नहीं की है किन्तु उसकी गणना अवश्य की है । [3]

आशाधरभट्ट ने इन वृत्तियों को गङ्गा, यमुना, सरस्वती की संज्ञा देकर वाणी को त्रिवेणी कहा है । आशाधरभट्ट की व्यञ्जना के

---

1. वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः ।
   व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ताः स्युस्तिस्त्रः शब्दस्यशक्तयः ।।
   सा. द., द्वि. परि. पृ. 27

2. ﴾क﴿ विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यते परः ।
   सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ।।
   सा. द., पृ. 39

   ﴾ख﴿ "शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः " इति नयेनाभिधालक्षणा-तात्पर्याख्यासु तिसृषु वृत्तिषु स्वं स्वमर्थं बोधयित्वोपक्षीणासु ययाऽन्योऽर्थो बोध्यते सा शब्दस्यार्थस्य प्रकृतिप्रत्ययादेश्च शक्तिर्व्यञ्जनध्वननगमनप्रत्यायनादिव्यपदेशविषया व्यञ्जना नाम ।
   सा. द. पृ. 40

3. वृत्तयः काव्यसरण्यलंकारप्रबन्धृभिः ।
   अभिधा लक्षणाव्यक्तिरिति तिस्त्रो निरूपिताः ।।
   -वृत्तिवार्तिक पृ. 1

लिये दी गई सरस्वती की उपमा अत्यन्त सुन्दर है । गङ्.गा, यमुना के भीतर जिस प्रकार सरस्वती स्थित रहते हुये भी सर्वसामान्य को नहीं दिखाई पड़ती उसी प्रकार व्यञ्जना भी सहृदयजनों के द्वारा ही जानी जाती है । साधारण व्याकरण में निपुण व नीरस मीमांसकों के द्वारा नहीं । [1]

वैयाकरण आचार्य नागेशभट्ट ने परमलघुमंजूषा में भी व्यञ्जना का निरूपण किया है । उनके अनुसार मुख्यार्थ बाध की अपेक्षा के बिना ही अर्थ-बोध कराने वाला, प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध अर्थ का विषय बनने वाला वक्ता आदि की विशेषता के ज्ञान तथा प्रतिभा से उद्बुद्ध संस्कारविशेष ही व्यञ्जना है । [2] आचार्य नागेश भट्ट की परिभाषा बड़ी ही तर्कयुक्त है । इससे तार्किकों का मत जो कि लक्षणा में व्यञ्जना को अन्तर्निहित मानते हैं, स्वतः ही खण्डित हो जाता है, क्योंकि लक्षणा के हेतुओं में से मुख्यार्थ - बाध और मुख्यार्थ - सम्बन्ध इन दोनों के न होने पर भी व्यञ्जना को स्वीकार किया गया है ।

पाश्चात्य आचार्यों ने भी व्यङ्.ग्यार्थ की सत्ता स्वीकार करते हुए व्यञ्जना व्यापार को स्वीकार किया है । - लेडी बेल्वी ने कहा है

" The one crucial question in all expression is its special poetry, ffirst of sense, that in which it is used, then of meaning as the intention of the user and most for reaching and momentous of all, implication of ultimate significance."

- Significs and Language

---

1. शक्तिं भजन्ति सरला लक्षणां चतुरा जनाः ।
   व्यञ्जनां नर्ममर्मज्ञाः कवयः कमना जनाः ।।

त्रिवेणिका

2. मुख्यार्थ बाधनिरपेक्षबोधजनको मुख्यार्थसम्बन्धासम्बन्धसाधारणः प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थविषयको वक्तादिवैशिष्ट्यज्ञानप्रतिभाद्युद्बुद्ध संस्कारविशेषो व्यञ्जना ।

नागेशभट्ट - परमलघुमंजूष पृ. 53

" But the suggèstion of it in much poetry, not all, and poetry has in this suggestion, this meaning a great of its value .... It is a spirit."

- Oxford Lectures of Poetry.

इस प्रकार उपुर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि व्यञ्जना एक स्वतन्त्र, विलक्षण व्यापार है जो कि व्यङ्ग्यार्थावबोध के लिये अपरिहार्य है एवं उसके बिना किसी भी व्यापार से उसका प्रत्यायन नहीं हो सकता । अतएव व्यञ्जना अवश्य स्वीकरणीय है ।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि आचार्य अभिनवगुप्त ने ध्वनि की पांच प्रकार की व्युत्पत्तियां बताई हैं :-

1. ध्वनति यः सः ‡ व्यञ्जकः शब्दः ‡ ध्वनिः
2. ध्वनति ध्वनयति वा यः सः ‡ व्यञ्जकोऽर्थः ‡ ध्वनिः
3. ध्वन्यते अनेन इति ‡ व्यञ्जना व्यापारः ‡ ध्वनिः
4. ध्वन्यते इति ध्वनिः ‡ व्यङ्ग्यार्थः ‡
5. ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः ‡ काव्य-विशेषः ‡

इस प्रकार व्यञ्जना व्यापार का ध्वनि भी पर्याय है क्योंकि कुछ काव्यशास्त्रियों ने ध्वनि शब्द का प्रयोग व्यञ्जना व्यापार के लिये किया है यद्यपि आनन्दवर्धन सदैव व्यञ्जकत्वम्, "व्यञ्जकत्वलक्षणो व्यापारः" आदि पद व्यञ्जना के लिये प्रयोग करते हैं । वे कभी ध्वनि का प्रयोग नहीं करते ।

हृदयदर्पणकार भट्टनायक ने व्यञ्जना - खण्डन के प्रसंग में "ध्वनिर्नामापरो योऽयं व्यापारो व्यञ्जनात्मकः" कह कर ध्वनि को व्यञ्जना व्यापारवाची माना है । [1]

अग्निपुराणकार ने यद्यपि ध्वनि को आक्षेप माना है किन्तु स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते यतः में " ध्वनिना " का अर्थ व्यञ्जना व्यापार माना जा सकता है । [2]

सरस्वतीकंठाभरण के टीकाकार रत्नेश्वर ने भी " ध्वननं ध्वनिः व्यञ्जनात्मा व्यापारः " कह कर व्यञ्जना व्यापार को ध्वनि नाम से अलंकृत किया है । [1]

निष्कर्षतः यह सिद्ध होता है कि व्यञ्जना व्यापार ही ध्वनिसिद्धान्त का मूल तत्व है और पूरा ध्वनि सिद्धान्त उस पर ही आधारित है ।

---

1. स. कं. 1 ।73 की व्याख्या

व्यञ्जना वृत्तिकी अपरिहार्यता

जिस प्रकार अभिधेयार्थ का बोध कराने वाली अभिधा शक्ति, लक्ष्यार्थ का बोध कराने वाली लक्षणा शक्ति स्वीकार की गई है, उसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ का बोध कराने वाली व्यञ्जनावृत्ति साहित्य-शास्त्रियों के द्वारा स्वीकार की गई है । आनन्दवर्धन के ध्वनि- सिद्धान्त का मूल आधार व्यञ्जना है । ध्वनि-काव्य की विशेषता है व्यञ्जना व्यापार । इससे लभ्य व्यङ्ग्यार्थ ही काव्य का परमार्थ है । यह व्यङ्ग्यार्थ वस्तु, अलंकार और रस आदि भेदों से त्रिविध होता है । यह व्यङ्ग्यार्थ इन सभी रूपों में वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न होता है ।[1] अतएव व्यञ्जना ही एक मात्र व्यापार है जिससे इसकी प्रतीति मानी जा सकती है ।

आचार्य अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक में बड़े ही विस्तार से इस विषय का प्रतिपादन किया है । सर्वप्रथम वस्तु रूप व्यङ्ग्यार्थ को लीजिये --

भ्रम धार्मिक विस्त्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदावरीनदीकूललतागहनवासिना दृप्तसिंहेन ।।

यह हाल की एक प्राकृत गाथा है । इसमें कोई नायिका अपने प्रियतम के साथ गोदावरी के तट पर कुंजों में नित्य रमण करती थी । वहां पर कोई धार्मिक भक्त नित्य पुष्पादि के लिये आता था जो कि उन दोनों की प्रेम-लीलाओं में विघ्नकारक था किन्तु वह धार्मिक कुंजों के समीप ही रहने वाले कुत्ते से भयभीत रहा करता था । अतः नायिका ने ऐसी द्वयर्थक बात कही जिससे धार्मिक घूमने न आये और उन दोनों की प्रेम-लीलायें निर्विघ्न सम्पन्न होवें । प्रस्तुत श्लोक में वाच्यार्थ है - हे धार्मिक । अब तुम विश्वस्त होकर भ्रमण करो, गोदावरीनदी के तट पर स्थित सघन कुंजों में निवास करने वाले उस उद्धत सिंह ने आज उस कुत्ते को मार डाला । किन्तु प्रतीयमानार्थ है - " अभी तक तो वहां कुत्ते का ही भय था अब तो वहां सिंह भी आ गया है, अतएव तुम भूलकर

---

1. स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रमलंकाररसादयश्चेत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते । सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु वाच्यादन्यत्वम् ।

ध्व. पृ. 51

भी मत जाना, अन्यथा तुम्हें सिंह मार डालेगा । इस प्रकार भ्रम का वाच्यार्थ विधिपरक है और पर्यवसायी अर्थ या व्यङ्ग्यार्थ निषेधपरक है ।

यहां पर यह विचारणीय है कि ये दो सर्वथा विपरीत अर्थ किस प्रकार निकलते हैं । यहां पर भ्रम में लोट लकार विधि रूप अर्थ का सूचक है । लोट (1) प्रवर्तना (2) अतिसर्ग (3) प्राप्तकाल इन तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है । पुंश्चली नायिका धार्मिक को आज्ञा नहीं दे रही है अतएव प्रवर्तना रूप नहीं है अपितु स्वयं भ्रमण कर रहा है अतएव उसका भ्रमण स्वतः सिद्ध है । चूंकि नायिका धार्मिक के भ्रमण में बाधक कुत्ते के भय का निषेध करते हुये भ्रमण का विधान करती है । अतएव विधि निषेधाभावरूप है। इस प्रकार "प्रैषातिसर्ग प्राप्तकालेषु कृत्याश्च"[1] इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार अतिसर्ग और प्राप्तकाल में लोट हुआ है अब दोनों अर्थ (वाच्यार्थ, व्यङ्ग्यार्थ) परस्पर विरोधी होने के कारण एक साथ वाच्य नहीं हो सकते । विधि के बाद निषेधपरक अर्थ अभिधा शक्ति के द्वारा बोध्य नहीं है क्योंकि " विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे " न्याय के अनुसार अभिधा शक्ति विशेषण में क्षीण हो जाने पर विशेष्य तक का बोध नहीं करा सकती । इस प्रकार विरत अभिधा एक बार विरत होने पर फिर से प्रवृत्त नहीं हो सकती,[2] इससे यह सिद्ध हुआ कि निषेध रूप अर्थ-बोध के लिये किसी अन्य वृत्ति की कल्पना करनी पड़ेगी ।

इस निषेधरूप अर्थ का बोध तात्पर्य वृत्ति से भी नहीं मान सकते, क्योंकि पदार्थमात्र का बोध कराकर अभिधा के विरत हो जाने पर

---

1. 3 - 3 - 163 पाणिनि

2. कस्याश्चित् संङ्केतस्थानं जीवितसर्वस्वायमानं धार्मिकसञ्चरणान्तरायदोषात्तदवलुप्यमानपल्लवकुसुमादि विच्छायीकरणाच्च परित्रातुमियमुक्तिः । तत्र स्वतः सिद्धमपि भ्रमणं श्वभयेनापोदितमिति प्रतिप्रसवात्मको निषेधाभावरूपः, न तु नियोगः प्रैषादिरूपोऽत्र विधिः, अतिसर्गप्राप्तकालयोर्हीयं लोट् । तत्र भावतदभावयोर्विरोधाद् द्वयोस्तावन्न युगपद्वाच्यता, न क्रमेण, विरम्य व्यापाराभावात् । "विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्" इत्यादिनाभिधाव्यापारस्य विरम्य व्यापारासंभवाभिधानात् ।
ध्व. लो. पृ. 53

आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि के कारण पदार्थों का समन्वय होने पर जिस वाक्यार्थ का बोध होता है वह उसकी प्रत्यायिका है ।[1] इस प्रकार तात्पर्या वृत्ति के द्वारा " भ्रमण करो " इस विधिरूप अर्थ के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्रतीत होता क्योंकि द्वितीय कक्ष्या में तात्पर्य वृत्ति द्वारा अन्वयमात्र की प्रतिपत्ति होती है ।

यदि अभिहितान्वयवादी आचार्य यह कहें कि " दृप्त, धार्मिक तथा तद् इत्यादि पदार्थों की अन्वयानुपपत्ति रूप मुख्यार्थ-बाध के सहारे विरोधनिमित्तक विपरीतलक्षणा के कारण अपर्यवसित तात्पर्यशक्ति ही वाक्यार्थीभूत निषेधपरक अर्थ की प्रतीति कराती है "[2] तो ठीक नहीं, इसलिये कि द्वितीय कक्ष्या में ही उपलब्ध परस्पर अन्वित विशेषरूप वाक्यार्थ में ही तात्पर्य शक्ति का पर्यवसान हो जाता है, प्रस्तुत उदाहरण में द्वितीय कक्ष्या में " भ्रम " इस प्रकार के विधिपरक अर्थ के अतिरिक्त अन्य किसी अर्थ की प्रतीति नहीं होती क्योंकि तात्पर्यवृत्ति से तो अन्वयमात्र की ही प्रतिपत्ति होती है ।[3]

लक्षणा के तीन हेतु हैं :- (1) मुख्यार्थ-बाध (2) मुख्यार्थ-सम्बन्ध (3) रूढ़ि अथवा प्रयोजन । उक्त उदाहरण में निषेध रूप अर्थ को लक्षणावृत्तिगम्य भी नहीं माना जा सकता, इसलिये कि जिस प्रकार "गङ्गायां घोषः" तथा " सिंहो वटुः " इत्यादि उदाहरणों में योग्यता के अभाव के कारण अन्वय अनुपपन्न हो जाता है उस प्रकार से

---

1. आकांक्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसति ।
   का. प्र. पृ. 34
2. ननु तात्पर्यशक्तिरपर्यवसिता विवक्षया दृप्तधार्मिकतदादिपदार्थानन्वयरूप - मुख्यार्थबाधबलेन विरोधनिमित्तया विपरीतलक्षणया च वाक्यार्थीभूतनिषेध-प्रतीतिमभिहितान्वयदृशा करोतीति शब्दशक्तिमूल एव सोऽर्थः ।
   ध्व. लो. पृ. 54
3. ततो विशेषरूपे वाक्यार्थे तात्पर्यशक्तिः परस्परान्विते " सामान्यान्यन्यथा-सिद्धेर्विशेषं गमयन्ति हि" इति न्यायात् । तत्र च द्वितीयकक्ष्यायां "भ्रमे" ति विध्यतिरिक्तं न किञ्चित् प्रतीयते, अन्वयमात्रस्यैव प्रतिपन्नत्वात् ।
   ध्व. लो. पृ. 55

यहां पर " तुम्हारे भ्रमण का निषेध करने वाला वह कुत्ता सिंह के द्वारा मारा गया , इसलिये इस समय भ्रमण निषेध का कारण समाप्त हो जाने से तुम्हारा भ्रमण उचित है " इस अन्वय में कोई क्षति नहीं होती । अतएव मुख्यार्थ-बाध के अभाव में इसे विपरीत लक्षणा का स्थल भी नहीं मान सकते । 1

इस निषेधरूप अर्थ को अनुमानगम्य भी नहीं माना जा सकता । यद्यपि व्यक्तिविवेककार आचार्य महिमभट्ट ने बड़े संरम्भ के साथ इसको अनुमानगम्य प्रतिपादित किया है । निषेधरूप इस अर्थ की अनुमानगम्यता प्रतिपादित करते हुए महिमभट्ट कहते हैं कि यहां वाच्य और प्रतीयमान ये दोनों अर्थ क्रम से ज्ञात होते हैं। इनके बीच साध्य-साधनभाव सम्बन्ध है। वाच्य धूम के समान साधन है । प्रतीयमान् अग्नि के समान साध्य है । वाच्यार्थ तो स्पष्ट है क्योंकि उसके भ्रमणविधानरूपी साध्य और भ्रमणविरोधी दुष्ट कुत्ते का मारा जाना रूपी कारण दोनों कह दिये गये हैं, किन्तु दूसरा (प्रतीयमान) इसी (वाच्यार्थ = विधि) से प्रतीत होता है । इसके मारितः पद में णिजर्थ (णिच् प्रत्यय = प्रेरणार्थक प्रत्यय) के ऊपर ध्यान से तथा प्रयोजक (मारने वाले) के स्वरूप का ज्ञान करने से सामर्थ्यवशात् विवेकी ज्ञाता को प्रतीत हो जाता है । यह सामर्थ्य कुत्ते के मर जाने पर भी वहां उससे अधिक क्रूर प्राणी के सद्भाव का कथन है-वही निषेधरूप प्रतीयमान की प्रतीति में साधन है । इस साध्य और साधन का व्याप्ति सम्बन्ध विरोधमूलक है । 2

---

1. नहि "गङ्गायाम् घोषः" "सिंहो वटुः" इत्यत्र यथान्वय एव बुभूषन प्रतिहन्यते , योग्यताविरहात्ः तथा तव भ्रमणनिषेद्धा स श्वा सिंहेन हतः , तदिदानीं भ्रमणनिषेधकारणवैकल्याद् भ्रमणं तवोचितमित्यन्वयस्य काचित्क्षतिः । अतएव मुख्यार्थबाधा नात्र शङ्कयेति न विपरीतलक्षणाया अवसरः । ध्व. लो. पृ. 55

2. अत्र हि द्वावर्थौ वाच्यप्रतीयमानौ विधिनिषेधात्मकौ क्रमेण प्रतीतिपथमवतरतः तयोर्धूमाग्नयोरिव साध्यसाधनभावेनावस्थानात् तत्राद्यस्तावदविवेकसिद्धः स्पष्ट एव, भ्रमणविधिलक्षणस्य साध्यस्य तत्परिपन्थिक्रूरकुक्कुरमारणात्मनः साधनस्य चोभयोरभ्युपादानात् । द्वितीयस्त्वत एव हेतोः पर्यालोचितणिजर्थस्य विवेकिनः प्रतिपत्तुः प्रयोजकस्वरूपनिरूपणेन सामर्थ्यात् प्रतीतिमवतरति । तच्च सामर्थ्यं मृतेऽपि कौलेयके क्रूरतरस्य सत्वान्तरस्य तत्र सद्भावावेदनं नाम नापरम् । तदेव च

महिमभट्ट इसे और स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि केवल यह जो धार्मिक के भ्रमण में कारणरूप सिंह का गोदावरी तट में व्यापार बताया गया है उस पर विचार करने से भ्रमण का निषेध समझ में आ जाता है क्योंकि भ्रमणविधि और सिंहसत्व दोनों का बाध्यबाधकभाव सम्बन्ध है । भला ऐसा कौन बुद्धिमान व्यक्ति होगा जो केवल कुत्ते के सद्भाव से भ्रमण रोक दे किन्तु वही दृप्त सिंह के सद्भाव का डर रहते हुये भी निर्भय होकर घूमे । इस प्रकार अनुमेय अर्थ में ही वाक्यार्थ की विश्रान्ति है जिसका हेतु बाध्यबाधकभावरूप वैशिष्ट्य यहां है । [1]

यहां " भ्रम धार्मिक " में भ्रमण करो यह विधिरूप वाच्यार्थ है उसका " स शुनकोऽद्यमारितस्तेन इत्यादि क्रूर कुत्ते का दृप्तसिंह द्वारा मारणं हेतु हैं । उस भ्रमण का निषेध अनुमेय ही है, इसका आक्षेप होता है । अतएव भ्रमण का निषेध व्यङ्ग्य न मानकर अनुमेय ही समझना चाहिये । [2]

इस निषेधरूप अर्थ की अनुमानलभ्यता का खण्डन आचार्य मम्मट ने पंचम उल्लास में किया है। महिमभट्ट के उक्त विवेचन को पूर्वपक्ष के रूप में उपन्यस्त करके उसका खण्डन करते हुये मम्मट कहते हैं कि "भ्रम धार्मिक" इस उदाहरण में जो हेतु महिमभट्ट ने माने हैं वे वस्तुतः हेतु नहीं हेत्वाभास है क्योंकि इनमें अनैकान्तिकतादि दोष निहित है । आचार्य मम्मट के अनुसार भीरु पुरुष भी कभी कभी गुरु अथवा स्वामी की आज्ञा से या प्रिया के प्रबल अनुरागवश भय का कारण होने पर भी घूमता है । इसलिये यह हेतु अनैकान्तिक है । आचार्य मम्मट का दूसरा तर्क है कि कुत्ते के स्पर्श से डरता हुआ भी धार्मिक वीरता के कारण सिंह से नहीं

---

1. केवलं योऽसौ भ्रमणविधौ हेतुभावेन दृप्तपंचाननव्यापारस्तत्रोपात्तः स एव विमृश्यमानः परम्परया धार्मिकस्य तन्निषेधे पर्यवस्यति तयोर्बाध्यबाधक भावेनावस्थानात् । को ह्यनुन्मत्तः कुक्कुरमात्रसद्भावभयात् परिहृतभ्रमणस्तत्रैव बाध्यबाधकभावोऽस्त्येवात्र विशेषः ।

हि. व्य. वि. पृ. 464

2. तत्र " भम धम्मिअ । वीसद्धो " इति वाक्यार्थरूपो भ्रमणविधिर्वाच्यः तस्य " सोसुणओ अज्ज मारिओ देण "इत्यादिना क्रूरकुक्कुरमारणं दृप्तसिंहविहितं वाक्यार्थरूपमेवार्थो हेतुः । तत्प्रतिषेधस्त्वनुमेय एव न वाच्यः तस्योक्तनयेनाक्षेपात् । तेनानुमेय एव भ्रमणस्य निषेधो न व्यङ्ग्य इत्यवसेयम् ।

हि . व्य. वि. पृ. 465

डरता अतएव यह हेतु विरुद्ध भी है । एक दोष और बताते हुये कहते हैं कि गोदावरी तट पर सिंह की विद्यमानता प्रत्यक्ष या अनुमानप्रमाणद्वारा तो निश्चित नहीं की गई किन्तु केवल पुंश्चली के वचन से ही, अतएव अर्थ के साथ नियत सम्बन्ध न होने के कारण ये वचन अप्रामाणिक हैं । इसलिये यह हेतु असिद्ध है । अब यह सहृदयों द्वारा स्वयं विचारणीय है कि अनैकान्तिकतादिदोषयुक्त हेतु से साध्य की सिद्धि कैसे सम्भव है? [1] अतएव निषेधरूप व्यङ्ग्यार्थ अनुमान का विषय नहीं है ।

उक्त विवेचन को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि जब यहां एक व्यङ्ग्यार्थ तक इन शब्दशक्तियों और अनुमान की गति नहीं है " कस्य वा न भवति रोषो " उदाहरणों में जहां अनेक व्यङ्ग्यार्थ उपलब्ध होते हैं वहां इनकी गति कैसे हो सकती है । इससे यही आशय निकलता है कि प्रतीयमान की प्रतीति के लिये हमें किसी अन्य व्यापार को स्वीकार करना ही होगा । यह व्यापार अभिधारूप में नहीं हो सकता क्योंकि शब्द का उस अर्थ में संकेत नहीं है । यह व्यापार तात्पर्यावृत्ति भी नहीं हो सकता क्योंकि तात्पर्यावृत्ति तो अन्वय-प्रतीति में ही क्षीण हो जाती है । मुख्यार्थबाधादि के अभाव में तथा शब्द के स्खलद्गतित्व के अभाव में यह अर्थ लक्षणागम्य भी नहीं माना जा सकता इसलिये अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा से अतिरिक्त किसी चतुर्थ व्यापार की कल्पना करनी ही पड़ती है और वह चतुर्थ व्यापार ध्वनन, द्योतन, व्यञ्जन अथवा प्रत्यायन रूप ही है । [2] इस उपर्युक्त उदाहरण में व्यञ्जना

---

1. अत्रोच्यते-भीरुरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन प्रियानुरागेण अन्येन चैवंभूतेन हेतुना सत्यपि भयकारणे भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतुः । शुनो बिभ्यदपि वीरत्वेन सिंहान्न बिभेतीति विरुद्धोऽपि । गोदावरीतीरे सिंहसद्भावः प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न निश्चितः, अपि तु वचनात्, न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति, अर्थेनाप्रतिबन्धादित्यसिद्धश्च । तत्कथमेवंविधाद्धेतोः साध्य सिद्धिः ।

का. प्र. पं. उ. पृ. 271

2. (क) व्यापारश्च नाभिधात्मा, समयाभावात् । न तात्पर्यात्मा, तस्यान्वयप्रतीतावेव परिक्षयात् । न लक्षणात्मा, उक्तादेव हेतोः स्खलद्गतित्वाभावात् ।......................

तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतन - व्यञ्जनप्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः

ध्व. लो. पृ. 59

वक्तृबोद्धव्यवैशिष्ट्य के आधार पर एक साथ समस्त प्रतीयमानन अर्थों को उपस्थापित करती हैं । यह तो हुई वस्तु रूप व्यङ्ग्यार्थ की व्यञ्जना द्वारा उपलब्धि ।

अलंकाररूप प्रतीयमानार्थ की भी व्यञ्जना द्वारा ही प्रतीति माननी होगी । उदाहरणार्थ --

लावण्यकान्तिपरिपूरित दिङ् मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि ।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः ।। 1

इस पद्य का वाच्यार्थ है -हे तरल और आयत नेत्रों वाली लावण्य और कान्ति से दिशाओ को भर देने वाले तुम्हारे इस मुख के इस समय विहसनशील होने पर यह समुद्र कुछ भी क्षोभ को प्राप्त नहीं हो रहा है - अतः मैं समझता हूं यह स्पष्ट ही जलराशि (जडराशि) है ।

लावण्य का अर्थ है संस्थान का सौन्दर्य, कान्ति का अर्थ है प्रभा । नायिका के सौन्दर्य के कारण दिङ्मण्डल हृद्य बना दिये गये हैं। अब क्रोध के शान्त होने पर जबकि उसका मुख प्रसन्न है, उसे देख कर भी यह समुद्र क्षुब्ध नहीं हो रहा है । क्षण भर पहले यह क्षोभ को प्राप्त हुआ था । वास्तव में इसका जलराशि (जडराशि) नाम अन्वर्थ है । इससे यह व्यक्त होता है कि कोप के कारण अरुण तथा स्मितयुक्त मुख सन्ध्या की लालिमा से युक्त पूर्ण चन्द्रमण्डल ही है । सहृदयों का चित्त चंचल होने के कारण जो सहृदय होगा उसके चित्त में क्षोभ अवश्य होगा और समुद्र में नहीं हो रहा है अतः यह जडराशि है । यहां सहृदय व्यक्ति को तुम्हारे मुख के अवलोकन से मदनविकार रूप क्षोभ होता है । इतना अर्थ देकर ही अभिधा विश्रान्त हो जाती है । यहां पर " जल " शब्द में श्लेष अलंकार है जो कि वाच्य है। यदि कोई यहां पर तात्पर्य या लक्षणा से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति मानना चाहे तो वह सम्भाव्य नहीं क्योंकि वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ की ही भांति यहां पर अन्वय की प्रतीति

---

1. ध्व. पृ. 285

कराकर तात्पर्या क्षीण हो गई और मुख्यार्थबाधादि के अभाव में लक्षणा का अवसर ही नहीं है । प्रस्तुत उदाहरण में नायिका के मुख पर चन्द्र का आरोप होने के कारण रूपक अलंकार व्यङ्ग्य है, जो कि व्यञ्जनया ही द्योतित होता है । इस रूपक ध्वनि से इस श्लोक का चारुत्व बढ़ गया है अतएव यहां रूपक ध्वनि ही मान्य है ।[1]

रही रस व्यङ्ग्यार्थ की उपलब्धि तो रस तो कभी वाच्य हो ही नहीं सकते ।[2] क्योंकि प्रायः देखा जाता है कि केवल श्रृंगारादिशब्दों के प्रयोग से रस की प्रतीति नहीं होती । रसादि शब्दों का प्रयोग तो केवल अनुवादक होता है । इसके विपरीत विभावादिकों का प्रतिपादन होने पर, श्रृंगारादि शब्दों के न होने पर भी रस-प्रतीति देखी जाती है । इस प्रकार रस रूप व्यङ्ग्यार्थ भी वाच्य से भिन्न है ।[3]

उदाहरणार्थ --

" यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो निःस्थेमनी लोचने
यद्गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिनं लूनाब्जिनीनालवत् ।
दूर्वाकाण्डविडम्बकश्च निबिडो यत्पाण्डिमा गण्डयोः
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थितिः ।।"

---

1 तत्र च क्षोभो मदनविकारात्मा सहृदयस्य त्वन्मुखावलोकनेन भवतीतीयत्यभिधाया विश्रान्ततया रूपकं ध्वन्यमानमेव । वाच्यालंकारश्चात्र श्लेषः स च न व्यञ्जक । अनुरणनरूपं यद्रूपकमर्थशक्तिव्यङ्ग्यं तदाश्रयेणेह काव्यस्य चारुत्वं व्यवतिष्ठते ।
ध्व. लो. 285-286

2 यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्द वाच्यो न लौकिकव्यवहारपतितः किन्तु शब्दसमर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावसमुचितप्राग्विनिविष्टरत्यादिवासना-नुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपो रसः ।
ध्व. लो. पृ. 50

3 नहि केवल श्रृंगारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्वप्रतीतिरस्ति । यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशेष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः । ....न त्वभिधेयं कथञ्चित्, इति तृतीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद् भिन्न एवेति स्थितम् ।

जो रुक-रुक कर देखने पर बहुत बार नेत्र स्थैर्यरहित हो जाते हैं, जो कि अंग-अंग कटे हुये कमलिनी के नाल की भांति प्रतिदिन सूखते जा रहे हैं, जो कि कपोल पर दूर्वाकाण्ड का अनुकरण करने वाला घना पीलापन छाया है, युवक कृष्ण के प्रति युवतियों की यही वैषस्थिति है। इस उदाहरण में विप्रलम्भ श्रृड्.गार रस की प्रतीति विभावानुभाव के प्रतिपादन से ही हो रही है यद्यपि यहां पर अभिलाष, चिन्ता, औत्सुक्य, धृति, ग्लानि आदि किसी शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है । 1

इसके विपरीत प्रस्तुत उदाहरण में विभावादिक शब्दः कह दिये गये हैं :-

याते द्वारवतीं तदा मधुरिपौ तद्दत्तझम्पानतां
कालिन्दीतटरूढवन्जुललतामालिड्.ग्य सोत्कण्ठया ।
तद्गीतं गुरुबाष्पगद्गदगलत्तारस्वरं राधया
येनान्तर्जलचारिभिर्जलचरैरप्युत्कमुत्कूजितम् ।।

कृष्ण के द्वारका चले जाने पर उनके आस्फालनों के कारण झुकी हुई, कालिन्दी तट में उत्पन्न वैतसलता का आलिंगन करके उत्कण्ठायुक्त राधा ने अधिक वाष्प के कारण गद्गद एवं स्खलित होती हुई स्वर में वह गान किया जिससे कि भीतर पानी में रहने वाले जीव उत्कण्ठित हो शब्द करने लगे ।

इस उदाहरण में विभाव और अनुभाव अम्लान रूप में प्रतीत हो रहे हैं । उत्कण्ठा चर्वणा गोचर होती है । सोत्कण्ठा रूप शब्द के निवेदन होने पर भी उत्कण्ठा की प्रतीति लतालिंगन रूप अनुभाव के प्रतिपादन से ही होती है । अतएव सोत्कण्ठ शब्द केवल सिद्ध को ही

---

1. इत्यत्रानुभावविभावावबोधनोत्तरमेव तन्मयीभवनयुक्तया तद्विभावानुभावोचित-चित्तवृत्तिवासनानुरन्जितस्वसंविदानन्दचर्वणागोचरोऽर्थो रसात्मा स्फुरत्येवाभिलाषचिन्तौत्सुक्यनिद्राधृतिग्लान्यालस्यश्रमस्मृतिवितर्कादिशब्दाभावेऽपि ।

ध्व. लो. पृ. 82

सिद्ध कर रहा है ।[1] रस की स्वशब्दवाच्यता का तो मम्मट ने भी निराकरण किया है और रसादि की प्रतीति के लिये व्यञ्जना वृत्ति को आवश्यक कहा है । इन्होंने अभिनवगुप्त की ही सरणि पर रसादिरूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में व्यञ्जना की अपरिहार्यता सिद्ध की है ।[2]

रस क्योंकि स्वशब्द वाच्य नहीं होते अतएव लक्षणा प्रवृत्त नहीं हो सकती । शब्द की गति के स्खलित न होने के कारण मुख्यार्थबाध की भी आशंका नहीं की जा सकती । इस प्रकार अभिधा, लक्षणा व्यतिरिक्त ध्वनन व्यापार ही रसरूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति करा सकता है ।[3]

इस प्रकार स्पष्ट है कि त्रिविध व्यङ्ग्यार्थ की उपलब्धि न तो शब्द की शक्तियों से सम्भव है, न ही अनुमान प्रमाण से । अतएव उसकी प्राप्ति के लिये व्यञ्जना नामक तुरीया वृत्ति को स्वीकार करना होगा। यह वृत्ति तीनों वृत्तियों को दबाकर स्वयं प्रधान हो जाती है । इसलिये यह प्रमुख व्यापार अपरिहार्य है ।[4]

---

1. इत्यत्र विभावानुभावावम्लानतया प्रतीयेते । उत्कण्ठा च चर्वणागोचरं प्रतिपद्यत एव । सोत्कण्ठा शब्दः केवलं सिद्धं साधयति ।

ध्व.लो.पृ. 83

2. रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः । स हि रसादिशब्देन शृङ्गारादिशब्देन वाऽभिधीयेत् । न चाभिधीयते । तत्प्रयोगे विभावाद्यप्रयोगे तस्याऽप्रतिपत्तेस्तदप्रयोगेऽपि विभावादिप्रयोगे तस्य प्रतिपत्तेश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभावाद्यभिधानद्वारेणेव प्रतीयते इति निश्चीयते, तेनासौ व्यङ्ग्य एव मुख्यार्थबाधाद्यभावान्न पुनर्लक्षणीयः ।

का. प्र. पृ. 238

3. (क) रसभावतदाभासतत्प्रशमाः पुनर्न कदाचिदभिधीयन्ते, अथ चास्वाद्यमानताप्राणतया भान्ति ।

ध्व. लो. पृ. 79

(ख) तत्र ध्वननव्यापारादृते नास्ति कल्पनान्तरम् । स्खलद्गतित्वाभावे मुख्यार्थबाधादेर्लक्षणानिबन्धनस्यानाशङ्कनीयत्वात् ।

ध्व. लो. पृ. 79

4. तच्छक्तित्रयोपजनितार्थावगममूलजाततत्प्रतिभासपवित्रितप्रतिपत्तृप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वनन व्यापारः .. काव्यात्मा

एकावलीकार विद्याधर भी रस की स्वशब्दवाच्यता का खण्डन करते हुये कहते हैं कि विभावों द्वारा अंकुरित अनुभावों के द्वारा कन्दलित तथा व्यभिचारी भावों के द्वारा पल्लवित रस केवल व्यञ्जना व्यापारगम्य ही है यह न तो अभिधा का विषय है न ही तात्पर्य का, न ही लक्षणा का । यह प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाणों व स्मृति से भी ग्राह्य नहीं है। विद्याधर ने ध्वन्यालोककार की ही सरणि पर यह बताया है कि श्रृङ्गारादिशब्दों के कथनमात्र से रसप्रतीति नहीं होती अपितु विभावादिकों के द्वारा ही ।

विश्वनाथ ने भी रसादिकों की स्वशब्दवाच्यता का खण्डन करते हुये व्यञ्जना नामक तुरीया वृत्ति को रसप्रतीति के लिये अङ्गीकार किया है। उनका मत है कि " श्रृङ्गाररसोऽयम् " इस प्रकार कहने से भी श्रृङ्गाररस की प्रतीति नहीं क्योंकि रस तो स्वयंप्रकाश और आनन्दस्वरूप है किन्तु अभिधाजन्य ज्ञान तो ऐसा होता नहीं, अतएव रस व्यङ्ग्य ही है ।[2]

---

1. विभावैर्ललनादिभिरालम्बनकारणैरङ्कुरितः सितकरकोकिलालापमलयानिलकेलिकाननादिभिरुद्दीपनकारणैः कन्दलितोऽनुभावैर्नयनान्तविलोकितस्मितभुजवल्लीवेल्लनादिभिः प्रतीतिपद्धतिमध्यारोपितो व्यभिचारिभिश्चिन्तादिभिः पल्लवितः कदाचिदपि नानुभूतोऽभिधया न कर्णातिथीकृतस्तात्पर्येण न लक्ष्यीकृतो लक्षणया न स्वविषयं प्रापितः प्रत्यक्षेण नात्मनः सीमानमानीतोऽनुमानेनपरिशीलितसरणिः स्मरणेन नाक्रान्तः कार्यतया न ज्ञातो ज्ञाप्यतया विगलितवेद्यान्तरत्वेन परिमितावनधीती ध्वननाभिधानाभिनवव्यापारपरिरम्भनिर्भरतयानुकार्यानुकर्तृगतत्वपरिहारेण सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको भाव एव .... श्रृङ्गारादिको रसोऽभिधीयते ।

   विद्याधर एकावली पृ. 86–88

2. (क) वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधातात्पर्यलक्षणाख्यानाम् ।
   अङ्गीकार्या तुर्या वृत्तिर्बोधे रसादीनाम् ।।
   क्वचिच्च श्रृङ्गाररसोऽयम् इत्यादौ स्वशब्देनाभिधानेऽपि न तत्प्रतीतिः तत्स्वप्रकाशानन्दरूपत्वात् ।

   सा. द. च. परि. पृ. 156–157

   (ख) अभिधादिविलक्षणव्यापारमात्रप्रसाधनग्राहिलैरस्माभिः रसादीनां व्यङ्ग्यत्वमुक्तम् ।

   सा. द. पृ. 51

रसगंगाधरकार पण्डित जगन्नाथ ने भी स्पष्ट शब्दों में रस को विभावादिकों के द्वारा प्रतीयमान बताया है । इसकी स्वशब्दवाच्यता का खण्डन करते हुये आचार्य रस की प्रतीति एक अलौकिक ‌‌‍‍ (व्यञ्जना) व्यापार से मानते हैं । [1]

यह तो रही व्यञ्जना के उपासकों की बात, रस के वाच्यत्व तथा लक्ष्यत्व का खण्डन तो धनिक जैसे तात्पर्यवादी आचार्य भी करते हैं ,आचार्य धनिक कहते हैं कि रस का काव्य के साथ वाच्य-वाचक सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया जा सकता । क्योंकि रति आदि शब्दों के द्वारा रस का कथन नहीं होता । विभावादिकों के वर्णन से ही रति आदि की आस्वाद्यता होती है । रस को अवाच्य सिद्ध करने के पक्ष में एक तर्क यह देते हैं कि यदि रस की प्रतीति वाच्यत्वेन हो तब तो वाच्यवाचक भाव के ज्ञाता अरसिकों को भी काव्यास्वाद हो जायेगा । [2] जबकि केवल सहृदयों के द्वारा ही रस का आस्वादन किया जा सकता है ।

आचार्य धनिक के अनुसार रस का काव्य के साथ लक्ष्य-लक्षक भाव सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता है । साधारणतः लोक व्यवहार में अभिधा ही पर्याप्त होती है किन्तु कभी कभी शब्द का मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) अनुपपन्न होने पर वह शब्द अपने से सम्बद्ध अर्थ को लक्षित

---

1. समुचितललितसंनिवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः सह्रदयहृदयं प्रविष्टैस्तदीयसहृदयतासहकृतेन् भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिरलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेश्यैः ... संभूय प्रादुर्भावितेनालौकिकेन व्यापारेण तत्कालनिवर्तितानन्दांशावरणज्ञानेनात एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः ।

रसगंगाधार प्रथम आनन-पृ. 26

2. न तावद्वाच्यवाचक भावः स्वशब्दैरनावेदितत्वात्, नहि श्रृङ्.गारादिरसेषु काव्येषु श्रृंङ्.गारादिशब्दा रत्यादिशब्दा वा श्रूयन्ते येन तेषां तत्परिपोषस्य वाभिधेयत्वं स्यात् । यत्रापि च श्रूयन्ते तत्रापि विभावादिद्वारकमेव रसत्वमेतेषां न स्वशब्दाभिधेयत्वमात्रेण .... यदि वाच्यत्वेन रसप्रतिपत्तिः स्यात्तदा केवल वाच्यवाचकभाव व्युत्पन्नचेतसामप्यरसिकानां रसास्वादो भवेत् ।

करता है । वह लक्ष्यार्थ या तो रूढ़ होता है या उसका बोध कराने में कोई प्रयोजन होता है । इस प्रकार इस लक्ष्यार्थ की बोधिका लक्षणावृत्ति के तीन हेतु हैं :- ‡1‡ मुख्यार्थ-बाध ‡2‡ मुख्यार्थ सम्बन्ध ‡3‡ रूढ़ि अथवा प्रयोजन । अब विचारणीय है कि क्या रस लक्ष्य होते हैं ?

यह तो स्पष्ट ही है कि रस कभी रूढ़ि के विषय नहीं बन सकते क्योंकि रस कभी वाच्य तो होते नहीं जो कि विशेष शब्द विशेष रस प्रतीति के लिये निश्चित हो जायें । रही बात प्रयोजनवती लक्षणा की तो लक्षणा के दो भेद हैं । ‡1‡ उपादान लक्षणा ‡2‡ लक्षणलक्षणा । उपादान लक्षणा में शब्द मुख्यार्थबाध होने पर अपने अर्थ का त्याग न करते हुये दूसरे अपने से सम्बद्ध अर्थ को लक्षित करता है । किन्तु यहां ऐसा नहीं है कि कुछ ऐसे सामान्य शब्द जो रस आदि के वाचक हों, लक्षणा द्वारा श्रृंगार आदि विशेष रस का बोध करा सकें । अब रही लक्षणलक्षणा की बात तो यहां पर भी यही कहा जा सकता है कि लक्षणा के तीनों हेतुओं में से एक भी यहां नहीं है । सर्वप्रथम तो मुख्यार्थबाध ही नहीं होता है जिस प्रकार गड्.गाया घोषः में होता है । न ही काव्य में प्रयुक्त शब्द स्खलद्गति हैं वे तो स्वयं मुख्यार्थ का बोध कराने में सक्षम हैं, फिर वे अन्य ‡ लक्ष्य ‡ अर्थ को क्यों लक्षित करेंगे फिर तो यह तर्कसंगत ही है कि जब मुख्यार्थ-बाधादि कोई हेतु नहीं है तो कोई क्यों लक्षक शब्द का प्रयोग करेगा । अतएव यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि रस कभी लक्ष्य नहीं हो सकते । आचार्य धनिक गौणी वृत्ति से भी रस - प्रतीति नहीं मानते हैं ।[1] ‡मीमांसक गौणी वृत्ति को लक्षणा से भिन्न मानते हैं ‡

---

1. नापि लक्ष्यलक्षकभावः - तद्सामान्याभिधायिनस्तु लक्षकस्य पदस्याप्रयोगात् । नापि लक्षितलक्षणया प्रतिपत्तिः, यथा " गड्.गायां घोषः इत्यादौ । तत्र हि स्वार्थे स्रोतोलक्षणे घोषस्यावस्थानासम्भवात्स्वार्थे स्खलद्गतिर्गड्.गाशब्दः स्वार्थाविनाभूतत्वोपलक्षितं तटमुपलक्षयति । अत्र तु नायकादिशब्दाः स्वार्थेऽस्खलदगतयः कथमिवार्थान्तरमुपलक्षयेयुः । को वा निमित्तप्रयोजनाभ्यां बिना मुख्ये सत्युपचरितं प्रयुञ्जीत् । अतएव " सिंहो माणवकः " इत्यादिवत् गुणवृत्यापि नेयं प्रतीतिः ।

दशरूपक पृ. 319

इस प्रकार रस के वाच्य - वाचक और लक्ष्य - लक्षक भाव का खण्डन हो जाता है ।

व्यञ्जना विरोधी आचार्य भट्टनायक ने भी रस की प्रधानता स्वीकार करते हुये उसकी स्वशब्द वाच्यता का खण्डन किया है ।[1]

इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि व्यङ्ग्यार्थ - प्रतीति के लिये व्यञ्जना व्यापार ही आश्रयणीय है और अपरिहार्य है ।

---

1. काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक् ।
   ध्व. पृ. 40

2. वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रसं यद्बालतृष्णया ।
   तेन नास्य समः स स्यात् दुह्यते योगिभिर्हि यः ।।

द्वितीय अध्याय

व्यञ्जना का मूल

प्रकृत शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में प्रदर्शित व्यञ्जना के आधार पर यदि व्यञ्जना का मूल खोजने का प्रयास करें तो "व्यञ्जना" शब्द का प्रयोग " प्रकाशित करने " " व्यक्त करने " जैसे अर्थो में वैदिक काल से होता चला आया है ।

मन्त्रदृष्टा ऋषि लोग भी यह रहस्य जानते थे कि शब्दों के वाच्यार्थ के अतिरिक्त कोई स्मरणीय अर्थ होता है जिसको वाणी के मर्मज्ञ लोग ही समझ पाते हैं। साधारण जन तो उस गूढ़ अर्थ को देखते हुये भी नहीं देखते हैं, सुनते हुये भी नहीं सुनते हैं किन्तु जो तत्वज्ञ है वे उस प्रच्छन्न अर्थ को देखने में समर्थ होते हैं।[1] इस मन्त्र से यह स्पष्ट है कि शब्द का कोई प्रच्छन्न अर्थ उनकी दृष्टि में होता था जो उस शब्द के प्रचलित अर्थ से कहीं अधिक रमणीय हुआ करता था । अन्यत्र व्यञ्जते शब्द का साक्षात् प्रयोग व्यनक्ति अर्थ में मिलता है ।[2]

निरुक्त में भी व्यञ्जना का मूल निहित माना जा सकता है । यास्कमुनि ने उपसर्गों की अर्थ-द्योतकता सिद्ध करते हुये आचार्य शाकटायन का मत उपन्यस्त किया है। जिसमें "द्योतका भवन्ति" पद प्रयुक्त हुआ है।[3] यह द्योतन पद व्यञ्जना का पर्याय है और यह ध्वनिवादी आचार्यो को भी अभीष्ट है ।[4] इस प्रकार यास्कमुनिकृत निरुक्त में भी व्यञ्जना पद का प्रयोग द्योतन के अर्थ में मिलता है ।

1- उत त्वः पश्यन्न ददर्श, वाचमुत त्वः श्रृणवन्न श्रृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्त्रे, जायेव पत्यः उशती सुवासा ।।
— ऋग्वेद 10/71/4

2- व्यञ्जते दिवो अन्तेष्वक्तून्, विशो न युक्ता उषसो यतन्ते ।
सं ते गावस्तम आ वर्तयन्ति, ज्योतिर्यच्छन्ति सवितेव बाहू ।।
— ऋग्वेद 7/79/2

3- न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनो,
नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति । — निरुक्त, पृ. 31

4- तच्छक्त्युपजनितार्थावगम पवित्रितप्रतिपत्तृप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्व्यञ्जकत्वम् ।

धुरंधर वैयाकरण पतञ्जलि ने भी महाभाष्य में अनेक बार व्यञ्जते शब्द का प्रयोग किया है ।[1] यहां पर "व्यञ्जते" शब्द का प्रयोग व्यक्त करने के अर्थ में हुआ है ।

इस प्रकार भले ही व्यञ्जना वृत्ति का सुव्यवस्थित रूप वैदिक काल में नहीं था किन्तु इस पद का प्रयोग ऋग्वेद से ही आरम्भ हो गया था ।

स्फोट दर्शन पर दृष्टिपात करने पर यह ज्ञात होता है कि यह व्यञ्जना तो स्फोट सिद्धान्त पर आधारित है । जिस प्रकार स्फोट दर्शन में क्षणभंगुर ध्वनियों से नित्यस्वरूप, अखण्ड एवं अविभक्त स्फोट अभिव्यक्त होता है [2] उसी प्रकार गूढ़ प्रतीयमानार्थ व्यञ्जना से अभिव्यक्त होता है । जिस प्रकार स्फोट से अर्थ की प्रतीति होती है उसी प्रकार व्यञ्जना से भी अर्थ की प्रतीति होती है । इस प्रकार व्यञ्जना और स्फोट में अत्यधिक साम्य दिखाई देता है । आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक की ध्वनिलक्षणकारिका में "सूरिभिः कथितः" पदों का प्रयोग किया है । इससे सिद्ध होता है कि यह सिद्धान्त वैयाकरणों द्वारा पहले भी मान्य था । सूरिभिः का अर्थ ध्वन्यालोककार ने वैयाकरण किया है । वे वैयाकरण श्रूयमाण वर्णों को ध्वनि कहते हैं ।[3]

इस प्रकार आचार्य आनन्दवर्धन की "व्यञ्जना" और "ध्वनि" का प्रेरणास्त्रोत वैयाकरणों का श्रूयमाण वर्णों में ध्वनि का व्यवहार है । जिस आधार का सङ्केत आचार्य आनन्दवर्धन ने किया है उसका सूत्रपात

1- तिङ्भिहितेन भावेन कालपुरुषोपग्राहा अभिव्यज्यन्ते कदाभिहितेन पुनर्न व्यज्यन्ते । अथवा नान्तरेण क्रियां भूतभविष्यद्वर्तमानाः काला व्यज्यन्ते ।
- महाभाष्य - तृतीय अध्याय, 14/57

2- ग्रहणग्राह्ययोः सिद्धा नियता योग्यता यथा ।
व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेन तथैव स्फोटनादयोः ।।

स्फोटायन ने किया था ।[1] किन्तु वहां विस्तार नहीं हो सका । सर्वप्रथम महाभाष्य में और फिर भर्तृहरि के वाक्यपदीय में स्फोट सिद्धान्त की व्याख्या मिलती है । इनके अतिरिक्त न्याय दर्शन में भी इस सिद्धान्त का विवेचन मिलता है । स्फोट सिद्धान्त को जानने के लिये शब्द के स्वरूप को समझना अपेक्षित है । यदि यह मानें कि जो ध्वनि सुनाई दे वही शब्द है तो शब्द के जोर और धीरे उच्चरित होने से ध्वनिभेद होगा और ध्वनिभेद से अर्थभेद भी होना चाहिये । जबकि "गो" शब्द चाहे जोर से कहा जाय या धीरे से दोनों का एक ही अर्थ निकलता है । यद्यपि दोनों में ध्वनि भेद है । अतएव महाभाष्यकार ने इस शंका का समाधान करते हुये बताया है कि जिससे अर्थ प्रतीति हो वह शब्द का स्फोटरूप है और जो आशु अथवा चिर उच्चरित ध्वनि रूप में प्रतीत होता है वह शब्द गुण है ।[2]

वाक्यपदीयकार भी ध्वनि और स्फोट शब्द के यह दो रूप मानते हैं ।[3]

1- पाणिनि के अष्टाध्यायी में अवङ् स्फोटायनस्य (6/1/123) सूत्र मिलता है । यहां किन्हीं स्फोटायन नामक आचार्य का निर्देश है । इसके नाम में स्फोट शब्द है और प्रथमतः उल्लेख के रूप में यही मिलता है । अतः कल्पना की जाती है कि स्फोटवाद के प्रतिपादक यह स्फोटायन ही थे जैसा कि काशिका की टीका पदमञ्जरी में हरदत्त ने लिखा है –
"स्फोटोऽयनं पारायणं यस्य स स्फोटायनः स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः" । – प्रतिभादर्शन

2- वक्ता कश्चिदाशवाभिधायी भवति । आशु वर्णानभिधते । कश्चिच्चिरेण, कश्चिच्चिरतरेण । तद्यथा । तमेवाध्वानं कश्चिदाशु गच्छति । कश्चिच्चिरेण गच्छति । कश्चिच्चिरतरेण गच्छति । – – – एवं तर्हि स्फोटः शब्दो ध्वनिः शब्दगुणः । – – –

ध्वनिस्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते ।
अल्पो महांश्चकेषाञ्चिद् उभयं तत्स्वभावतः ।।

– महाभाष्य

स्फोट शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है - - - स्फुटति अर्थोऽस्मादिति स्फोटः, स्फुटयति अर्थं प्रकाशयति इति वा, स्फुट्यते वर्णैः इति स्फोटः । जिसका अर्थ केवल अर्थ का प्रकाशन करना है । गौ शब्द के उच्चारण करने पर गोत्व रूप अर्थ की प्रतीति सम्भाव्य नहीं है, क्योंकि ध्वनियां तो आशुविनाशी हैं । वक्ता जब "ग" के बाद "औ" तक पहुंचता है तब तक "ग" ध्वनि नष्ट हो चुकी होती है और विसर्ग कहते-कहते "औ" भी नष्ट हो जाता है[1] तो समस्या यह है कि अर्थ प्रत्यायन किस विधि से हो इसलिये वैयाकरणों ने नित्य तथा अखण्डस्वरूप स्फोट की कल्पना की, क्योंकि यदि यह कहा जाये कि "ग" मात्र कहने से ही गौ की प्रतीति हो जाती है तो ऐसा भी नहीं, क्योंकि यह तो अनुभव विरुद्ध बात हुई । अतः जब "गौ" यह सम्पूर्ण पद उच्चरित हो जाता है तब प्रथम वर्ण के उच्चारण से किंचित् अभिव्यक्त होता हुआ स्फोट पश्चाद्भावी वर्णों के उच्चारण की सहायता से पूर्णरूप से प्रकट होता है और अर्थ व्यक्त करता है । जिस प्रकार अन्धकार से आच्छन्न गृह में दीप के जलने के समय ही घट पूर्ण रूप से ज्ञात नही होता किन्तु कुछ समय बाद जब धीरे-धीरे पूर्ण प्रकाश फैलता है तब घट का भी पूर्ण ज्ञान होता है । इसी प्रकार सपूर्व वर्णों के उच्चारण से अभिव्यक्त स्फोट मन्दसंस्काररूप से अवतिष्ठित तथा अन्तिम वर्णों के उच्चारण से प्रकटता को प्राप्त होता हुआ घटत्व, पटत्व आदि अर्थों का बोधक होता है ।[2] इस प्रकार यह निष्कर्ष निकला कि ध्वनियां स्फोट की व्यञ्जक

1- एकैकवर्णवर्तिनी वाक् । न द्वौ वर्णौ युगपदुच्चारयति । तद्यथा । गौरित्युक्ते यावद् गकारे वाक् प्रवर्तते तावदौकारे न विसर्जनीये । यावदौकारे न गकारे न विसर्जनीये । यावद् विसर्जनीये न गकारे नौकारे उच्चरितप्रध्वंसितत्वाच्च वर्णानाम् । उच्चरितः प्रध्वस्तश्च अथापरः प्रयुज्यते न वर्णो वर्णस्य सहायः ।

- पतञ्जलि - महाभाष्य - 6/3/59

2- एके तावदाचक्षते प्रथमवर्णश्रवणवेलायां स्फोटो अभिव्यक्तो भवति । न च द्वितीयादिवर्णवैफल्यं तदवगतेरेवातिशययकरणाद्यथा रत्नपरीक्षकाणां प्रथम दर्शने रत्नरूपमलंप्रकाशमानमपि पुनः पुनः परीक्ष्यमाणानां चरमे चकास्ति निरवद्यं रत्नतत्वम्, एवामिहापि प्रथमवर्णश्रुत्या व्यक्तेऽपि स्फोटे स्फुटतरप्रतीत्यै वर्णान्तराणि प्रयोक्ष्यन्ते ।

- न्यायमञ्जरी पृ. 340

है ।[1] वैयाकरण स्फोट के व्यञ्जक वर्णों को ध्वनि कहते हैं । अतएव काव्य में प्रतीयमानार्थ के व्यञ्जक शब्द और अर्थ को भी ध्वनि कहा गया । स्फोटवादियों के आधार पर ही व्यञ्जना व्यापार के लिए भी ध्वनि शब्द का प्रयोग किया गया । ध्वनियां दो प्रकार की हैं । ﴾1﴿ प्राकृत ध्वनि ﴾2﴿ वैकृत ध्वनि । स्फोट की व्यञ्जक प्राकृत ध्वनि है और वैकृत ध्वनि द्रुतविलम्बित वृत्तियों को उत्पन्न करने वाली है ।[2] वक्ता किसी वाक्य को शीघ्र बोलता है और चिन्तन आदि के समय मध्यावृत्ति से एवं उपदेश देते समय विलम्बित वृत्ति से अर्थात् धीरे-धीरे बोलता है, किन्तु द्रुतविलम्वित आदि भेद होने पर भी स्फोट की एकरूप ही अभिव्यक्ति होती है । इस प्रकार अकारादि को चाहे द्रुतवृत्ति में प्रयोग किया जाये, चाहे विलम्बित वृत्ति में, "अकार" की ही अभिव्यक्ति होती है । इस प्रकार वाक्य के अर्थ-बोध के लिए नियतपरिमाणविशिष्ट प्राकृत ध्वनि ही पर्याप्त है, वैकृत ध्वनि तो वृत्तियों की जनकमात्र है । अर्थ पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है ।[3] यथा-अन्धकार में स्थित घट पर दीपक के प्रकाश पडते ही असका ज्ञान हो जाता है । और कुछ देर के पश्चात् फिर घट का दूसरा रूप नही प्रतीत होता, कि यह घट पहले की अपेक्षा विशिष्ट है, अपितु उसी रूप की अभिव्यक्ति होती है । इसी प्रकार प्राकृत ध्वनि से जो अर्थ निकलता है , उस पर वैकृत ध्वनि का कोई प्रभाव नही पड़ता । वैयाकरणों के इस सिद्धान्त के आधार पर व्यञ्जना वृत्ति को भी उपचारतः ध्वनि कहा जा सकता है । उदाहरण से यह और भी स्पष्ट हो जाता है जैसे अन्धकार में रखे घड़े को दीप की प्रथम

1- ﴾क﴿ ग्रहणग्राह्ययोः सिद्धा नियता योग्यता यथा ।
व्यङ्ग्य व्यञ्जक भावेन तथैव स्फोटनादयोः ।।
- वा. प. 1/97

﴾ख﴿ यथानुवाकः श्लोको वा सोढत्वमुपगच्छति ।
आवृत्त्या न तु स ग्रन्थः प्रत्यावृत्तिर्निरूप्यते ।।
- वा. प. 1/83

2- वर्णस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते
स्थितिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते ।
स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिनः
ग्रहणोपाधिभेदेन वृत्तिभेदं प्रचक्षते ।।
- वा. प. 1-75, 76

3- शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः ।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते ।। - वा. प. 1/77

उन्मेष ही अभिव्यक्त कर देती है । उसी प्रकार प्राकृत ध्वनि भी झटिति स्फोटाभिव्यक्ति कर देती है और जिस प्रकार दीप के प्रथम उन्मेष के बाद की प्रभा-सन्तान घटाभिव्यक्ति में अभ्यधिक व्यापार है उसी प्रकार प्राकृत ध्वनि से स्फोटाभिव्यक्ति हो जाने पर वैकृत ध्वनि भी स्फोटाभिव्यक्ति में अभ्यधिक व्यापार है । ध्वनिवादियों ने भी इसी मान्यता को ध्यान में रखते हुये अभिधा से अतिरिक्त व्यापार व्यञ्जना को ध्वनि नाम दिया, यद्यपि अभिधा अर्थावबोध के समर्थ और पर्याप्त है किन्तु इससे अतिरिक्त अन्य अर्थ की प्रतीति के लिये व्यञ्जना व्यापार अभ्यधिक व्यापार हुआ ।[1] यदि कोई कहे कि लक्षणा, तात्पर्या भी अभ्यधिक व्यापार है अतः इन्हें भी ध्वनि मानना चाहिये तो ऐसा नहीं है । किसी वाक्य की प्रतिष्ठा के लिये अभिधा, लक्षणा और तात्पर्या यह आवश्यक व्यापार हैं। उदाहरणार्थ "गङ्गायां घोषः" में सर्वप्रथम अभिधा से प्रवाह रूप अर्थ प्राप्त हुआ, तत्पश्चात् तात्पर्या वृत्ति से पदार्थों का अन्वित अर्थ उपस्थित हुआ किन्तु उनमें अन्वयानुपपत्ति होने के कारण लक्षणा प्रकट हुई। लक्षणा से तट रूप अर्थ जब मिला तब वाक्य सिद्ध हो सका । इससे सिद्ध हुआ कि प्रथम तीनों व्यापार अर्थावबोध के लिये आवश्यक व्यापार हैं और चतुर्थकक्ष्यानिवेशी शैत्यापावनत्व रूप प्रयोजन की प्रतीति कराने वाला व्यञ्जना व्यापार अभ्यधिक हुआ । इस प्रकार व्यञ्जना व्यापार को ध्वनि कहा गया ।[2]

उपर्युक्त विवेचन से यह सुस्पष्ट हो गया कि व्यञ्जना का प्रेरणा-स्रोत वैयाकरणों का स्फोटवाद है ।

वेदान्त-दर्शन में यदि व्यञ्जना का मूल खोजने का प्रयास करें तो इसमें भी व्यञ्जना के संकेत मिलते हैं । वेदान्त दर्शन में "तत्वमसि" महावाक्य में "सोऽहमस्मि" की प्रतीति अभिव्यक्ति ही है । माया से आवृत होने पर जीव अज्ञानान्धकार के कारण स्वयं को स्थूल समझता

1- अल्पीयसापि यत्नेन शब्दमुच्चारितं मतिः ।
यदि वा नैव गृह्णाति वर्णं वा सकलं स्फुटम् ।।
तेषु तावत्स्वेव श्रूयमाणेषु वक्तुर्योऽन्यो द्रुतविलम्बितादिवृत्तिभेदात्मा प्रसिद्धादुच्चारणव्यापारादभ्यधिकः स ध्वनिरुक्तः ।

– ध्व. लो. पृ. 140

2- अस्माभिरपि प्रसिद्धेभ्यः शब्दव्यापारेभ्योऽभिधातात्पर्यलक्षणा-

है । क्योंकि माया ब्रम्हस्वरूप का आवरण कर लेती है । जब माया द्वारा आवृत्त जीव का चित्त शुद्ध एवं आवरणरहित होता है, तब गूढ़ अद्वैत ब्रम्ह अभिव्यक्त होता है तथा "तत्वमसि" इस प्रकार का ज्ञान होता है । इस अपने ही स्वयम् की जीव को प्रतीति या अभिव्यक्ति होती है क्योंकि वेदान्तियों का मोक्ष उत्पाद्य नहीं है अपितु अपने ही स्वरूप अभिव्यक्ति मात्र है ।

इस प्रकार व्यन्जना का सूक्षम बीज वेदान्त दर्शन में मिलता है। किन्तु अभिव्यक्ति जिस रूप में ध्वनिवादियों को अभीष्ट है उस रूप में वेदान्तियों को नहीं । वेदान्ती तो "तत्वमसि" इस महाकाव्य को लक्षणागम्य मानते हैं, जबकि व्यन्जना से उत्पन्न व्यङ्ग्यार्थ तो कभी लक्षणा तथा अभिधागम्य हो ही नहीं सकता । इस प्रकार व्यन्जनापर्याय अभिव्यक्ति को वेदान्त-दर्शन का आधार मानकर हम वेदान्त में भी उसका मूलान्वेषण कर सकते हैं ।[1]

सांख्य-दर्शन के सत्कार्यवाद में भी व्यन्जना का मूल देखा जा सकता है । सांख्य - दर्शन में सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य अपने कारण में सूक्ष्म रूप में पहले से विद्यमान रहता है ।[2] जिस प्रकार कछुए के अंग उसके शरीर में प्रविष्ट हो जाने पर दिखाई नहीं देते और बाहर निःसृत होने पर प्रकट हो जाते हैं, उसी प्रकार मिट्टी या सोने से घट, मुकुट आदि कार्य प्रकाशित होने पर "ये उत्पन्न हुए" और उसी मिट्टी तथा सोने में मिल जाने पर "विनष्ट हुये" ऐसा कहा जाता है । इससे यह सिद्ध होता है कि घट और मुकुट सोने तथा मिट्टी से भिन्न कुछ भी नहीं है केवल प्रकट या व्यक्त हो जाते हैं । ऐसा नहीं है कि पहले वे नहीं थे, बाद में उत्पन्न हुये । कारणात्मास्वरूप मिट्टी की कार्यावस्था में जो अभिव्यक्ति है, वही घट है । सत्कार्यवाद में अभिव्यक्ति को प्रश्रय दिया जाता है जो कि व्यन्जना का ही पर्याय है अतएव सांख्य-दर्शन

1- And the same idea of the revealation of something inherent (Vyanjana) is found in vedanta where all is menifestation of the underlying reality of Brahman or absolute- A History of Sanskrit Literature.
-A.B. Keith

2- असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ।।
- सांख्यतत्वकौमुदी कारिका - 9

में भी व्यञ्जना का सूक्ष्मातिसूक्ष्म बीज निहित माना जा सकता है ।

भरतमुनि रस-सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे । अतः उन्होंने व्यञ्जना वृत्ति का उल्लेख या विवेचन तो नहीं किया, किन्तु यह निस्संकोच रूप से कहा जा सकता है कि साहित्य-शास्त्र के लक्षणकारों में सर्वप्रथम भरतमुनि ने व्यञ्जना का स्पष्ट संकेत किया है ।

ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार रस न ही वाच्य,[1] न ही लक्ष्य, अपितु व्यङ्ग्य है । उनके मत में बिना विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावों के श्रृंगारादिशब्दमात्र से रस की प्रतीति नहीं हो सकती, जब कि बिना श्रृंगारादिशब्द प्रयोग किये विभावादि से रस की अभिव्यक्ति हो सकती है ।[2]

आचार्य भरत ने रस-प्रसङ्ग में विभिन्न भावों से अभिनय से स्थायिभाव की व्यञ्जना को स्वीकार किया है ।[3] अतएव आचार्य को व्यञ्जनावादी की कोटि में रखना अत्युक्ति न होगी ।

1- यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्द वाच्यः

- ध्व॰ लो॰ प्र॰ उ॰ पृ॰ 50

2- नहि केवल श्रृंगारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसत्वप्रतीतिरस्ति । यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः केवलाच्च स्वाभिधानादप्रतीतिः ।

- ध्व॰ पृ॰ 84

3- (क) तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति ।

- नाट्य शास्त्र

(ख) अत्राह यदान्यो अर्थसम्भूतैर्विभावानुभावव्यञ्जितैरेकोनपञ्चाशद्भावैः सामान्यगुणयोगेन् अभिनिष्पद्यन्ते रसास्तत्कथं स्थायिन एव भावाः रसत्वमाप्नुवन्ति ।

- ना॰ शा॰, षष्ठ अध्याय

व्यञ्जना वृत्ति का इतिहास

इस अध्याय के प्रथम खण्ड में "व्यञ्जना" की उत्पत्ति के विषय में विचार किया गया । प्रस्तुत द्वितीय खण्ड में ध्वनिकार से पूर्व व्यञ्जना वृत्ति की क्या स्थिति थी ? इस विषय पर विचार अपेक्षित प्रतीत होता है । सर्वप्रथम यह विचारणीय प्रश्न है कि व्यञ्जना वृत्ति का जिस रूप में ध्वनिवादी आचार्यों ने उल्लेख किया है क्या उसी रूप में पूर्व आलंकारिकों को अभिप्रेत थी ? यदि नहीं तो वे व्यङ्ग्यार्थ को क्या अलंकारों से अन्तर्भूत मानते थे ? क्योंकि उस काल में अलंकार सम्प्रदाय ही अपनी चरम सीमा पर था । उस समय अलंकार को काव्य के सौन्दर्य के लिये अनिवार्य स्वीकार किया गया था । कविता कामिनी का सौन्दर्य शोभाधायक अलंकारों से द्विगुणित हो रहा था । प्राचीनों के यहां एकमात्र वाच्य को केन्द्र बिन्दु बना कर उसकी सीमा में ही काव्य के विविध तत्वों की सार्थकता का परीक्षण किया जा रहा था । इसलिये आलंकारिक वाच्य के प्राधान्य के चमत्कार से कुछ इस प्रकार व्यामोहित थे जिससे वे काव्य के बाह्य शरीर के अलङ्करण को ही काव्य का सर्वस्व समझ बैठे थे ।

प्राचीन आलंकारिकों में भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट आदि आचार्य प्रमुख हैं । सर्वप्रथम आचार्य भामह की व्यञ्जना वृत्ति विषयक मान्यता द्रष्टव्य है ।

<u>भामह</u> – अलंकार सम्प्रदाय के आदि आचार्य भामह हैं । आचार्य द्वारा रचित "काव्यालंकार" अलंकारों के आकर ग्रन्थ के रूप में जाना जाता है ।

व्यञ्जना वृत्ति का जन्म हुआ व्यङ्ग्यार्थबोध के लिये । इस व्यङ्ग्यार्थ का बोध पूर्वाचार्यों को नहीं था, ऐसी बात नहीं है । काव्यशास्त्र के इतिहास के अन्तर्गत अलंकार सम्प्रदाय के वरिष्ठ संस्थापक आचार्य भामह को भी इस व्यङ्ग्यार्थ का आभास था, तभी तो समासोक्ति का लक्षण करते हुये कहा है कि जहां पर समान विशेषणों के द्वारा कोई भिन्न अर्थ ज्ञात हो, वह समासोक्ति अलंकार है ।1

1– यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः ।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा ।।
– काव्यालंकार 2/79 पृ. 60

व्यञ्जना से लभ्य अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ) भी ध्वनिवादियों के अनुसार वाच्यार्थ से भिन्न ही होता है । अतः भामह ने समासोक्ति के सहारे अर्थान्तर की सत्ता को स्वीकार किया है । इस प्रकार भामह ने स्पष्ट रूप से कहीं भी व्यङ्ग्यार्थ या व्यञ्जना का उल्लेख नहीं किया है, फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि उन्हें व्यङ्ग्यार्थ का आभास नहीं था । आचार्य ने अपने ग्रन्थ में अनेकों व्यङ्ग्याश्रित अलंकारों के लक्षण किये हैं, यथा पर्यायोक्त, व्याजस्तुति आदि । पर्यायोक्त अलंकार के लक्षण में "अन्येन् प्रकारेण अभिधीयते" कह कर व्यञ्जना वृत्ति को परोक्षरूपेण स्वीकार किया है, क्योंकि पूरा व्यङ्ग्य - प्रपञ्च पर्यायोक्त की कुक्षि में प्रविष्ट हो जाता है ।[1]

इसी प्रकार भामह ने अप्रस्तुतप्रशंसा के लक्षण में अप्रस्तुत अर्थ के द्वारा प्रस्तुत की गम्यमानता स्वीकार की है ।

उदाहरणार्थ -

प्रीणतप्रणयि स्वादु काले परिणतं बहु ।
बिना पुरुषकारेण फलं पश्यत शाखिनाम् ।।

अर्थ - वृक्षों के फलों को देखो, जो प्रणयीजनों को प्रसन्न करने वाले, सुस्वादु, समय पर पकने वाले, प्रचुर एवं अनभ्यास-सम्पन्न हैं ।

यहां अप्रस्तुत वृक्ष के फलों के वर्णन से प्रस्तुत में किसी उदारहृदय, दानशील पुरुष की प्रतीति होने से अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है । इस पद्य में अप्रस्तुत "वृक्ष" के साथ प्रस्तुत "पुरुष" का सम्बद्ध अर्थ भी ध्वनित होता है ।

भामह रचित वक्रोक्ति अलंकार में भी अर्थ की व्यङ्ग्यता तथा सौन्दर्य का निर्देश मिलता है । आचार्य भामह ने वक्रोक्ति को अलंकारों का मूल, प्राणतत्व माना है । उनके विचार से वक्रोक्ति अतिशयोक्ति अलंकार का ही पर्याय है । जो शब्दवक्रता और अर्थवक्रता से उद्भूत

1- पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।
उवाच रत्नाहरणे चैद्यं शार्ङ्गधनुर्यथा ।।
- काव्यालंकार 3/8 पृ. 70

होती है । भामह की दृष्टि में वक्रोक्तिविहीन पद काव्य न होकर वार्तामात्र है ।1 वक्रोक्ति से वाणी में चमत्कार आता है, अतः कवियों को उस पर अधिक ध्यान देना चाहिये ।2 आचार्य की दृष्टि में वक्रोक्ति इतनी महत्वपूर्ण है कि हेतु, सूक्ष्म और लेश अलंकारों को वक्रोक्तिविहीन होने के कारण अलंकार नहीं मानते ।3 वक्रोक्तिपर्याय अतिशयोक्ति का महत्व स्वयं आनन्दवर्धन ने भी स्वीकार किया है ।4 वास्तव में यदि देखा जाये तो वक्रोक्तिविहीन और वक्रोक्तियुक्त वाक्यों का भेदक धर्म व्यङ्ग्यार्थ ही होना चाहिये । अतएव यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि भामह को व्यङ्ग्यार्थ की रमणीयता एवं चमत्कृति का भान वक्रोक्ति अथवा अतिशयोक्ति में अवश्य ही था ।

व्यञ्जना की झलक भामह के काव्यालंकार में निहित प्रतिवस्तूपमा में भी देखने को मिलती है । उसका लक्षण इस प्रकार है –

समानवस्तुन्यासेन् प्रतिवस्तूपमोच्यते ।
यथैवाऽनभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतितः5 ।।

महामहोपाध्याय पी॰ वी॰ काणे का विचार है कि भामह का चित्त अलंकारों की महिमा से इतना आक्रान्त था कि उन्होंने रस जैसे तत्वों को भी अलंकारों में समाहित कर लिया और रसवत् अलंकार के रूप में उल्लेख किया है । भामह के विचार से जहाँ पर श्रृंगारादि रस स्पष्ट

1– गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते ।।
– काव्यालंकार, 2/87, पृ॰ 63

2– सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते [illegible]
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽ[illegible] ।।
– [illegible]लंकार, 2/85 [illegible] 62

3– हेतुश्चसूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः [illegible]
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः [illegible]
– काव्या[illegible] पृ॰ 62

4– ॥क॥ प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्यक्रिया ।
कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छायां पुष्यतीति ।
– ध्व॰ पृ॰ 259

॥ख॥ ततश्चोपपन्नमतिशयोक्तिव्यङ्ग्यमिति ।
– लोचन पृ॰ 469

5– काव्यालंकार 2/15

रूप से दिखाये गये हों वही रसवद् अलंकार है ।1 रस के प्राधान्य अथवा गुणत्व के सम्बन्ध में आचार्य भामह मौन हैं । रसवद् के अतिरिक्त आचार्य ने प्रेयस्, ऊर्जस्वि और समाहित का लक्षण नहीं किया है । लोचनकार के अनुसार प्रीतिवर्णन ही प्रेयोऽलंकार है । भमहेन हि गुरुदेवनृपतिपुत्रविषयप्रीतिवर्णनं नाम प्रेयोऽलंकार इत्युक्तम् ।2 किन्तु भामह के पूरे काव्यालंकार के अध्ययन से निष्कर्षतः यह सिद्ध होता है कि वे अलंकारवादी होने के साथ साथ रसों का भी विरोध नहीं करते थे । उन्होंने सर्गबन्ध के लक्षण में रस का स्पष्ट रूप से कथन किया है ।3 काव्य दोष के प्रसङ्ग में कठोर शब्दावली का प्रयोग अनुचित बताया गया है, क्योंकि शब्दार्थों के वैलक्षण्य से ही काव्य हृद्य बनता है ।4 इस प्रकार उक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि अभिधेय से भिन्न कोई अर्थान्तर उनके मस्तिष्क में है तो अवश्य किन्तु शब्दार्थों के आभूषण स्वरूप अलंकारों के व्यामोह में इस ओर उनकी दृष्टि ही नहीं पड़ी ।

<u>दण्डी</u> –

अलंकार – सम्प्रदाय के आद्याचार्यों में दण्डी का मूर्धन्य स्थान है । वास्तविक रूप में भामह और दण्डी का पौर्वापर्य अनिश्चित है, क्योंकि कुछ विद्वान आलोचक दण्डी को आद्याचार्य मानते हैं और कुछ भामह को । यद्यपि पी. वी. काणे ने विस्तृत विवेचन करके दण्डी को पूर्ववर्ती सिद्ध किया है किन्तु बहुमत के प्रति आदर होने के कारण प्रारम्भ भामह से ही किया है । आचार्य दण्डी अलङ्कार सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य माने जाते हैं । आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श नामक ग्रन्थ की रचना की है, जिसमें काव्यगत विभिन्न तत्वों का विवेचन किया है ।

1– रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृंगारादिरसं यथा ।
देवीसमागमद्धर्मस्करिण्यतिरोहिता ।

– काव्यालंकार 3/6

2– ध्व. लोचन पृ. 191–192

3– चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत् ।
युक्तं लोकस्वभावेन् रसैश्च सकलैः पृथक् ।।

– काव्यालंकार 1–81

4– सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत् ।
विलक्षण्यं हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते ।।

– काव्यालंकार 1–6

व्यञ्जना का मूल इनके ग्रन्थ में भी यत्र-तत्र स्पष्ट झलकता है । पर्यायोक्त अलंकार के लक्षण के प्रसंग में आचार्य का जो विचार है वह ध्वनिवादियों के अनुसार व्यञ्जना द्वारा अर्थ का प्रतिपादन ही है । जिस प्रकार दण्डी के मत में पर्यायोक्त अलंकार में अभीष्ट अर्थ को साक्षात् न कह कर प्रकारान्तर से कहना चाहिये,[1] उसी प्रकार ध्वनिवादियों के मत में भी प्रकारान्तर से ही ‹व्यञ्जना द्वारा› प्रतीयमान अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है ।

आचार्य दण्डी ने स्पष्ट रूप में कथित अर्थ को "ग्राम्य" कह कर तुच्छ बताया है ।

"कन्ये कामयमानं मां त्वं न कामयसे कथम् ।
इति ग्राम्योऽयमर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते ।।"[2]

यहां पर प्रेमरूप अर्थ का साक्षात् कथन होने से कोई चारुत्व अथवा चमत्कार नहीं दिखाई पड़ता है तथा वैरस्य, विमुखता उत्पन्न करता है । अतएव दण्डी ने इसे ग्राम्य अर्थ कहा है ।

तथा

"कामं कन्दर्पचाण्डालो मयि वामाक्षि निर्दयः ।
त्वयि निर्मत्सरो दिष्ट्येत्यग्राम्योऽर्थो रसावहः ।।"[3]

इस पद्य में पूर्वोक्त अर्थ "प्रेम" की ही अभिव्यक्ति साक्षात् रूप से न होकर प्रकारान्तर से प्रतिपादित की गई है । उनके मत में उक्त पद्य में अग्राम्यता का अर्थ वैदग्ध्य है । जिसके कारण विप्रलम्भ श्रृंगार की पुष्टि होती है, जो कि अत्यधिक हृदयावर्जक तथा रमणीय है । इस प्रकार की उक्ति ही ध्वनिवादियों को मान्य है । उनके विचार से भी अभिधया साक्षात् अर्थ-बोध उतना महत्वपूर्ण और रमणीय नहीं है, जितना

1- इष्टमर्थमनाख्याय साक्षात्तस्यैव सिद्धये ।
यत्प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते ।।
— काव्यादर्श 2-295 पृ. 189

2- काव्यादर्श - 1-63 पृ. 52

3- काव्यादर्श - 1-64 पृ. 52

व्यञ्जनया अर्थ-बोध ।1

आचार्य दण्डी ने उत्प्रेक्षा के व्यञ्जक शब्दों की गणना करते हुये "व्यज्यते" शब्द का प्रयोग किया है ।2 दण्डी ने समाधि गुण के प्रसङ्ग में शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग पर बल दिया है । उदाहरणार्थ -

"निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम् ।
अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्यकक्षां विगाहते ।।
पद्मान्यर्कांशुनिष्ठ्यूताः पीत्वा पावकविप्रुषः ।
भूयो वमन्तीव मुखैरुद्गीर्णारुणरेणुभिः ।
इति हृद्यमहृद्यं तु निष्ठीवति वधूरिति" ।।3

प्रस्तुत पद्य में शब्द मुख्यार्थ को छोड़कर अन्यार्थ का बोध कराते हैं । जिससे उदाहरण मनोहर तथा अग्राम्य बन पड़ा है जो कि आचार्य दण्डी को अभीष्ट है । इस समाधि गुण को दण्डी ने काव्य-सर्वस्व माना है ।4 व्यञ्जनावादियों की व्यञ्जना भी कुछ इसी तरह से काव्यजगत में व्यापार करती हुई काव्य-सर्वस्व तथा काव्यात्मत्व की कोटि पर अधिष्ठित है ।

उद्भट -

आचार्य भामह के बाद अलंकार-प्रस्थान को आगे बढ़ाने में उद्भट का योगदान सराहनीय है । उद्भट ने मुख्यतः भामह के काव्यालंकार में

1- अशब्दमर्थं रमणीयं हि सूचयतो व्यवहारास्तथाव्यापारा निबद्धाश्चानिबद्धाश्च विदग्धपरिषत्सु विविधा विभाव्यन्ते । तानुपहास्यतामात्मनः परिहरन् कोऽतिसन्दधीत् सचेताः ।

- ध्व॰ पृ॰ 484

2- मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः ।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः ।।

- काव्यादर्श 2/234

3- काव्यादर्श 1-95, 96

4- तदेतत् काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः ।
कविसार्थः समग्रोऽपि तमेनमनुगच्छति ।।

- काव्यादर्श 1-100

निहित तत्वों का विवेचन किया है किन्तु कई स्थानों पर उनका विरोध कर अपने विशेष मन्तव्य प्रकट किये हैं।

उद्भट ने ग्रन्थ "काव्यालंकारसारसंग्रह" में भी व्यञ्जना के बीज यत्र-तत्र बिखरे हुये प्रतीत होते हैं । उदाहरणस्वरूप पर्यायोक्त अलंकार का लक्षण द्रष्टव्य है – –

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना ।।1

उद्भट द्वारा विवेचित पर्यायोक्त अलंकार में प्रतीयमानार्थ के प्रत्यायक अभिधातिरिक्त किसी अन्य व्यापार की परिकल्पना की गई है । वह व्यापार ध्वनिसम्प्रदाय के अनुयायियों के अनुसार निश्चित रूप से व्यञ्जना ही है । उद्भटकृत "काव्यालंकारसारसंग्रह" की प्रतिहारेन्दुराजकृत "टीका" से यह सुस्पष्ट है कि पर्यायोक्त अलंकार में अर्थान्तर की प्रतीति अभिधा, तात्पर्या वृत्ति को छोड़कर किसी अन्य व्यापार द्वारा बोधगम्य हो ।2 राजानक तिलककृत विवृत्ति टीका भी इसी प्रसंग में द्रष्टव्य है । जिन्होंने पूर्वोक्त मत का ही समर्थन किया है ।3

आचार्य उद्भट दीपक अलंकार के लक्षण के प्रसंग में भी व्यञ्जना को अनजाने में ही स्पर्श कर गये हैं, जिसका लक्षण द्रष्टव्य है ।

1– का॰ सा॰ सं॰ 4/6 पृ॰ 359

2– वाचकस्याभिधायकस्य स्वशब्दस्य वृत्तिर्व्यापारो वाच्यार्थप्रत्यायनम् । वाच्यस्य त्वभिधेयस्य व्यापारो वाच्यान्तरेण सहाकांक्षासन्निधि-योग्यतामाहात्म्यात्संसर्गगमनम् । एवंविधश्च यो वाच्यावाचकयो-र्व्यापारस्तमन्तरेणापि प्रकारान्तरेणार्थसामर्थ्यात्मनावगम स्वभावेन् यदवगम्यते तत्पर्यायेण स्वकण्ठानभिहितमपि सान्तरेण शब्द-व्यापारेणावगम्यमानत्वात्पर्यायोक्तं वस्तु ।

– प्रतिहारेन्दुराजकृता लघुवृत्ति टीका पृ॰ 359

3– वाचकवृत्तिरभिधा । वाच्यवृत्तिराकांक्षासन्निधियोग्यतावशात् संसर्गगमनम् । ताभ्यां विनार्थसामर्थ्यात्मनाऽवगमस्वभावेन यत् प्रतिपाद्यते तत्पर्यायेणान्येन रूपेणाभिधानमिति पर्यायोक्तम् ।

– राजानकतिलककृतविवृत्ति टीका पृ॰ 35

"आदिमध्यान्तविषया: प्राधान्येतरयोगिन: ।
अन्तर्गतोपमाधर्मा: यत्र तद्दीपकं विदु: ।।1

अर्थात् इस लक्षण में उपमानोपमेयभाव की व्यङ्ग्यता का संकेत "अन्तर्गतोपमा धर्मा:" में निहित प्रतीत होता है ।

व्याजस्तुति अलंकार की परिभाषा आचार्य ने इस प्रकार की है --

शब्दशक्तिस्वभावेन यत्र निन्देव गम्यते ।
वस्तुस्तु स्तुति श्रेष्ठा व्याजस्तुतिरसौ मता ।।2

अर्थात् जहां आपातत: निन्दा प्रकट होती है तथा तात्पर्यत: इसके विपरीत स्तुति प्रतीत होती है वहां व्याजस्तुति अलंकार है । स्पष्ट ही है कि जब अभिधा एक अर्थ (निन्दा) देकर विरत हो गई तब किसी अन्य व्यापार से ही स्तुति रूप अर्थ निकलेगा । अतएव यहां पर व्यञ्जना व्यापार ही परोक्षरूपेण ग्राह्य है ।

अप्रस्तुतप्रशंसा की परिभाषा में भी तुरीया शक्ति व्यञ्जना का संकेत मिलता है ।

"अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुति: ।
अप्रस्तुत प्रशंसेयं प्रस्तुतार्थानुबन्धिनी ।।3

अप्रस्तुतप्रशंसा वहां होती है जहां अप्राकरणिक अर्थात् अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा प्रस्तुत की स्तुति होती है । अप्रस्तुतप्रशंसा में दो अर्थ निकलते हैं - (1) वाच्य, (2) व्यङ्ग्य । इस व्यङ्ग्य अर्थ के आधार पर व्यञ्जना की सत्ता असंदिग्ध रूप से सिद्ध होती है ।

उद्भट ने परुषा, ग्राम्या, उपनागरिका वृत्तियों के आधार पर अनुप्रास के जो तीन भेद किये हैं, वे इस बात के द्योतक हैं कि उद्भट

1- का० सा० सं० - पृ० 276
2- का० सा० सं० - पृ० 381
3- का० सा० सं० - 5 वर्ग - 8, पृ० 380

शब्दों के स्वरूप का व्यञ्जकत्व स्वीकार करते थे ।1 ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने स्पष्टतः अपना मत प्रस्तुत किया है कि उद्भट ने भामह - विवरण में शब्द - विशेषों का जो चारुत्व प्रदर्शित किया है, वह व्यञ्जना के कारण ही व्यवस्थित होता है । उद्भट को अभिधाश्रित रूपकादि अलंकार की कहीं-कहीं प्रतीयमानता भी अभीष्ट थी, ऐसा ध्वनिकार ने कहा है । इसकी टीका करते हुये लोचनकार कहते हैं कि "अर्थशक्ति के द्वारा अलंकार व्यङ्ग्य होते हैं, यह बात उद्भटादि को मान्य थी, किन्तु उन्होंने इस प्रकार के व्यङ्ग्यत्व को भी वाच्यालंकारों का विषय बनाया है" ।2

आनन्दवर्धन से पूर्व भामह, उद्भट आदि आचार्यों ने अभिधा, लक्षणा आदि शब्द शक्तियों का तो उल्लेख किया3 किन्तु व्यञ्जना नामक वृत्ति का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया, फिर भी उन आलंकारिकों की बुद्धि में स्फुरित होती हुई व्यञ्जना का चाकचिक्य तथा लोकातिशायी स्वरूप किञ्चित् प्रकट हुआ है, अतः आचार्य आनन्दवर्धन कहते हैं कि

1- सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु ।
पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा ।।
त्रिष्वेतेषु यथायोगं रसाद्यभिव्यक्त्यनुगुणेषु वर्णव्यवहारेषु यः
सरूपाणां व्यञ्जनानां पृथक् पृथगुपनिबन्धस्तमनुप्रासं कवयः
सदेच्छन्तीति । अतस्तास्तावद्वृत्तयो रसाद्यभिव्यक्त्यनुगुण-
वर्णव्यवहारात्मिकाः प्रथममभिधीयन्ते । ताश्च तिस्त्रः
परुषोपनागरिकाग्राम्यत्वभेदात् ।

- का० सा० सं० - लघुवृत्तिटीका - पृ० 4

2- §क§ अन्यत्र वाच्यत्वेन् प्रसिद्धो यो रूपकादिरलङ्कारः
सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन् प्रदर्शितस्तत्रभट्टोद्भटादिभिः ।

- ध्व० लो० द्वि० उ० पृ० 279

§ख§ वाच्यालंकारविशेषविषये व्यङ्ग्यालंकारविशेषो भाती -
त्युद्भटादिभिरुक्त मेवेत्यर्थशक्त्यालंकारो व्यज्यत इति
तैरुपगतमेव । केवलं ते अलंकारलक्षणकारत्वाद्वाच्यालंकार-
विशेषविषयत्वेनाहुरिति भावः ।

- ध्व० लो० पृ० 280

3- "भामहेनोक्तम् शब्दश्छन्दोऽभिधानार्थाः इति अभिधानस्य शब्दाद् भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे -शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च" । - ध्व० लो० पृ० 34

काव्यलक्षणकारों ने अमुख्य वृत्ति से काव्यों के व्यवहार दिखलाते हुये ध्वनि सिद्धान्त का कुछ स्पर्श अवश्य किया था ।1

वामन –

रीति सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है2 । उन्होंने गुणों को काव्य – सौन्दर्य का हेतु माना है । दोषों के त्याग तथा गुणों के उपादान से ही काव्य की शोभा होती है ।3 आचार्य वामन अलंकारों को काव्य–शोभा के हेतु नहीं मानते हैं । उनकी दृष्टि में अलंकार काव्य के सौन्दर्यवर्धकमात्र हैं । इस भेद का कारण भी आचार्य स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि शब्द एवम् अर्थ के जो धर्म काव्य–शोभा को उत्पन्न करने वाले हैं, वे ही गुण हैं । ओज, माधुर्य, प्रसाद आदि गुण बिना अलंकारों के भी काव्य की शोभा को उत्पन्न कर सकते हैं, किन्तु अलंकारों में ऐसी क्षमता नहीं है । इसी कारण आचार्य ने गुणों को नित्य तथा अलंकारों को अनित्य माना है । आचार्य इसे और भी स्पष्ट करते हुये कहते हैं –

1– काव्यलक्षणविधायिभिः अमुख्या वृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक्स्पृष्टोऽपि न लक्षितः ।

– ध्व. पृ. 34

2– रीतिरात्मा काव्यस्य –

– का. सू. वृ. 1/2/6

3– स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम् ।

– का. सू. वृ. 1/1/3

4– (क) काव्यशोभायाः कर्तारो गुणाः तदतिशयहेतवः अलंकाराः

– का. सू. वृ. 3/1/1, 2

(ख) ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः । ते चौजः प्रसादादयः । न यमकोपमादयः । कैवल्येन तेषाम् काव्यशोभाकरत्वात् । ओजः प्रसादादीनां तु केवलानामस्ति काव्यशोभाकरत्वमिति ।. . . . पूर्वे गुणा नित्याः तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः ।

– का. सू. वृ. 3/1/1, 3 की वृत्ति

युवतेरिव रूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव ।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलंकारविकल्पकल्पनाभिः ।।
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनबन्ध्यमङ्गनायाः ।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियमतमलंकरणानि संश्रयन्ते ।।

युवती का रूप मूलतः शुद्ध गुणों से युक्त हो तो वह अलंकार से रहित भी अच्छी लगेगी, उसी प्रकार शुद्ध गुणों से युक्त काव्य भी सहृदयहृदयावर्जक होता है और यदि उन दोनों को क्रमशः आभूषणों तथा अलंकारों से सुसज्जित कर दिया जाये तो शोभा और अधिक हो जायेगी, किन्तु युवती के लावण्यहीन शरीर के समान यदि काव्य गुणहीन हो तो उनमें अलंकार का प्रयोग करने पर भी वे अलंकार वैरस्य ही उत्पन्न करते हैं ।

इस प्रकार उनकी दृष्टि में अलंकारों की गौणता एवं गुणों के प्राधान्य से ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य वामन ध्वनि सिद्धान्त की ओर उन्मुख हैं । वामन ने "सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः" कह कर सादृश्यमूला गौणी लक्षणा को वक्रोक्ति अलंकार कहा है । आचार्य रुय्यक के अनुसार वामन ने सम्भवतः किसी ध्वनि भेद (अविवक्षितवाच्यध्वनि) को ही अलंकार रूप में उल्लेख किया है ।1 वामन ने गुणों से विशिष्ट पदरचनात्मिका रीति को काव्य की आत्मा माना है2 तथा रीति का वैशिष्ट्य गुण मानकर वे रसरूप व्यङ्ग्यार्थ के सौन्दर्य और चाकचिक्य से भलीभाँति परिचित थे । इस प्रकार वामन व्यङ्ग्यार्थ के समर्थक आचार्य सिद्ध होते हैं, क्योंकि ध्वन्यालोक में गुण रसपर्यवसायी माने गये हैं ।3

1– .... वामनेन तु सादृश्यनिबन्धनाया लक्षणाया वक्रोक्त्यलंकारत्वं ब्रुवता कश्चिद् ध्वनिभेदोऽलंकारतयैवोक्तः ।
— अलंकार सर्वस्व पृ. 6

2– विशिष्टा पदरचना रीतिः, विशेषो गुणात्मा ।
— का. सू. वृ. 1/2/78

3– रीतिर्हि गुणेष्वेव पर्यवसिता, यदाह विशेषो गुणात्मा, गुणाश्च रसपर्यवसायिन एव ।
— ध्व. पृ. 517

वामन के विचार से सौन्दर्य ही अलंकार है ।[1] इस प्रकार अलंकार में व्यङ्ग्यार्थ के लावण्य को खोजने की चेष्टा की है । वामन के अनुसार सौन्दर्य प्रतीति ही काव्य का रहस्य है ।

इस प्रकार वामन भी अपने ग्रन्थ में व्यञ्जना का स्पष्ट शब्दों में कथन न करके रीति के माध्यम से ध्वनिमार्ग की ओर अग्रसर थे । उन्होंने प्रतीयमानार्थ के रहस्य को कही अलंकार कह कर, कहीं गुणों की प्रधानता बताकर समाहित किया था ।

आनन्दवर्धन के विचार से रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य वामन को रसध्वनि रूप काव्यतत्व का अस्फुट आभास अवश्य था, जिसका प्रतिपादन वे न कर सके और रीतियों को प्रवर्तित कर दिया ।[2] वामन ने गुण का रस में पर्यवसान मानकर रसध्वनि की रमणीयता को पहचानने का प्रयास किया है । उन्होंने गुणों का अस्तित्व रस रूप प्रतीयमानार्थ में देखा जो कि ध्वनि सिद्धान्त का आधार है । इस प्रकार वामन और आनन्दवर्धन के विचार में पर्याप्त साम्य है भेद केवल आरम्भिक भूमिका का है । आनन्दवर्धन रस की आस्वाद्य भूमिका से उत्तम काव्य की रचना करते हैं, तथा वामन सौन्दर्य की चैतन्य भूमिका से । आनन्दवर्धन अलंकारों एवं रीति को अधिक महत्व नहीं देते जबकि वामन उन पर भी पर्याप्त ध्यान देते हैं । निष्कर्षतः भामह, उद्भट आदि की अपेक्षा वामन ध्वनिवादियों के अधिक समीप हैं ।

1- काव्यं ग्राह्यमलंकारात् । सौन्दर्यमलंकारः ।
— का० सू० वृ० 1/1/1, 2

2- एतद् ध्वनिप्रवर्तनेन निर्णीतं काव्यतत्वमस्फुटस्फुरितं सदशक्नुवद्भिः प्रतिपादयितुं वैदर्भी, गौणी, पाञ्चाली चेति रीतयः सम्प्रवर्तिताः । रीतिलक्षणविधायिनां हि काव्यतत्वमेतद स्फुटतया मनाक् स्फुरितमासीसदिति लक्ष्यते ।
— ध्व० 3/46, पृ० 517

रूद्रट –

आचार्य वामन के पश्चात् साहित्य-जगत में आचार्य रूद्रट §825–850 ई.§ का प्रादुर्भाव हुआ।1 आचार्य रूद्रट ने "भाव" नामक अलंकार का प्रतिपादन करके ध्वनि-सिद्धान्त का सामीप्य प्राप्त कर लिया है ।

आचार्य रूद्रट ने भाव अलंकार के दो भेद बताये हैं । प्रथमभेद का लक्षण करते हुये आचार्य कहते हैं – जिसका विकार जिस अनियत कारण से उत्पन्न होता हुआ उसके §कार्य कारण सम्बन्धरूप§ अभिप्राय का तथा उस §कार्यकारणसम्बन्धरूप§ प्रतिबन्ध का बोध कराये, वह भाव नामक अलंकार होता है ।2

उदाहरण --

"ग्रामतरूणं तरूण्या नवकञ्जुलमञ्जरी सनाथकरम् ।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया" ।।

नवीन वञ्जुल की मञ्जरी से सुशोभित हाथ वाले ग्राम के उस युवक को बार-बार देखती हुई युवती के मुख की कान्ति मलिन हो रही थी ।

प्रस्तुत पद्य में मुखमालिन्यरूप विकार §कार्य§ तथा उसका कारण वञ्जुल की मञ्जरी का दिखाई देना अप्रतिबद्ध है क्योंकि सदैव मञ्जरी के दिखाई पड़ने पर यह विकार नहीं होता । यहां पर मलिनता ही युवक के प्रति नायिका के अनुराग को व्यक्त कर रही है । निश्चय ही इस नायिका ने उस युवक को वञ्जुल वन में मिलने को कहा होगा और

1– He was probably a contemporary of or a little older than the author of the and flourished about 825–850 A.D.

– History of Sanskrit Poetics (P.V. Kane) Page–155

2– यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबन्धेन हेतुना येन ।
गमयति तमभिप्रायं तत्प्रतिबन्धन्च भावोऽसौ ।

– काव्यालंकार 7–38

वह वहां न पहुंच सकी । मन्जरी के द्वारा उस युवक को सङ्केत स्थल से लौटा हुआ जानकर उसका मुख मलिन हो गया क्योंकि उस सुख से वञ्चित रही । यहां पर मुख की मलिनता से उसका अभिप्राय सूचित हो गया । प्रस्तुत भाव अलंकार के लक्षण में प्रयुक्त अभिप्राय शब्द निश्चय ही व्यङ्ग्य है । क्योंकि आनन्दवर्धन ने स्वयं ही कहा है कि वक्ता का अभिप्राय तो सदा व्यङ्ग्य ही होता है क्योंकि उसके साथ अभिधान ॾकथनॾ का वाच्य-वाचक सम्बन्ध नहीं होता ।1 प्रस्तुत पद्य में भी मुखमलिनता का और नायिका के अभिप्राय का कोई वाच्य-वाचक सम्बन्ध नहीं है ।

भाव अलंकार के दूसरे भेद के लक्षण में तो व्यञ्जना का संकेत सुस्पष्ट है -

"उस वाच्य अर्थ को प्रकट करता हुआ, उससे भिन्न समस्त गुण-दोष वाला वाक्य जहां दूसरे अर्थ का बोध कराता है, वहां भाव अलंकार का दूसरा भेद होता है"2 - प्रस्तुत भाव अलंकार के लक्षण में "अर्थान्तरम्" और "अवगमयति" ये दो पद द्रष्टव्य हैं । "अर्थान्तरम्" का अर्थ है वाच्य से भिन्न कोई अर्थ । वह अर्थान्तर व्यङ्ग्यार्थ ही हो सकता है, क्योंकि मुख्यार्थ-बाधादि के अभाव में लक्ष्यार्थ हो नहीं सकता । "अवगमन" पद भी व्यञ्जना का वाचक है ।3 अतएव यह अर्थान्तर प्रतीयमानार्थ के लिये ही प्रयुक्त हुआ है । उदाहरणार्थ --

एकाकिनी यदबला तरुणी तथाऽहमस्मिन्गृहे गृहपतिरुपगतो विदेशम् ।
किं याचसे तदिह वासमियं वराकी श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ़ पान्थ ।

1- पौरुषेयाणि च वाक्यानि प्राधान्येन् पुरुषाभिप्रायमेव प्रकाशयन्ति ।
स च व्यङ्ग्य एव न त्वभिधेयः तेन सहाभिधानस्य वाच्यवाचक-
भावलक्षणसम्बन्धाभावात् ।

- ध्व० पृ० 440

2- अभिधेयमभिदधानं तदेव तदसदृशसकलगुणदोषम् ।
अर्थान्तरमवगमयति यद्वाक्यं सोऽपरो भावः ।।

- काव्यालंकार 7/40

3- ....असौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यञ्जनप्रत्यायनावगमनादि-
सोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः ।

- ध्व० प्र० उ० पृ० 60

प्रस्तुत उदाहरण में वाच्यार्थ निषेधपरक होते हुये भी पथिक को अपने गृह में वास देने की अनुमति अर्थात् विधिरूप अर्थान्तर को भी व्यक्त करता है । इस प्रकार आचार्य रुद्रट ने भाव अलंकार के लक्षण से यह स्पष्ट कर दिया कि उन्हें यथाकथञ्चित् व्यञ्जना, व्यङ्ग्यार्थ का अवश्य ही भान था तभी तो उन्होंने स्पष्टरूप से "अवगमयति" एवं "अर्थान्तर" पदों का प्रयोग किया था । इसका एक स्पष्ट प्रमाण यह भी है कि परवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों मम्मट, लोचनकार आदि ने वस्तुध्वनि अथवा 'गुणीभूतव्यङ्ग्य के लगभग वे ही उदाहरण दिये हैं जो आचार्य रुद्रट ने भाव अलंकार के उदाहरणस्वरूप दिये हैं ।

अलंकार सम्प्रदाय के प्रतिनिधि आचार्य होते हुये भी रुद्रट ने भरत प्रोक्त रस सिद्धान्त का सम्पूर्ण विवेचन किया है । रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु ने स्पष्ट कर दिया है कि वे रस की अलंकारों से पृथक् सत्ता मानते थे,[1] यद्यपि उनसे पहले भामह, दण्डी, उद्भट आदि आचार्यों ने रसवत्, प्रेयस् आदि अलंकारों में रस को अन्तर्भूत करने का प्रयत्न किया था। यही कारण है कि जो रुद्रट को व्यञ्जना वृत्ति से अत्यधिक समीप ले आया,क्योंकि रस तो स्वयं व्यङ्ग्य है। इस प्रकार रुद्रट के "काव्यालंकार" में निहित भाव अलंकार में व्यञ्जना की स्पष्ट झलक मिलती है अतएव उन्हें ध्वनि सिद्धान्त का अग्रदूत कहा जा सकता है।

अग्नि पुराण –

अग्नि पुराण में व्यञ्जना के बीज पूर्ववर्ती भामह, दण्डी के ही समान अलंकारों के माध्यम से यत्र-तत्र बिखरे हुये दिखाई पड़ते हैं । अग्निपुराण में काव्याङ्गों यथा गुण, अलंकार, रसादि का विवेचन किया गया है । अग्निपुराणकार ने अभिव्यक्ति नामक अलंकार का उल्लेख किया है, जिसके दो भेद हैं (1) श्रुति, (2) आक्षेप । तदनन्तर श्रुति के दो भेद होते हैं – नैमित्तिकी एवम् पारिभाषिकी । इसमें पारिभाषिकी से अभिधा का संकेत मिलता है तथा नैमित्तिकी से लक्षणा

1– अथालंकारमध्य रसा अपि किं नोक्ताः । उच्यते काव्यस्य हि शब्दार्थौ शरीरम् । तस्य च वक्रोक्तिवास्तवादयः कटककुण्डलादय इव कृत्रिमा अलंकाराः । रसास्तु सौन्दर्यादय इव सहजा गुणाः इति भिन्नस्तत्प्रकरणारम्भः ।

– काव्यालंकार पृ॰ 373, 12 अध्याय

का ।1 आक्षेप अलंकार की जो परिभाषा अग्निपुराणकार ने दी है उससे व्यञ्जना तथा ध्वनि दोनों का ही स्पष्ट संकेत मिलता है । आक्षेप की परिभाषा द्रष्टव्य है --

श्रुतेरलभ्यमानोऽर्थो यस्माद्भाति सचेतनः ।
स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यञ्जते यतः ।2

अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा जिससे अप्राप्य अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, वह आक्षेप नामक अलंकार है। यह आक्षेप अलंकार "ध्वनि" है। क्योंकि इसकी प्रतीति ध्वनिना अर्थात् व्यञ्जनया होती है ।

शव्देनार्थेन् यत्रार्थः कृत्वा स्वयमुपार्जनम् ।
प्रतिषेधः इवेष्टस्य यो विशेषो अभिधित्सया ।।3

जहां शब्द एवम् अर्थ द्वारा स्वयं को गौण करके किसी विशेष बात को कहने की इच्छा से उसका प्रतिषेध सा किया जाता है, वह आक्षेप अलंकार है ।

अग्निपुराण में पर्यायोक्त अलंकार का लक्षण इस प्रकार किया है --

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।4
एषामेकतमस्यैव समाख्याध्वनिरित्यतः ।5

1- प्रकटत्वमभिव्यक्तिः श्रुतिराक्षेप इत्यपि ।
तस्याभेदो श्रुतिस्तत्र शाब्दं स्वार्थसमर्पणम् ।
भवेन्नैमित्तिकी परिभाषिकी द्विविधैव सा।
सङ्केतः पारिभाषेति ततः स्यात् पारिभाषिकी ।
मुख्यौपचारिकी चेति सा च सा च द्विधा द्विधा।।
- अग्निपुराण पृ· 345-49

2- अग्निपुराण अध्याय 345 - कारिका 14

3- अग्निपुराण अध्याय 345 - कारिका 15

4- अग्निपुराण अध्याय 345 - कारिका 18

5- अग्निपुराण अध्याय 345 - कारिका 19

अर्थात् इन प्रकारों में से एक प्रकार ध्वनि भी कहा गया है, अथवा इन उपर्युक्त अलंकारों को सामूहिक रूप से ध्वनि कहा गया है ।

इससे सिद्ध होता है कि अग्निपुराणकार भली भांति ध्वनि तथा व्यञ्जना व्यापार से परिचित थे । ध्वनि की परिभाषा आनन्दवर्धन ने जो अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक में दी है, उससे अग्निपुराण की परिभाषा पर्याप्त साम्य रखती है ।

अग्निपुराण में श्रृंगाररस निरूपण के प्रसङ्ग में उद्धृत की हुई कारिका यह सिद्ध कर देती है कि वे रस को व्यङ्ग्य ही मानते थे ।[1] अतएव उन्हें व्यञ्जना व्यापार तो मान्य ही था भले ही ध्वनि-सिद्धान्त के विषय में पूर्ण ज्ञान न रहा हो ।

आनन्दवर्धन –

पूर्वकाल के सभी काव्य प्रस्थानों पर विचार करते हुये आनन्दवर्धन ने साहित्यशास्त्र में एक नवीन वृत्ति की उद्भावना की, जिसको व्यञ्जना नाम दिया । आचार्य ने इस वृत्ति को चतुर्थक-क्ष्यानिवेशी कह कर इसे अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य (तीनों वृत्तियों) से पृथक् सिद्ध किया है ।[2] ध्वनि सिद्धान्त जो कि आचार्य आनन्दवर्धन की एक महानतम उपलब्धि है, उसका मूल आधार व्यङ्ग्यार्थ है । उस व्यङ्ग्यार्थ की अवबोधिका ही यह व्यञ्जना है । नवीं शताब्दी में आचार्य ने इस ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना की । महाकवियों के काव्य में व्यञ्जना व्यापार ही प्रधान होता है । अन्य वाङ्मय प्रकारों से साहित्य की भिन्नता दर्शाने वाला यही भेदक लक्षण है ।

साहित्य क्षेत्र में यदि कहा जाये कि "व्यञ्जना" शब्द का नवीन प्रयोग था तो ऐसी बात नहीं, जैसा कि इसी अध्याय में पहले प्रतिपादित

1– आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन् ।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया ।।
– अग्निपुराण – अ० 339

2– तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौव्यापारो ध्वनद्योतनव्यञ्जन-प्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः ।
– ध्व० प्र० उ० पृ० 60

के प्रसङ्ग में लक्षणामूला व्यञ्जना का ही प्रारम्भ में लक्षण किया है ।[1]

व्यञ्जना-विभाग भी सर्वप्रथम आचार्य मम्मट ने ही किया है ।[2] उससे पूर्व आचार्य आनन्दवर्धन ने तो व्यञ्जना-विभाग पर कहीं प्रकाश नहीं डाला है ।

आचार्य विश्वनाथ ने जो व्यञ्जनावृत्ति की परिभाषा दी है, वह निसन्देह अत्यधिक स्पष्ट, तर्कसंगत और अकाट्य है । साहित्यदर्पणकार के द्वारा दिये गये व्यञ्जना वृत्ति के लक्षण में व्यञ्जना का स्वरूप तथा अपरिहार्यता दोनों ही सिद्ध हो जाते हैं ।[3]

आचार्य नागेशभट्ट ने व्यञ्जना का स्वरूप स्पष्ट करते हुये कहा है कि व्यञ्जना एक स्वतन्त्र एवं विलक्षण व्यापार है । उसको लक्षणा के समान मुख्यार्थ-बोधादि की अपेक्षा नहीं है । मुख्यार्थ से सम्बन्धित अथवा असम्बन्धित, प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध अर्थ को विषय बनाने वाला, वक्ता आदि के वैशिष्ट्य के ज्ञान तथा प्रतिभा से जन्य संस्कार ही व्यञ्जना है,[4] क्योंकि लक्षणा के मुख्यार्थ-बाध और मुख्यार्थ-सम्बन्ध आदि के न होने पर भी व्यञ्जना को स्वीकार किया गया है । "वक्ता आदि के वैशिष्ट्य" से आर्थी व्यञ्जना का ग्रहण हो जाता है । आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में आर्थी व्यञ्जना का स्वरूप निरूपण करते हुये बताया है कि वक्तृ-वैशिष्ट्य आदि के कारण सहृदयों को विशेष अर्थ की प्रतीति कराने वाला

1- यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ।।
— का॰ प्र॰ 2/14, 15

2- एवं लक्षणामूलं व्यञ्जकत्वमुक्तम् । अभिधामूलं त्वाह ।
— का॰ प्र॰ द्वि॰ उ॰ पृ॰ 88

3- विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यते परः ।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ।।
— सा॰ द॰ पृ॰ 39

4- मुख्यार्थबाधनिरपेक्षबोधजनको मुख्यार्थसम्बन्धासम्बन्धसाधारणः
प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थविषयको वक्त्रादिवैशिष्ट्यज्ञानप्रतिभाद्युद्बुद्धः
संस्कारविशेषो व्यञ्जना ।
— परमलघु मंजूषा, पृ॰ 53

अर्थ व्यापार ही आर्थी व्यञ्जना है ।[1]

आचार्य आनन्दवर्धन ने भी यह स्वीकार किया है कि व्यङ्ग्यार्थ तत्वार्थदर्शी बुद्धि में ही स्फुरित होता है, सर्वजन संवेद्य नहीं है ।[2]

आचार्य हेमचन्द्र ने अभिनवगुप्त की ही सरणि पर व्यञ्जना का लक्षण किया है ।[3] आचार्य रुय्यक ने ध्वनिकार के मत को उद्धृत करते हुये उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त से अपनी सहमति प्रकट की है ।[4] आचार्य रुय्यक ने व्यञ्जना की पृथक् कोई परिभाषा नहीं दी है, न ही पण्डित जगन्नाथ ने व्यञ्जना की परिभाषा दी है, यद्यपि ये ध्वनि सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं और इन्होंने अपने ग्रन्थ में ध्वनि के भेदों का विवेचन किया है ।

1- वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः ।।21।।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम्
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ।।22।।

— का. प्र. तृ. उल्लास

2- (क) तद्वत्सचेतसां योऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम् ।
बुद्धौ तत्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते ।।

— ध्व. 1-12

(ख) येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः ।

— ध्व. प्र. उ. पृ. 57

3- तच्छक्त्युपजनितार्थावगमपवित्रितप्रतिपत्तृप्रतिभासहायार्थ द्योतनशक्तिर्व्यञ्जकत्वम् ।

— काव्यानुशासन पृ. 23

4- ध्वनिकारः पुनरभिधालक्षणातात्पर्याख्यव्यापारत्रयोत्तीर्णस्य ध्वननद्योतनादिशब्दाभिधेयस्य व्यञ्जनव्यापारस्यावश्याभ्युपगन्तव्यत्वाद् व्यापारस्य च वाक्यार्थत्वाभावाद् वाक्यार्थस्यैव व्यङ्ग्यरूपस्यगुणालंकारोपस्कर्तव्येन् प्राधान्याद् विश्रान्तिधामत्वादात्मत्वं सिद्धान्तितवान् ।

— अलंकार सर्वस्व पृ. 9

आचार्य जयदेव ने व्यञ्जना व्यापार की उपमा चंचल नेत्रों वाली सुन्दरी से दी है । जिस प्रकार चंचलाक्षी नायिका के अवलोकन में नेत्रों की बाह्य क्रिया के अतिरिक्त एक दूसरा भी आन्तरिक भाव छिपा रहता है, उसी प्रकार शब्द के वाच्यार्थ के अतिरिक्त एक अन्य अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ) भी छिपा रहता है जो कि व्यञ्जनागम्य ही है ।[1]

इस प्रकार सभी ध्वनिवादी आचार्यों की व्यञ्जना-विषयक 'मान्यताएं आचार्य आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के दृष्टिकोण पर ही आधारित हैं ।

1- साम्मुख्यं विदधानायाः स्फुटमर्थान्तरे गिरः ।
कटाक्ष इव लोलाक्ष्या व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ।।
— चन्द्रलोकः सप्तम मयूखः ।

तृतीय अध्याय

व्यञ्जना के भेद

विगत अध्यायों में व्यञ्जना के निरूपण के पश्चात् व्यञ्जना विभाग पर विचार अपरिहार्य हो जाता है। अतएव व्यञ्जना विभाग का निरूपण दर्शनीय है। व्यञ्जना वृत्ति के जन्मदाता आचार्य आनन्दवर्धन ने व्यञ्जना के भेदोपभेद पर विचार नहीं किया क्योंकि ध्वन्यालोक में उनका प्रतिपाद्य विषय "ध्वनि" था, किन्तु ध्वनि सिद्धान्त के प्रबल समर्थक आचार्य मम्मट ने काव्य प्रकाश में व्यञ्जना के भेदों की चर्चा की है। जिनके आधार पर अन्य आचार्यों ने भी अपने ग्रन्थों में व्यञ्जना भेद पर प्रकाश डाला है ।

यद्यपि यही मानना उचित है कि आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में कहीं पर भी व्यञ्जना भेद की चर्चा नहीं की है किन्तु मम्मटकृत व्यञ्जना विभाग ध्वनिकार की ही देन है । यह आचार्य मम्मट की मौलिक उद्भावना नहीं है । इस बात का प्रमाण ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत की तेरहवीं कारिका है।[1] इस सन्दर्भ में उसमें आये हुए "व्यङ्.क्तः" पद की अभिनवगुप्तकृत व्याख्या विचारणीय है । प्रस्तुत कारिका में एक ओर तो "अर्थ :शब्दो वा" पद प्रयुक्त है और दूसरी ओर "व्यङ्.क्तः" पद । इसको बड़े ही स्पष्ट ढंग से लोचनकार समझाते हुये कहते हैं कि प्रस्तुत कारिका में द्विवचन का तात्पर्य यह है कि अविवक्षितवाच्यध्वनि में जहां पर शब्द के आधार पर प्रतीयमान की अभिव्यक्ति होती है, अर्थ का साहाय्य भी अपेक्षित होता है क्योंकि वहां पर बिना अर्थ-ज्ञान के प्रतीयमान निकल ही नहीं सकता, इसी प्रकार ध्वनि के दूसरे भेद विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि में जहां पर अर्थ के आधार पर अभिव्यक्ति होती है, वहां शब्द का साहाय्य भी अपेक्षित होता है । क्योंकि जब तक वह अर्थ विशिष्ट प्रकार के शब्द से बोधित नहीं होगा तब तक वह अर्थ व्यञ्जक नहीं हो सकता। इस प्रकार व्यञ्जना व्यापार शब्द और अर्थ दोनों का सम्मिलित व्यापार है। " यत्रार्थः शब्दो वा " अंश में "वा" पद की विकल्पार्थकता का प्रतिपादन करते हुए लोचनकार कहते हैं कि अथवा शब्द के प्रयोग का अभिप्राय यह है कि यद्यपि अर्थ और शब्द दोनों के सहयोग की अपेक्षा

---

1. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्.क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ।।
-ध्व. प्र. उ. 13वी. कारिका

तो है किन्तु जहां जिसकी प्रधानता होती है ध्वनि भी तद्गत कही जाती है । इसी विवेचन से प्रेरित होकर आचार्या मम्मट ने शाब्दी व्यञ्जना और आर्थी व्यञ्जना ये दो भेद किये हैं। चूंकि ध्वनिकार ने व्यङ्ग्यमुखेन ध्वनिभेद का निरूपण किया है अतएव व्यञ्जना-भेद की चर्चा नहीं की है । वस्तुतः व्यापार तो सर्वत्र समान रूप से रहता है भेद तो केवल व्यङ्ग्यार्थ में होगा । सर्वप्रथम ध्वनिकार ने ध्वनि के दो भेद किये हैं ॥1॥ अविवक्षितवाच्य ध्वनि ॥2॥ विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि। जिनमें से प्रथम आचार्य मम्मट द्वारा प्रतिपादित लक्षणामूला व्यञ्जना का स्थल है और द्वितीय भेद अभिधामूला व्यञ्जना का स्थल है। इसी प्रकार शब्द-शक्तिमूलध्वनि एवं अर्थशक्तिमूलध्वनि मम्मट द्वारा प्रतिपादित शाब्दी एवं आर्थी व्यञ्जना है।

मम्मट के अनुसार व्यञ्जना शब्दगत ॥शाब्दी॥ और अर्थगत ॥आर्थी॥ भेद से दो प्रकार की होती है ।

शाब्दी व्यञ्जना वहां होती है जहां शब्द प्राधान्येन व्यञ्जक होता है और आर्थी व्यञ्जना वहां होती है जहां अर्थ प्राधान्येन व्यञ्जक होता है । शाब्दी और आर्थी व्यञ्जना का यह विभाग भी मम्मट की दृष्टि में दोष, गुण तथा अलंकारों की भांति ही शब्दपरिवृत्त्यसहत्व तथा शब्दपरिवृत्तिसहत्व पर ही आधारित है । जिसका आशय यह हुआ कि शाब्दी व्यञ्जना के स्थलों में यदि शब्द विशेष को परिवर्तित कर दिया जाये तो ध्वन्यमान अर्थ की प्रतीति ही नहीं होगी इसके विपरीत आर्थी व्यञ्जना के स्थलों में शब्द विशेष के परिवर्तन का प्रतीयमान अर्थ के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा ।

दूसरे शब्दों में शाब्दी व्यञ्जना के स्थलों में व्यञ्जना शब्द के अन्वय और व्यतिरेक पर आधारित होगी जबकि आर्थी व्यञ्जना के स्थलों में व्यञ्जना अर्थ के अन्वय और व्यतिरेक का अनुसरण करेगी । शाब्दी व्यञ्जना के स्थलों में अर्थ की सहकारिता और आर्थी व्यञ्जना के स्थलों में शब्द की सहकारिता का प्रतिपादन मम्मट स्पष्ट शब्दों में करते हैं।[1]

1- ॥क॥ तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः यत्सोऽयन्तिरयुक् तथा ।
अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः ॥

का. प्र. पृ. 97

॥ख॥ शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥

का. प्र. पृ. 109

शाब्दी व्यञ्जना–

शाब्दी व्यञ्जना के भी आचार्य मम्मट ने अभिधामूला व्यञ्जना और लक्षणामूला व्यञ्जना ये दो भेद किये ।

अभिधामूला का लक्षण करते हुए आचार्य मम्मट यह प्रतिपादित करते हैं कि अनेकार्थक शब्द का वाचकत्व संयोग इत्यादि के द्वारा नियंत्रित हो जाने पर वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ (प्रतीयमान) की प्रतीति कराने वाला व्यापार ही व्यञ्जना व्यापार है।[1] चूंकि पहले अभिधा ही प्राकरणिक अर्थबोध में प्रवृत्त होती है तत्पश्चात् व्यञ्जना का अवसर आता है । अतः इसे अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना कहा गया है अभिधामूला व्यञ्जना के उदाहरण के रूप में उन्होंने अधोलिखित पद्य प्रस्तुत किया है --

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नते :
कृतशिलीमुखसंग्रहस्य ।
यस्यानुपप्लवगतेः परवारणस्य
दानाम्बुसेक सुभगः सततं करोऽभूत् ।।

प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ इस प्रकार है– जिसका अन्तःकरण शोभन है, जिसका शरीर दूसरों के द्वारा अपराजेय है, जिसकी महानवंश में ख्याति है, जिसने बाण चलाने का अभ्यास किया है, जिसका ज्ञान या गति अबाधित है ऐसे शत्रु निवारक जिस राजा का हाथ निरन्तर दान के जल के द्वारा सींचे जाने से सुन्दर था ।

यह तो हुआ वाच्यार्थ । प्रतीयमान अर्थ इस प्रकार है -- जिसकी जाति भद्र है, जिसके शरीर पर चढ़ना कठिन है, जिसका पृष्ठदण्ड अत्यन्त ऊंचा है जिसने भ्रमरों को एकत्रित किया है जिसकी चाल अनुद्धत अथवा धीर है ऐसे जिस उत्कृष्ट गज का शुण्डादण्ड निरन्तर मद जल के द्वारा सिक्त होने से सुन्दर था ।

प्रस्तुत पद्य में राजा का प्रसङ्ग होने के कारण अभिधावृत्ति प्रकरण द्वारा राजपक्ष में नियंत्रित हो गई है और चूंकि यह न्याय है कि " शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः " । अतः विरत हुई अभिधा

1– अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरंजनम् ।।

–का. प्र. पृ. 88

का पुनरुत्थान नहीं हो सकता और ऐसी स्थिति में गजपक्ष वाला अर्थ व्यन्जना व्यापारगम्य ही है । मुख्यार्थबाध न होने के कारण लक्षणा का भी अवकाश नहीं है अतएव इस अप्राकरणिक गजरूप अर्थ की बोधिका व्यन्जना ही है ।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि यहां अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग हुआ है । भद्र तथा कर आदि पद अनेकार्थक है जिनके कल्याण, भद्र जाति तथा शुण्डादण्ड, हस्त आदि अर्थ है । अभिधा प्रकरण द्वारा राजपक्ष में अर्थ देकर नियंत्रित हो गई है । अवधेय है कि इस पूरे पद्य में विशेषण, विशेष्यवाची कोई भी शब्द परिवृत्तिसह नहीं है । यदि भद्र आदि शब्दों का परिवर्तन करके उनके स्थान में कल्याण, मंगल आदि पद प्रयुक्त किये जायें तो व्यङ्ग्यार्थ-बोध में बाधा आ जायेगी । इसलिये व्यन्जकत्व का शब्दगतत्व उचित ही है । चूंकि यहां पहले राजपक्ष में वाच्य अर्थ की प्रतीति होती है तत्पश्चात् गज पक्ष में व्यङ्ग्यार्थ की । अतएव इस पद्य में अभिधामूलाशाब्दी व्यन्जना है। इसी को विवक्षितान्य-परवाच्यध्वनि का लक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य नामक भेद कहा गया है । यहां अर्थ विवक्षित है पर अन्यपररूप में ।

पूर्वोक्त उदाहरण में प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों अर्थ उपस्थित होने पर कहीं दोनों अर्थों में असम्बद्धता न आ जाए अतएव उन दोनों अर्थों के बीच उपमानोपमेयभाव की कल्पना कर ली जाती है[2] यहां यह अवधेय है कि ऐसे स्थलों में सर्वत्र काव्य सौन्दर्य और रसास्वादन का पर्यवसान साम्यस्थापन की क्रिया (उपमनोपमेयभाव) में ही होता है । और उसी में सौन्दर्य की विश्रान्ति होती है न कि उपमेय आदि में ।[3]

1- इत्थं संयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे निवारितेऽप्यनेकार्थस्य शब्दस्य यत्क्वचिदर्थान्तरप्रतिपादनं तत्र नाभिधा नियमनात्तस्याः ।
न च लक्षणा मुख्यार्थबाधाद्यभावाद् अपि त्वन्जनं व्यन्जनमेव व्यापारः ।
—का. प्र. पृ. 95

2. एषूदाहरणेषु शब्दशक्त्या प्रकाशमाने सत्याप्राकरणिके ह्यर्थान्तरे वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायित्वं मा प्रसाङ्क्षीदित्यप्राकरणिक-प्राकरणिकार्थयोरुपमानोपमेयभावः कल्पयितव्यः ।
ध्व. पृ. 263

3. उपमानोपमेयभाव इति । तेनोपमारूपेण व्यतिरेचननिह्नवादयो व्यापारमात्ररूपा एवात्रास्वादप्रतीतेः प्रधानं विश्रान्तिस्थानं, न तूपमेयादीति सर्वत्रालङ्कारध्वनौ मन्तव्यम् । —ध्व. लो. पृ. 263

फलतः "भद्रात्मनो" आदि में वस्तु ध्वनि न होकर उपमाध्वनि होगी । प्रस्तुत उदाहरण में वस्तु ध्वनि को न मानने का कारण है - दो अर्थों की परस्पर असम्बद्धता । इस संम्बन्ध में आचार्य आनन्दवर्धन का स्पष्ट अभिमत है कि शब्दशक्तिमूलक ध्वनि वहीं होगी जहां शब्द सामर्थ्य से अलंकारान्तर आक्षित हो, वस्तुमात्र नहीं । आचार्य आनन्दवर्धन की यह धारणा सर्वथा उपयुक्त है क्योंकि शब्दशक्त्युत्थध्वनि ﴾अभिधामूला व्यन्जना पर आधारित ध्वनि﴿ के वस्तुव्यङ्ग्य के जो भी स्थल होंगे वहाँ सर्वत्र कोई न कोई अलङ्कार अवश्य व्यङ्ग्य मानना पड़ेगा अन्यथा वस्तुरूप व्यङ्ग्य अर्थ असम्बद्ध प्रतीत होगा । इस प्रकार शब्दशक्त्युत्थध्वनि का वस्तु ध्वनि नामक भेद सम्भाव्य नहीं है, अलङ्कार ध्वनि नामक भेद ही बनता है । किन्तु इसी सन्दर्भ में उनका यह कथन "वस्तुद्वये च शब्दशक्त्या प्रकाशमाने श्लेषः " आपत्तिजनक जान पड़ता है । "शब्दशक्त्या" में शक्ति का अर्थ यदि अभिधा करते हैं ﴾क्योंकि वैयाकरणों के प्रस्थान में शक्ति शब्द अभिधा के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ﴿ तब तो प्रकाशमाने का अर्थ अभिधीयमान हो जायेगा और आनन्दवर्धन के प्रतिपादन में कोई असंगति नहीं दिखाई पड़ेगी । किन्तु कठिनाई यह है कि आनन्दवर्धन ने यहीं पर ठीक पहले "शक्ति" का प्रयोग "व्यापार" के अर्थ में किया है । "प्रकाशते" का प्रयोग "प्रतीयते" के अर्थ में किया गया है । इसलिये बाध्य होकर उक्त स्थल में भी प्रकाशमाने का अर्थ प्रतीयमाने ही करना पड़ता है और आनन्दवर्धन का प्रतिपादन सदोष दिखाई देने लगता है । पर विचारणीय तो यह है कि प्रकाशमाने का अर्थ प्रतीयमाने अर्थ लेना कहां तक उचित होगा ? जबकि उसका सम्बन्ध श्लेष के प्रसङ्ग में वस्तुद्वय के साथ होगा । कहने का आशय यह है कि यदि प्रकाशमाने का अर्थ प्रतीयमाने किया गया तो उक्त पंक्ति का अर्थ हो जायेगा "वस्तुरूप दो अर्थों के प्रतीयमान होने पर" श्लेष अलंकार होगा । जो सर्वथा अनर्गल दिखाई देता है इसलिये प्रस्तुत पंक्ति में प्रकाशमाने का अभिधीयमाने अर्थ ही ﴾आनन्दवर्धन को भी﴿ अभीष्ट प्रतीत होता है । मम्मट की भी श्लेष के सम्बन्ध में यही धारणा है ।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि मम्मट को शब्दशक्त्युदभव का वस्तुमात्र व्यङ्ग्य नामक भेद अभीष्ट है । जैसा कि उनके इस प्रतिपादन से सिद्ध है-

अलङ्कारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते ।
प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो‌द्विधा ।। [1]

---

1. का. प्र. कारिका 38

वस्तुमात्रं –

पाथिक, नात्र स्त्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे ।
उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तदा वस ।।[1]

किन्तु वस्तुमात्रव्यङ्ग्य के रूप में उद्धृत यह उदाहरण चिन्त्य है । क्योंकि यद्यपि स्त्रस्तर, पयोधर शब्द परिवृत्त्यसह अवश्य है और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीयमानता में उनका योगदान भी है किन्तु यहां पर व्यङ्ग्यार्थ मुख्यरूप से वक्तृ के वैशिष्ट्य के कारण प्रतीति का विषय बन रहा है । इसलिये इस उदाहरण के शब्दशक्त्युत्थता में ही सन्देह है । "प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति" न्याय को दृष्टि में रखते हुये यह तो आर्थी व्यञ्जना का स्थल जान पड़ता है ।

अथ अभिधामूला व्यञ्जना की लक्षणकारिका में कथित संयोग आदि पद भी व्याख्या-सापेक्ष प्रतीत होते हैं । अनेकार्थक शब्दों की समस्या वैयाकरणों ने भी स्वीकार की है । भर्तृहरि ने वाक्यपदीप में संयोग आदि अभिधा नियामकों का विवेचन किया है ।[2] उनके अनुसार संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, अन्य शब्द की सन्निधि, सामर्थ्य, योग्यता, देश, काल, व्यक्ति तथा स्वर इत्यादि किसी शब्द के वाच्यार्थ का निश्चय न हो पाने पर अर्थ विशेष का बोध कराते हैं

1 संयोग –

संयोग का अर्थ है प्रसिद्ध सम्बन्ध । उदाहरणार्थ हरि शब्द अनेकार्थक है– इसके यम, इन्द्र, विष्णु आदि अनेक अर्थ होते हैं ।[3] परन्तु सशङ्खचक्रोहरिः में शंख, चक्र के संयोग से हरि का अर्थ विष्णु ही होगा क्योंकि शङ्ख और चक्र का प्रसिद्ध सम्बन्ध विष्णु से है ।

---

1. का. प्र. चतुर्थ उ. पृ. 173
2. संयोगोविप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता
   अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ।
   सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः
   शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ।।
   –वा. प. 2–317, 318
3. यमानिलेन्द्र चन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु
   शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्नाकपिले त्रिषु ।
   –अमरकोष 3–175

2. <u>वियोग</u> :–

अशङ्.खचक्रो हरिः में हरि का शङ्.ख और चक्र से वियोग कहा गया है । शङ्.ख, चक्र का वियोग विष्णु से ही सम्भव है क्योंकि जिसके साथ संयोग होगा उसी के साथ वियोग भी होगा अतएव यहां हरि का विष्णु अर्थ अभिप्रेत है ।

3. <u>साहचर्य</u> :–

साहचर्य का अर्थ है साथ–साथ रहना। "रामलक्ष्मणौ" में राम शब्द अनेकार्थक है किन्तु राम और लक्ष्मण के साहचर्य में प्रसिद्धि के कारण दशरथपुत्र राम ही अर्थ होगा ।

4. <u>विरोधिता</u> :–

विरोधिता का अर्थ है विरोध होना । " रामार्जुनगतिस्तयोः " में राम और अर्जुन की विरोधिता के कारण राम का अर्थ परशुराम और अर्जुन का अर्थ कार्तवीर्य अभिप्रेत है ।

5. <u>अर्थ</u> :–

अर्थ का अर्थ है अनन्यथासाध्य । " स्थाणुं भज भवच्छिदे " में स्थाणु शब्द के अनेकार्थक होने पर भी प्रस्तुत प्रकरण में " शिव " अर्थ ही अभीष्ट है क्योंकि संसार से पार उतरने का कार्य भगवान शिव के द्वारा ही सम्भव है ।

6. <u>प्रकरण</u> :–

प्रकरण अर्थात् प्रसङ्.ग। जिस प्रकरण में शब्द का प्रयोग हुआ है उसी के अनुसार अर्थ का ग्रहण होता है यथा "सर्वं जानाति देवः" में अनेकार्थक देव शब्द " आप " में नियन्त्रित हो गया है ।

7. <u>लिङ्.ग</u> :–

लिङ्.ग का अर्थ है संयोग से भिन्न सम्बन्ध द्वारा दूसरे पक्ष की व्यावृत्ति कराने वाला धर्म (चिन्ह)। " कुपितो मकरध्वजः " में कोपरूप चिन्ह के कारण मकरध्वज का अर्थ कामदेव लिया गया है यद्यपि इसके समुद्र, औषधि आदि भी अर्थ है किन्तु इनमें कोप सम्भव नहीं है ।

8. <u>अन्य शब्द की सन्निधि</u> :–

अन्य शब्द की सन्निधि से भी अनेकार्थक शब्द के अर्थ का

निश्चय हो जाता है । जैसे "देवस्य पुराराते:" में देव शब्द पुराराति शब्दके सानिध्य के कारण शंभु अर्थ में नियंत्रित हो गया है । पुर के शत्रु शिव ही हैं ।

9. <u>सामर्थ्य</u> :-

सामर्थ्य का अर्थ है योग्यता । " मधुना मत्त: कोकिल: " में मधु शब्द का अर्थ वसंत ही उपयुक्त है क्योंकि कोकिल को मत्त बनाने की सामर्थ्य वसंत में ही है ।

10. <u>औचित्य</u> :-

"पातु वो दयितामुखम्" का अर्थ होगा पत्नी का मुख तुम्हारी रक्षा करें किन्तु इससे औचित्य का निर्वाह नहीं हो रहा है अतएव औचित्य-विमर्श से मुख का अर्थ आनुकूल्य ही होगा ।

11 . <u>देश</u> :--

"भात्यत्र परमेश्वर:" में राजधानी रूप देश विशेष के कारण यहां परमेश्वर का अर्थ राजा लिया गया है ।

12. <u>काल</u> :-

"चित्रभानुविर्भाति" का प्रयोग दिन में होने पर सूर्य अर्थ होगा तथा रात्रि में होने पर अग्नि होगा । इस प्रकार काल भी नियामक है ।

13. <u>व्यक्ति</u> :-

व्यक्ति का अर्थ है लिङ्.ग । उदाहरणार्थ यदि " मित्रं भाति " कहा जायेगा तो तात्पर्य होगा सुहृद् किन्तु पुल्लिङ्.ग में मित्र: भाति कहने पर सूर्य अर्थ होगा ।

14. <u>स्वर</u> :-

उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि स्वर वेद में ही होते हैं काव्य में नहीं । अतएव इनका उदाहरण नहीं दिया गया है ।

<u>लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना</u> -

जिसके मूल में लक्षणा होती है ऐसी व्यञ्जना लक्षणामूला कहलाती है । जिस प्रकार अभिधामूला व्यञ्जना के मूल में अभिधा होती है उसी प्रकार लक्षणामूला व्यञ्जना के मूल में लक्षणा होती है यहां पर यह

अवधेय है कि जिस प्रकार अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना में शब्दों का परिवृत्त्यसहत्व देखा गया था वैसा यहां पर नहीं है किन्तु फिर भी यह शाब्दी है । गड़गायां घोषः में गड्.गा का पर्याय भागीरथी रखने पर भी अर्थ-बोध में कोई व्यवधान नहीं है । तथापि चूंकि अर्थनिष्ठ लक्षणा जिस प्रकार मूलतः शब्द का ही व्यापार है उसी प्रकार लक्षणामूला व्यञ्जना भी शाब्दी कही गयी है जबकि यहां पर शब्दपरिवृत्त्यसहत्व अनिवार्य नहीं है ।

वाग्देवतावतार मम्मट ने प्रयोजनवती लक्षणा के स्थलों में व्यञ्जना की अनिवार्यता सिद्ध की है उनके अनुसार प्रयोजन की प्रतीति एक मात्र व्यञ्जना व्यापार द्वारा ही सम्भाव्य है अन्य अनुमान आदि प्रमाणों द्वारा नहीं । [1] उदाहरणार्थ गड्.गायां घोषः में सर्वप्रथम गड्.गा का प्रवाहरूप मुख्यार्थ बाधित होता है तत्पश्चात् लक्षणा द्वारा तट का बोध होता है । अब तट में शैत्यपावनत्वादि प्रयोजन की प्रतीति किस वृत्ति के द्वारा मानी जाये यहां पर अभिधा भी नहीं हो सकती क्योंकि गड्.गा शब्द का शैत्यपावनत्वादि धर्मों में सड्.केत नहीं है और न ही लक्षणा का अवकाश है, क्योंकि तटरूप लक्ष्यार्थ में §1§ मुख्यार्थबाध हेतु भी नहीं है तथा न ही तट का पावनत्वादि धर्मों से कोई सम्बन्ध ही है । अर्थात् §2§ मुख्यार्थ सम्बन्ध भी नहीं है और प्रयोजन को ही लक्ष्यार्थ माने तो इसमें कोई प्रयोजन भी नहीं है क्योंकि गड्.गा शब्द पावनत्वादि की प्रतीति कराने में असमर्थ भी नहीं है । अतएव प्रयोजन की प्रतीति के लिये व्यञ्जना व्यापार को अवश्य स्वीकार करना पड़ता है । [2] यदि प्रयोजन को लक्ष्य मानेंगे तो उसके लिये कोई और प्रयोजन और उस प्रयोजन के लिये कोई अन्य प्रयोजन की कल्पना करनी पड़ेगी । जिससे अनवस्था दोष होगा और

---

1. यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ।
   फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ।।
2. नाभिधा समयाभावात्, हेत्वभावान्न लक्षणा ।।
   लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो ।
   न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः ।।

यथा गड्.गाशब्दः स्त्रोतसि सबाध इति तटं लक्षयति, तद्वत् यदि तटेऽपि सबाधः स्यात् तत् प्रयोजनं लक्षयेत । न च तटं मुख्योऽर्थः । नाप्यत्र बाधः । न गड्.गाशब्दार्थस्य तटस्य पावनत्वाद्यैर्लक्षणीयैः सम्बन्धः । नापि प्रयोजने लक्ष्ये किञ्चित् प्रयोजनम् । नापि गड्.गाशब्दस्तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुमसमर्थ : । का. प्र. पृ. 82-83

प्रयोजन की प्रतीति ही नहीं हो पायेगी ।[1] विशिष्ट लक्षणावादी यदि यह कहें कि पावनत्वादि विशिष्ट तट ही लक्षित होता है इसलिये व्यञ्जना व्यापार की कोई आवश्यकता नहीं है । इसका खण्डन करते हुये मम्मट कहते हैं कि ज्ञान का विषय और ज्ञान का फल दोनों ज्ञान से भिन्न हैं। अतएव प्रयोजनविशिष्ट में लक्षणा नहीं मानी जानी चाहिये क्योंकि ऐसा मानने पर ज्ञान के विषय और ज्ञान के फल में कोई भेद नहीं रहता ।[2]

उपर्युक्त विवेचन से यह सुस्पष्ट है कि तटरूप लक्ष्यार्थ में जो शैत्यपावनत्वादि प्रयोजन है उसकी प्रतीति अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य से भिन्न व्यञ्जना व्यापार द्वारा ही स्वीकरणीय है ।[3]

अविवक्षितवाच्यध्वनि में जो व्यङ्ग्यार्थ है वह लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना द्वारा प्रतीत होता है । लक्षणामूला व्यञ्जना में वाच्यार्थ कभी अर्थान्तर में सङ्क्रमित होता है और कभी अत्यन्त तिरस्कृत होता है । इस प्रकार लक्षणामूला व्यञ्जना पर आधारित ध्वनि के {1} अर्थान्तरसङ्क्रमित {2} अत्यन्ततिरस्कृत ये दो भेद हैं ।

<u>अर्थान्तर सङ्क्रमित</u> –

इसमें वाच्यार्थ अनुपयुक्त होने के कारण किसी अन्य अर्थ में परिणत हो जाता है । उदाहरणार्थ –

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति ।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ।।

{ मैं तुम्हें यह बतलाता हूं कि यहां पण्डितों का समुदाय उपस्थित है –इसलिये तुम अपनी बुद्धि का आश्रय लेकर यहां सावधानी से व्यवहार करना । }

---

1. एवमपि प्रयोजनं चेल्लक्ष्यते तत् प्रयोजनान्तरेण तदपि प्रयोजनान्तरेणेति प्रकृताप्रतीतिकृद् अनवस्था भवेत् ।

का. प्र. पृ. 85

2. प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते ।।
ज्ञानस्य विषयो ह्यन्य : फलमन्यदुदाहृतम् ।

का. प्र. पृ. 85–86

3. तटादौ ये विशेषा : पावनत्वादयस्ते चाभिधा–तात्पर्य– लक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेण गम्याः । तच्च व्यञ्जन–ध्वनन–द्योतनादिशब्द–वाच्यमवश्यमेषितव्यम् ।

का. प्र. पृ. 86

विद्वानों की सभा में जाते हुये किसी व्यक्ति से उसके पिता या गुरु का उपर्युक्त कथन है, जो श्रोता को लक्ष्य करके है । अतएव त्वाम् ‡ तुमको ‡, अस्मि, ‡ मैं ‡ वच्मि ‡ कहता हूं ‡ ऐसा कहना अनुपयुक्त है तथा ये पद अपने से भिन्न किन्तु अपने से सम्बद्ध अन्य अर्थ में परिणत हो जाते हैं । त्वाम् का लक्ष्यार्थ हो जायेगा ‡ उपदेश योग्य तुमको ‡ अस्मि का लक्ष्यार्थ होगा यथार्थवक्ता मैं और वच्मि का लक्ष्यार्थ होगा उपदेश करता हूं ।[1]

<u>अत्यन्त तिरस्कृत</u> –

जहां पर वाच्यार्थ उपयुक्त न होने के कारण अर्थान्तर सङ्क्रमित होने की अपेक्षा अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है । वहां अत्यन्त तिरस्कृत ध्वनि होती है । उदाहरणार्थ –

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व तत : शरदां शतम् ।।

हे मित्र, आपने बहुत उपकार किया है, इस विषय में क्या कहा जाये, आपने केवल सज्जनता ही दिखलाई है । इसलिये ऐसा ही करते हुये सैकड़ों वर्षों तक सुखपूर्वक रहो ।

अनेक अपकारों से पीड़ित किसी व्यक्ति की अपने शत्रु के प्रति यह उक्ति है-- प्रकरणादि से श्रोता का अपकारी होना ज्ञात है । अतएव स्तुतिरूप जो मुख्यार्थ है वह बाधित होकर अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है तथा अन्य अर्थ को लक्षित करता है । उपकृतम् का लक्ष्यार्थ अपकृतम् तथा सुजनता का दुर्जनता, सखे का शत्रु, सुखितम् का दुखितम् हो जायेगा । इस प्रकार विपरीतलक्षणा द्वारा उपर्युक्त पद लक्ष्यार्थ के बोधक बनते हैं, तथा अपकाराधिक्यरूप प्रयोजन की प्रतीति व्यञ्जना द्वारा होती है ।[2]

<u>आर्थी व्यञ्जना</u> –

वक्तृवैशिष्ट्यादि के कारण सहृदयों को विशेष अर्थ की प्रतीति कराने वाला अर्थ – व्यापार ही आर्थी व्यञ्जना है । आचार्य मम्मट ने विशेष अर्थ की प्रतीति के निम्नलिखित कारण बताये हैं –[3]

‡1‡ वक्ता, ‡2‡ बोद्धव्य, ‡3‡ काकु, ‡4‡ वाक्य, ‡5‡ वाच्य,

---

1. अत्र वचनादि उपदेशादिरूपतया परिणमति ।
   का. प्र. पृ. 113

2. एतदपकारिणं प्रति विपरीतलक्षणया कश्चिद्वदति ।
   का. प्र. पृ. 114

2. वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्वाच्यान्यसन्निधे : ।।
   प्रस्तावदेशकालदेवैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम् ।
   योऽर्थस्यान्यार्थधी हेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ।। का. प्र.पृ.99

अन्यसान्निधि, §7§ प्रस्ताव, §8§ देश, §9§ काल तथा चेष्टा आदि का वैशिष्ट्य ।

मम्मट द्वारा प्रतिपादित आर्थी व्यञ्जना के लक्षण से एक बात और स्पष्ट होती है कि व्यङ्‌ग्यार्थ की प्रतीति प्रतिभाशाली सहृदयों को ही होती है । जिनके मनोमुकर निरन्तर काव्यानुशीलनाभ्यासवशात् नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा से विशदीभूत हो गये हैं ।

अथ क्रमशः वक्ता आदि के वैशिष्ट्य द्वारा अन्यार्थ की प्रतीति का उदाहरण प्रस्तुत है -

§1§ <u>वक्तृ</u> - वैशिष्ट्य से अन्य अर्थ की प्रतीति का उदाहरण -

अतिपृथुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागतास्मि सखि त्वरितम् ।
श्रमस्वेदसलिलनिःश्वासनिःसहा विश्राम्यामि क्षणम् ।।

प्रस्तुत पद्य में उपनायक से रति क्रीड़ा करने वाली किसी नायिका का अपनी सखी से कथन है । यहां नायिका अत्यधिक भारी कलश को लाने के कारण अपने परिश्रम को प्रकट कर रही है । यह वाच्यार्थ है । किन्तु वक्तृ वैशिष्ट्य से एक और अर्थ की प्रतीति होती है । चूंकि यह कामिनी पुंश्चली है अतः गुप्त रूप से किये गये सुरतव्यापार का गोपन रूप व्यङ्‌ग्यार्थ प्रतीत होता है । यहां पर शब्दपरिवृत्तिसहत्व भी है । यदि यहां पर शब्दों के पर्यायवाची भी रख दिये जायें तो भी अर्थ की प्रतीति में कोई बाधा नहीं होगी । इस प्रकार यह वक्तृवैशिष्ट्यात् आर्थी व्यञ्जना का उदाहरण है ।

§2§ <u>बोद्धव्य वैशिष्ट्य से अन्य अर्थ की प्रतीति का उदाहरण</u>

औन्निद्रयं दौर्बल्यं चिन्तालसत्वं सनिःश्वसितम् ।
मम मन्दभागिन्याः कृते सखि त्वामपि अहह ! परिभवति ।।

हे सखी, खेद है कि मुझ अभागिनी के कारण तुझे भी निःश्वास सहित नींद न आना, दुर्बलता, चिन्ता तथा आलस्य पीड़ित कर रहे हैं ।

प्रस्तुत पद्य में नायिका अपने पति से रति-क्रीड़ा करके आने वाली दूती से कह रही है । यहां बोद्धव्य अर्थात् § जिसके प्रति कहा जाये § दूती है, जिसकी दुश्चेष्टाओं का ज्ञान नायिका को पहले से ही है अतः बोद्धव्य वैशिष्ट्य के कारण इस पद के वाच्यार्थ द्वारा सहृदयों को यह प्रकट हो रहा है कि यह नायिका अपने पति द्वारा उस दूती के उपभोग को व्यक्त कर रही है । यहां बोद्धव्य वैशिष्ट्य के कारण ही व्यङ्‌ग्यार्थ का बोध हो रहा है । दूती पुंश्चली है इस कारण इस अन्य प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति सम्भव है अन्यथा नहीं ।

§3§ काकु वैशिष्ट्य से अन्य अर्थ की प्रतीति का उदाहरण -

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कल धरैः ।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ।।

राजसभा में वैसी § अर्थात् रजस्वलावस्था में दुःशासन द्वारा जिसके वस्त्र और केश खींचे गये § पाञ्चाल देश के राजा की पुत्री §द्रौपदी§ को देखकर और वल्कलधारी हम लोगों का व्याधों के साथ वन में रहना एवं राजा विराट् के गृह में अनुचित §पाचकादि§ कार्य करते हुये गुप्त रूप से ठहरना देखकर भी गुरु अर्थात् युधिष्ठर आज भी मुझ §भीम§, खिन्न पर क्रोध करते हैं, कौरवों पर नहीं ।

उपर्युक्त उदाहरण में काकु द्वारा यह व्यञ्जना होती है कि मेरे प्रति क्रोध करना उचित नहीं, अपितु कौरवों के प्रति क्रोध करना उचित है। " भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते " अर्थात् भावावेश के कारण एक विशेष प्रकार की परिवर्तित ध्वनि को काकु कहते हैं । प्रस्तुत पद्य में दो स्थलों पर काकु हो सकती है । " नाद्यापि कुरुषु " के "न" में काकु मानने पर भी प्रश्न की प्रतीति हो जायेगी और वाक्यार्थ निष्पक्ष हो जायेगा तथा जो " खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु " इस समुदाय में विशिष्ट काकु है, उससे व्यक्त होने वाला उपर्युक्त अर्थ "मेरे प्रति क्रोध करना उचित नहीं अपितु कौरवों पर " वाच्य सिद्धि के लिये आवश्यक नहीं। अतएव व्यङ्ग्यार्थ वाच्यसिद्धि का अङ्ग न होने के कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य न होकर ध्वनि का स्थल होगा ।[1]

§4§ वाक्यवैशिष्ट्य से अन्य अर्थ की प्रतीति का उदाहरण -

तदा मम गण्डस्थलनिमग्नां दृष्टिं नानैषीरन्यत्र ।
इदानीं सैवाहं तौ च कपोलौ न च सा दृष्टिः ।।

---

1. अत्र मयि न योग्यः खेदः कुरुषु तु योग्य इति काक्वा प्रकाशते । न च वाच्यसिद्ध्यङ्गमत्र काकुरिति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं शङ्क्यं प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्तेः ।

का. प्र. पृ. 172

तब ॥ जब वह कामिनी मेरे पास थी ॥ मेरे कपोल पर प्रतिबिम्बित मेरी सखी को देखते हुये तो तुम्हारी दृष्टि कुछ और ही थी किन्तु इस समय ॥ उसके चले जाने पर ॥ मैं वही हूं, दोनों कपोल भी वे ही हैं, किन्तु वह दृष्टि नहीं है ।

यहां पर " तदा " और" इदानीम् " इन पदों द्वारा क्रमश : उपनायिका का आगमन और गमन प्रकट होता है । इन दोनों पदों के रूप में ही यहां वाक्य-वैशिष्ट्य है । अपने प्रियतम् के प्रच्छन्न अनुराग को जानने वाली नायिका की यह उक्ति है -- वाक्य वैशिष्ट्य के कारण ही यहां व्यञ्जनया प्रकट हो रहा है कि मेरे कपोल पर प्रतिबिम्बित मेरी सखी को देखते तो तुम्हारी दृष्टि कुछ और ही थी किन्तु उसके चले जाने पर वैसी ॥ अनिमेषा ॥ नहीं । अनूठी है तुम्हारी यह प्रच्छन्नकामुकता ।

॥5॥ <u>वाच्यवैशिष्ट्य से अन्य अर्थ की प्रतीति का उदाहरण</u> –

उद्देशोऽयं सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी ।
कुञ्जोत्कर्षाङ्कुरितरमणीविभ्रमो नर्मदाया : ।
किन्चैतस्मिन् सुरतसुहृदस्तन्वि ते वान्ति वाता :
येषामग्रे सरति कलिताऽकाण्डकोपो मनोभू : ।।

है कृशाङ्ग । नर्मदा नदी का यह ऊंचा प्रदेश हरे भरे केलों की पङ्क्तियों की शोभा से अतिरमणीय है। इसमें लतागृहों की पुष्पसमृद्धि के कारण कामिनियों के विभ्रम अङ्कुरित हो जाते हैं और इसमें सुरत में सहायक पवन चलती है, जिनके आगे-आगे अनवसर में कोप करने वाला कामदेव चला करता है ।

प्रस्तुत पद्य में कामुक अथवा दूती नायिका से कह रही है । विशेषणों की विलक्षणता के कारण एक विशेष व्यङ्ग्य " सुरत के लिये प्रवेश करो " की प्रतीति होती है । यहां पर यह उल्लेखनीय है कि वाक्य वैशिष्ट्य और वाच्य-वैशिष्ट्य आपाततः एकसे प्रतीत होने पर भी दोनों में अन्तर होता है । जब वाक्य में " तदा " "इदानीम्" आदि ऐसे पदों का प्रयोग किया जाता है जो विशेष परिस्थिति की व्यञ्जना करते हैं तब वाक्य-वैशिष्ट्य होता है । जब वाच्यार्थ के विशेषणों से प्रकरणोपयोगी अर्थों की व्यञ्जना होती है तो वाच्य-वैशिष्ट्य होता है ।

(6) <u>अन्यसन्निधिवैशिष्ट्य से अन्य अर्थ की प्रतीति का उदाहरण</u>–

नुदत्यनार्द्रमना : श्वश्रूर्मां गृहभरे सकले ।

क्षणमात्रं यदि सन्ध्यायां भवति न वा भवति विश्राम : ।।

कठोर हृदय वाली सास मुझे घर के समस्त कार्यों में लगा दिया करती है। यदि क्षण भर को अवकाश मिलता है तो सायंकाल, नहीं तो मिलता ही नहीं ।

प्रस्तुत पद्य में गुरुजनों के मध्य उपनायक से बात करने में असमर्थ नायिका सङ्केतकाल को प्रकट करने के लिये अपनी सखी से सास की निन्दा कर रही है । यहां वक्ता और बोद्धव्य आदि से भिन्न उपनायक की सन्निधि के कारण इस व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है कि " सायंकाल ही मिलन का समय है । "

(7) <u>प्रस्ताववैशिष्ट्य से अन्य अर्थ की प्रतीति का उदाहरण</u> –

श्रूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य प्रहरमात्रेण ।

एवमेव किमिति तिष्ठसि तत्सखि, सज्जय करणीयम् ।।

हे सखी, सुना जाता है कि तेरा प्रियतम आज प्रहरभर में आने वाला है इसलिये तू यों ही क्यों बैठी है, जो करना है वह करले । उपपति के निकट जा रही नायिका को कोई सखी उसके पति की आगमन की सूचना दे रही है । यहां पर अभिसरण के योग्य वेष–विन्यास का प्रकरण है । अतएव प्रकरणवैशिष्ट्य के कारण " पति के आगमन की सूचना देती हुयी सखी अभिसरण का निषेध कर रही है । " इस व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो रही है ।

(8) <u>देश वैशिष्ट्य से अन्य अर्थ की प्रतीति का उदाहरण</u> –

अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्य: ।

नाहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोऽञ्जलिर्व : ।।

अरी सखियो । तुम कहीं अन्यत्र पुष्प चयन करो, इस स्थान पर मैं करती हूं, क्योंकि मैं बहुत दूर तक चलने में समर्थ नहीं हूं, मैं तुम्हारे हाथ जोड़ती हूं, तुम प्रसन्न हो जाओ ।

अपने उपपति के साथ आयी हुई प्रिय सखी को देखकर कोई नायिका अपनी सखियों से कह रही है। यहां पर सखियों को पुष्प चयन के लिये अन्यत्र भेजकर एक स्थान को निर्जन बनाया गया है । अतएव यहां देश वैशिष्ट्य है । यहां पर देशवैशिष्ट्य के कारण " कोई नायिका अपनी प्रिय सखी से गुप्त कामुक को इस एकान्त स्थान में भेजने की बात

कह रही है" इस व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है । यहां पर वाच्यार्थ का सम्बन्ध सामान्य सखियों से है तथा व्यङ्ग्यार्थ का सम्बन्ध प्रिय सखी ॥ आश्वस्ता ॥ से है ।

॥9॥ <u>काल वैशिष्ट्य से अन्य अर्थ की प्रतीति का उदाहरण</u> –

गुरुजनपरवश प्रिय, किं भणामि तव मन्दभागिन्यहम् ।
अद्य प्रवासं व्रजसि व्रज स्वयमेव श्रोष्यसि करणीयम् ॥

हे गुरुजनों के अधीन प्रियतम, मैं तुमसे क्या कहूं, मैं तो अभागिनी हूँ । यदि तुम परदेश को जाते हो तो जाओ, मुझे जो करना है, उसे स्वयं ही सुन लोगे ।

यहां पर विदेश जाने के लिये उद्यत नायक के प्रति नायिका की यह उक्ति -- अद्य शब्द द्वारा उक्त वसन्तकाल के वैशिष्ट्य से सहृदयों को यह व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है " प्रियतम मैं तो तुम पर ही आश्रित हूं इस समय तुम्हारे विदेश जाने पर मैं जीवित नहीं रहूंगी । " प्रस्तुत पद्य में " गुरुजनपरवश " शब्द से गमन की अनिवार्यता, "प्रिय" से दुखोत्कटता व्यञ्जित होती है ।

॥10॥ चेष्टावैशिष्ट्य से अन्य अर्थ की प्रतीति का उदाहरण –

आर्थी व्यञ्जना की लक्षण कारिका में आये हुये "प्रस्तावदेशकालादे :" में आदि पद से चेष्टा का ग्रहण किया गया है । मम्मट के अनुसार चेष्टा के वैशिष्ट्य से भी व्यङ्ग्यार्थ का प्रकाशन होता है ।

उदाहरणार्थ –

द्वारोपान्तनिरन्तरे मयि तया सौन्दर्यसारश्रिया
प्रोल्लास्योरुयुगं परस्परसमासक्ते समासादितम् ।
आनीतं पुरत : शिरोंऽशुकमध : क्षिप्ते चले लोचने
वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणं सङ्कोचिते दोर्लते ।।

मेरे द्वार के अत्यन्त निकट पहुंचने पर सौन्दर्य की सारभूत शोभा वाली उसने अपने दोनों उरुओ को फैलाकर फिर परस्पर मिला लिया, शिर के आंचल को आगे कर लिया, चन्चल नेत्रों को नीचा कर लिया, उस समय वचन का प्रसार रोक दिया । भुजलताओ को संकुचित कर लिया । यहां पर नायिका की चेष्टाओ का वर्णन वाच्यार्थ है –चेष्टा वैशिष्ट्य से गुप्त प्रियतम के प्रति अपना विशेष अभिप्राय प्रकट किया जा रहा है ।

यहां पर ऊरूओं को परस्पर मिलाने से गात्रस्पर्श, आगे वस्त्र करने से, गुप्त रूप से आगमन, नेत्र सन्चरण से सूर्यास्त का सङ्केत काल, मुख बन्द करने से शान्तिपूर्वक आगमन, भुजसंङ्कोचन से आलिंगन आदि ध्वनित होते हैं ।

आर्थी व्यञ्जना के उपर्युक्त सभी उदाहरणों में वाच्यार्थ की व्यञ्जकता दिखाई गई है । चूंकि वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य तीन प्रकार के अर्थ होते हैं अतएव आर्थी व्यञ्जना वाच्यार्थसम्भवा, लक्ष्यार्थसम्भवा और व्यङ्ग्यार्थ सम्भवा इन तीनों भेदों में विभक्त है ।

लक्ष्यार्थसम्भवा आर्थी व्यञ्जना –

जहां लक्ष्यार्थ व्यञ्जक होता है वहां लक्ष्यार्थ सम्भवा आर्थी व्यञ्जना होती है । लक्ष्यार्थसम्भवा आर्थी व्यञ्जना में सर्वप्रथम अभिधा से वाच्यार्थ की प्रतीति होती है । तत्पश्चात् – मुख्यार्थ बाध होने पर लक्षणा से लक्ष्यार्थ का बोध होता है । यह लक्ष्यार्थ ही जहां व्यञ्जक हो वहां लक्ष्यार्थसम्भवा आर्थी व्यञ्जना होती है । लक्ष्यार्थसम्भवा आर्थी व्यञ्जना लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना में अन्तर्भूत हो जाती है । अतएव इसकी पृथक् रूप में मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । यदि ऐसी कोई शङ्का करे तो वह व्यर्थ है । क्योंकि लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना में लक्षक शब्द व्यञ्जक होता है तथा लक्षणामूला आर्थी व्यञ्जना में प्रयोजनरूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति व्यञ्जनया होती है तथा लक्षणामूला आर्थी व्यञ्जना में प्रयोजनरूप अर्थ से अतिरिक्त एक और अर्थ की प्रतीति होती है । अतएव लक्षणामूला आर्थी व्यञ्जना नाम अन्वर्थ है । उदाहरणार्थ –

साधयन्ती सखी सुभगं क्षणे–क्षणे दूनासि मत्कृते ।
सद्भाव स्नेहकरणीयसदृशकं तावन्निरचितं त्वया ।।

प्रस्तुत पद्य में कोई नायिका अपनी सखी के शरीर में पीलिमा को देखकर " इसके द्वारा मेरे प्रिय का उपभोग किया गया है । "ऐसा अनुमान करती है । यहां पर अपराधिनी के लिये प्रयुक्त सद्भाव स्नेहकरणीय पद प्रयोग होने के कारण अन्वयानुपपत्ति है । अतएव मुख्यार्थबाध हुआ । तत्पश्चात् लक्षणा से प्रयोजन–भूत शत्रुत्वातिशयरूप व्यङ्ग्य परिस्फुरित होता है । इसके पश्चात् लक्ष्यार्थ से " नायक अत्यधिक धूर्त और अविश्वसनीय है तुम भी उसी प्रकार की हो " यह

व्यड्.ग्यार्थ प्रतीत होता है । इस प्रकार यहां चतुर्थ अवस्था में व्यड्.ग्यार्थ की प्रतीति होती है।[1] प्रथम अवस्था में मुख्यार्थ प्रतीति, दूसरी अवस्था में अनन्वित अर्थों का परस्पर संसर्ग, तीसरी अवस्था में मुख्यार्थ बाध, चौथी अवस्था में व्यड्.ग्यार्थ की प्रतीति होती है । जैसे वक्तृ, बोद्धव्य वैशिष्ट्य से वाच्यार्थसम्भवा आर्थी व्यञ्जना के उदाहरण दिये गये हैं उसी प्रकार लक्ष्यार्थसम्भवा के भी समझने चाहिये । उपर्युक्त उदाहरण बोद्धव्य वैशिष्ट्य के कारण अनेक अर्थ की प्रतीति का उदाहरण है । यहां पर चूंकि बोद्धव्य पुंश्चली है अतएव व्यड्.ग्यार्थ की प्रतीति हो रही है । यदि नायिका सदाचारिणी होती तो इस प्रकार के दूसरे अर्थ की प्रतीति होती ही नहीं।

<u>व्यड्.ग्यार्थ</u> <u>सम्भवा</u> <u>आर्थी</u> <u>व्यञ्जना</u> –

यहां व्यड्.ग्य अर्थ व्यञ्जक होता है । व्यड्.ग्यार्थसम्भवा व्यञ्जना में सर्वप्रथम वाच्यार्थ उपस्थित होता है तत्पश्चात् व्यञ्जना से व्यड्.ग्यार्थ का बोध होता है । पुन : व्यड्.ग्यार्थ से दूसरा व्यड्.ग्यार्थ ध्वनित होता है उदाहरणार्थ –

पश्य निश्चलनिष्पन्दा विसिनीपत्रे राजते बलाका ।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शड्.खशुक्तिरिव ।।

वाच्यार्थ इस प्रकार है –

प्रिय देखो । कमलिनी के पत्र पर बैठी वह बलाका न चलती है न हिलती है और ऐसी शोभायमान है मानो स्वच्छ नीलम के पात्र पर शड्.खशुक्ति हो । यहां पर निष्पन्दता {वाच्यार्थ} से विस्त्रब्धता व्यड्.ग्य है तथा निर्भयता से निर्जनता व्यड्.ग्य है । प्रसड्.ग के कारण इस निर्जनता की प्रतीति सहृदय दो प्रकार से कर रहे हैं । सम्भोग पक्ष में किसी नायिका के द्वारा सड्.केत स्थान के इच्छुक नायक के प्रति

---

1. अत्र मत्प्रियं रमयन्तया त्वया शत्रुत्वमाचरितमिति लक्ष्यम् ।
   तेन च कामुक विषयं सापराधत्वप्रकाशनं व्यड्.ग्यम् ।।
   का. प्र. द्वि. उ. पृ. 40

व्यञ्जना द्वारा यह द्योतित किया जा रहा है कि यही उचित सड्.केत स्थान है । विप्रलम्भ पक्ष में जब नायक नायिका से कहता है कि तुम यहां नहीं आयीं मैं यहां आया था तब नायिका व्यञ्जना द्वारा यह प्रकट करती है कि बलाका की निर्भयता से यहां जन-सञ्चार का अभाव द्योतित हो रहा है, अतएव तुम झूठ बोलते हो, तुम यहां नहीं आये । [1]

---

1. अत्र निष्पन्दत्वेन आश्वस्तत्वं तेन च जनरहितत्वम्, अत : सड्.केत स्थानमेतदिति कयाचित् किञ्चित प्रत्युच्यते । अथवा मिथ्या वदसि, न त्वमत्रागतोऽभूरिति व्यज्यते ।

का. प्र. द्वि. उ. पृ. 40

व्यड्.ग्यार्थ

ध्वनि-सिद्धान्त के संस्थापक आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में व्यड्.ग्यार्थ के स्वरूप का विशद विवेचन किया है ।ध्वनिकार ने ललित और उचित सन्निवेश के कारण सुन्दर प्रतीत होने वाले काव्य में दो अर्थों की सत्ता स्वीकार की है। ‡1‡ वाच्य अर्थ ‡2‡ प्रतीयमान अर्थ ।[1] जिस प्रकार नवीन भवन के निर्माण के लिये आधार-भूमि पहले तैयार की जाती है उसी प्रकार ध्वनिरूपी प्रासाद के निर्माण के लिये भूमिका के रूप में सर्वजनसंवेद्य वाच्यार्थ की आवश्यकता होती है, क्योंकि वाच्य अर्थ के पृष्ठ पर ही प्रतीयमान नामक अधिक अंश प्रतीतिगोचर होता है । वाच्य अर्थ के समान ही प्रतीयमान अर्थ का भी महत्त्व है, अत : उन दोनों की सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता है । शब्द और अर्थ काव्य के शरीर माने गये हैं । अत : शरीर के लिये आत्मा का भी होना आवश्यक है । किन्तु शब्द तो आत्मा हो नहीं सकता अतएव शब्द-भिन्न ही काव्य का आत्मतत्त्व होना चाहिये । अर्थ दो प्रकार के बताये गये हैं, पहला तो वाच्यार्थ, उसमें कोई लावण्य या वैशिष्ट्य नहीं होता जिससे सहृदयजन आकृष्ट हों और काव्य की प्रशंसा होवे । दूसरा जो प्रतीयमान अर्थ है वही काव्य की आत्मा है । सहृदयसंवेद्य प्रतीयमान अर्थ में कुछ ऐसी अद्भुत कमनीयता और रमणीयता होती है कि सहृदय आकृष्ट होकर उस काव्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं [2] यह कमनीयता ही काव्यार्थ और लौकिक अर्थ का भेदक है, इस प्रकार वैशिष्ट्य का हेतुस्वरूप प्रतीयमान अर्थ आत्मा की संज्ञा प्राप्त करता है । इसमें वाच्य अर्थ का मिश्रण रहता है जिससे भ्रम में पड़कर असहृदय व्यक्ति व्यड्.ग्य अर्थ की सत्ता को नहीं स्वीकार करते हैं,जैसे चार्वाक् लोग शरीर से पृथक् आत्मा

---

1. योऽर्थ : सहृदयश्लाघ्य : काव्यात्मेति व्यवस्थित : ।
   वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ।। - ध्व. 1-2
2. अत्यन्तसारभूतत्वाच्चायमर्थो व्यड्.ग्यत्वेनैव दर्शितो न तु वाच्यत्वेन ।
   सारभूतो ह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरामेव शोभामावहति । प्रसिद्धिश्चेयमस्त्येव विदग्धविद्वत्परिषत्सु यदभिमततरं वस्तु व्यड्.ग्यत्वेन प्रकाश्यते न साक्षाच्छब्दवाच्यत्वेन ।
   -ध्व. च. उ. पृ. 576

को मानने में विरोध करते हैं । काव्यास्वाद के पश्चात् विभाग - बुद्धि द्वारा उस काव्य में दो अर्थों की प्रतीति स्पष्टतया होती है अत : दोनों ही अर्थों को काव्य की आत्मा मानने वाले जन अतत्त्वदर्शी हैं, क्योंकि वाच्य अर्थ काव्य की आत्मा है [1] ध्वनिकार के उक्त आशय को न समझ पाने के कारण साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ भी व्यङ्ग्यार्थ के वाच्य और प्रतीयमान ये दो भेद देखकर भ्रम में पड़ गये । [2] किन्तु लोचनकार कृत व्याख्या से यह भ्रम दूर हो जाता है । [3] वस्तुत : काव्य में वाच्य और प्रतीयमान अर्थ ऐसे सम्पृक्त रहते हैं कि काव्यास्वादन में वाच्य अर्थ भी श्लाघ्य हो जाता है और दोनों के भेद में अविवेकी (सामान्य बुद्धि वाले) जनों को सन्देह हो जाता है और जिस प्रकार मूर्ख बालक तपे हुये लौहपिण्ड को अग्नि ही समझता है उसी प्रकार असहृदय भी काव्य का एक ही अर्थ समझ पाते हैं । इस प्रकार वाच्य और व्यङ्ग्य की पृथक्-पृथक् सत्ता का प्रतिपादन करने के अनन्तर आचार्य प्रतीयमान अर्थ का स्वरूप निरूपित करते हुये कहते हैं कि - प्रतीयमान अर्थ वाच्य अर्थ से विलक्षण कुछ भिन्न ही होता है जो कि महाकवियों की वाणी में ही होता है । जिस प्रकार अंगनाओं में लावण्य प्रसिद्ध आभूषणों और सुन्दर मुख, नाक, कान आदि अवयवों से सर्वथा पृथक् होता है उसी प्रकार प्रतीयमानार्थ सहृदयों में अत्यधिक प्रसिद्ध है और अलंकारों तथा प्रतीत होने वाले अवयवों अर्थात् शब्द और अर्थ से भिन्न होता है । [4]

---

1. श्लाघनक्रियायाः कर्मभूत एकोऽंशो वाच्यो यस्तस्या हेतुभूतः स प्रतीयमानांश इत्यर्थः । किन्तु प्रतीयमान एवं आत्मा, वाच्यस्त्वंशः शरीरभूत इति भावः । ध्व.-बालप्रिया टीका पृ. 45
2. यच्च ध्वनिकारेणोक्तम्, अर्थ : सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः । वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ । अत्र वाच्यात्मत्वं, "काव्यस्यात्मा ध्वनिः " इति स्ववचनविरोधादेव अपास्तम् । - सा. द. पृ. 18
3. स एक एवार्थो द्विशाखतया विवेकिभिर्विभागबुद्धया विभज्यते । तथाहि तुल्येऽर्थरूपत्वे किमिति कस्मैचिदेव सहृदयाः श्लाघन्ते । तद्भवितव्यं, तत्र केनचिद्विशेषण । यो विशेषः स प्रतीयमान भागो विवेकिभिर्विशेषहेतुत्वादात्मेति व्यवस्थाप्यते । वाच्यसंवलनाविमोहितहृदयैस्तु तत्पृथग्भावे विप्रतिपद्यते चार्वाकैरिवात्मपृथग्भावे । - ध्व. लो. पृ. 64
4. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ।। ध्व.1-4

यह प्रतीयमानार्थ समस्त अवयवों से व्यतिरिक्त सहृदयों के लिये अमृत तुल्य कुछ विलक्षण ही तत्त्व है। यदि कोई कहे कि लावण्य केवल अवयवों की निर्दोषता और आभूषित होना ही है तो यह अनुचित है क्योंकि काणत्वादि दोष से शून्य, सुडौल शरीरावयवों वाली तथा अलंकारों से सुसज्जित अंगना होने पर भी " यह लावण्य शून्य है " तथा वैसी न होने पर भी अर्थात् आभूषणों से अलंकृत न होने पर भी सहृदयों के आकर्षण का केन्द्र बन जाती है और यह " लावण्यामृत चन्द्रिका " है इस प्रकार कहा जाता है । इस प्रकार लावण्य समस्त अंगों में निवास करता हुआ भी सबसे व्यतिरिक्त होता है तथा वाच्यार्थ व्यतिरिक्त प्रतीयमानार्थ का समावेश अलंकारों तथा शब्द और अर्थ में नहीं हो सकता । इसी सिद्धान्त पर अलंकारिकों और ध्वनिवादियों का मतभेद है । आलंकारिकों के अनुसार जिस प्रकार सुन्दर वनिता का मुख भी बिना अलंकारों (आभूषणों) के अच्छा नहीं लगता उसी प्रकार अलंकारों के बिना काव्य की शोभा नहीं बढ़ती,[1] और ध्वनिवादी के अनुसार लावण्यस्थानीय प्रतीयमान अर्थ प्रधान और अलंकारादिक गौण है ।

प्रतीयमान अर्थ महाकवियों के काव्य में होता है तथा रसिकजनों को ही प्रतीत होता है । यह अर्थ स्वसंवित्सिद्ध है । अतएव इसके अस्तित्व को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता है । महाकवियों की वाणी में जब यह अर्थ प्रस्रवित होता है तभी उनकी अलोकसामान्य प्रतिभा भी प्रकट होती है ।[2] सामान्य व्यक्ति तो वाच्यार्थ द्वारा ही व्यवहार करते हैं किन्तु महाकवियों की वाणी में व्यङ्ग्यार्थ का सौन्दर्य रहता है । यह प्रतीयमान अर्थ ही काव्य की आत्मा है, उदाहरणार्थ आदिकवि बाल्मीकि के काव्य में, क्रौन्च नामक पक्षियों के जोड़े के वियोग से उत्थित शोक ही श्लोक रूप में परिणत हो जाता है ।[3] रामायण में जो करुण रस है

---

1. रूपकादिरलंकारस्तथान्यैर्बहुधोदित : ।
   न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ।।

   —काव्यालंकार 1 | 13

2. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
   अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ।।

   — ध्व. 1-6

3. काव्स्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
   क्रौन्चद्वन्दवियोगोत्थ : शोक : श्लोकत्वमागतः ।।

   — ध्व. 1-5

उसका स्थायी भाव शोक ही है । इसके लिये महाकवियों को प्रयत्न नहीं करना पड़ता है अपितु चतुर्दिक् स्फुरित होने वाली प्रतिभा को भगवती सरस्वती स्वयं ही प्रवाहित करती है ।[1] यही कारण है कि कालिदास, बाल्मीकि आदि के समान दो-तीन या पांच-छः ही कवि मिलेंगे । जब कवि का अन्तःकरण किसी भावना से भर जाता है तो वह हृदय में नहीं समाता और स्वतः उसकी वाणी में प्रवाहित होने लगता है जिससे दिव्य आनन्द प्राप्त होता है । इस दिव्य आनन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है किन्तु कवियों के आनन्द तथा योगियों के आनन्द में अन्तर है ।[2] कवि भारती एक दूध देने वाली गाय है जिस प्रकार गाय अपने बच्चे की भूख शान्त करने के लिये अपने थन से स्वयं ही दूध बहाने लगती है उसी प्रकार रसिकों की रस-सम्बन्धी तृष्णा शान्त करने के लिये स्वयम् ही कविवाणी रसरूपी दूध को प्रवाहित करने लगती है । योगी लोग ब्रह्म के साक्षात्कार के लिये साधन, तप करके जिस आनन्दरूपी दूध को दुहते हैं उसमें रसावेश नहीं होता क्योंकि वह बलात् आनन्द प्राप्त होता है । किसी भी काव्य की सफलता तभी होती है जब कि नायक, कवि और सहृदय का समान अनुभव होता है । अतएव महाकवियों की उस प्रतिभा को जानने के लिये काव्यपरिशीलकों में भी सहृदयता अपेक्षित होती है ।

प्रतिभा का अर्थ है--अपूर्व वस्तु के निर्माण में सक्षम बुद्धि । प्रतीयमान अर्थ वाच्य अर्थ से सर्वथा विलक्षण होता है । अतः वाच्य-वाचकमात्र के ज्ञान से प्रतीयमान अर्थ का बोध नहीं होता अपितु पाठक को काव्यार्थतत्ववेत्ता होना चाहिये ।[3]

यद्यपि महाकवियों के काव्य में व्यङ्ग्य-व्यञ्जक का प्राधान्य होता है फिर भी उसके आश्रय वाच्यवाचक भाव का भी आश्रय लेना पड़ता है । जिस प्रकार प्रकाश के लिये हम दीपक को जलाने का प्रयत्न करते

---

1. परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवे : ।
सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती ।।

ध्व. 4 - 17

2. वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रस यद्बालतृष्णया ।
तेन नास्य सम : स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि य : ।।

ध्व. लो. प्र. उ. पृ. 93

3. शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्वज्ञैरेव केवलम् ।।

हैं उसी प्रकार व्यङ्.ग्यार्थ के प्रकाशन के लिये कवियों को वाच्यार्थ के लिये भी प्रयत्न करना पड़ता है ।[1] वाच्य और व्यङ्.ग्य का सम्बन्ध पदार्थ और वाक्यार्थ के समान होता है । जिस प्रकार पदार्थज्ञान के द्वारा वाक्यार्थ का बोध होता है, किन्तु पदार्थ का अपने सामर्थ्य के द्वारा ३ आकांक्षा, सन्निधि, योग्यतावशात् ३ वाच्यार्थ को प्रकाशित करते हुये भी वाक्यार्थ की प्रतीति के समय पृथक् रूप से अस्तित्व नहीं होता उसी प्रकार वाच्यार्थ के द्वारा जब व्यङ्.ग्यार्थ की प्रतीति होती है उस समय वाच्यार्थ का पृथक् अस्तित्व नहीं होता और व्यङ्.ग्यार्थ काव्यानुशीलनाभ्यासवशात् विशदीभूतमनोमुकुर वाले सहृदयों की तत्वार्थदर्शिनी बुद्धि में तुरन्त ही अवभासित होने लगता है ।[2] अतएव काव्य में वाच्य और वाचक का प्रयोग केवल व्यङ्.ग्यार्थ के साधन के रूप में किया जाता है, जो अभिधा, लक्षणा से पृथक् व्यञ्जना वृत्ति द्वारा अभिव्यक्त होता है । यह प्रतीयमानार्थ ही काव्य का परम माधुर्य है ।

प्रतीयमान अर्थ एक अनुपम, रमणीय एवं सौन्दर्यवर्धक अर्थ है । आनन्दवर्धन के अनुसार अलङ्.काररहित तथा अलङ्.कारयुक्त दोनों ही प्रकार के काव्य में व्यङ्.ग्यार्थकृत शोभा स्त्रियों में लज्जा के समान एक महत्वपूर्ण आभूषण है[3] इस व्यङ्.ग्यार्थ में ऐसा चमत्कार है कि अलंकार भी इस व्यङ्.ग्यार्थ का स्पर्श पाकर कृतकृत्य हो जाते हैं तथा अद्भुत

---

1. आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जनः ।
   तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृत : ।।

   ध्व. 1 - 9

2. यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते ।
   वाच्यार्थपूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः ।।
   स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रतिपादयन् ।
   यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते ।।
   तद्वत्सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम् ।
   बुद्धौ तत्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते ।

   ध्व. 1-10,11,12

3. मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि ।
   प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जैव योषिताम् ।।

   ध्व. 3 - 37

रमणीयता को प्राप्त होते हैं । [1]प्रतीयमानकृत शोभा लज्जा के समान हैं। क्योंकि यह गोपन का सार अर्थात् सौन्दर्य का प्राण है । आभूषण से युक्त स्त्रियों का लज्जा ही मुख्य आभूषण है । प्रतीयमानकृत शोभा को स्त्रियों के लज्जा रूप आभूषण की उपमा दी गई है इसके दो कारण हैं एक तो लज्जा में गोपन की प्रवृत्ति होती है । लज्जालु स्त्रियां जब अपने भाव को छिपाती हैं तो उनमें एक सौन्दर्य आ जाता है यही सौन्दर्य लज्जा का प्राण है । व्यङ्‌ग्यार्थ में भी कवि जिस बात को कहना चाहता है वह उस रूप में न कहकर उसे छिपा कर कहता है । दूसरा कारण यह है कि स्त्रियां चाहे कितने भी आभूषण क्यों न पहन ले जब तक उनमें लज्जा नहीं वे आकर्षक नहीं लगेंगी और यदि आभूषण न भी पहने हों और उनमें लज्जा हो तो वे सुन्दर लगती हैं । इसी प्रकार अलंकारों का काव्य में होना न होना उतना महत्व नहीं रखता जितना प्रतीयमान का सौन्दर्य । [2] प्रतीयमानार्थ भी वस्तु के चारुत्व की प्रतीति के लिये स्वशब्द द्वारा अनभिधेय है । इसी विचार को नरेन्द्रप्रभसूरि ने इस प्रकार व्यक्त किया है–

> अनुद्‌घुष्टः शब्दैरथ च रचनातः स्फुटरसः
> पदानामर्थात्मा जयति कवीनां बहुमदम् ।
> यथा किञ्चित् किञ्चित् पवनचललोलाञ्चलतया
> कुचद्वन्द्वं कान्तिं किरति न तथोद्‌घाटितमुरः ।। [3]

अत्यन्त सारभूत यह अर्थ स्वशब्द द्वारा अनभिधेय होकर व्यङ्‌ग्यत्वेन प्रकाशित होता हुआ अतीव शोभा को प्राप्त करता है । आचार्य आनन्दवर्धन ने तो यहां तक कह दिया है कि सहृदयहृदयहारी काव्य का वह प्रकार ही नहीं है जिसमें प्रतीयमान अर्थ के संस्पर्श के कारण सौन्दर्य

---

1. वाच्यालंकारवर्गोऽयं व्यङ्‌ग्यांशानुगमे सति ।
   प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते ।।
   ध्व. 3–36
2. प्रतीयमानकृता छाया शोभा, सा च लज्जासदृशी गोपनासारसौन्दर्यप्राण– त्वात् । अलङ्‌कारधारिणीनामपि नायिकानां लज्जा मुख्यं भूषणम् ।
   ध्व. लो. पृ. 506
3. अलंकारमहोदधि : – पृ. 300

नहीं हो । निश्चय ही यह उत्कृष्ट काव्य रहस्य है ।[1]

इस प्रतीयमान के दो भेद हैं- ‡1‡ लौकिक ‡2‡ काव्यव्यापारैकगोचर ।[2] लौकिक व्यड्.ग्य वे हैं जो कभी-कभी स्वशब्दवाच्य हो जाते हैं। जैसे -

जीविताशा बलवती धनाशा दुर्बला मम ।
गच्छ वा तिष्ठ वा कान्त स्वावस्था तु निवेदिता ।।

प्रस्तुत पद्य में नायिका पति से कहती है " आप यात्रा जायें या न जायें " । यह वाच्यार्थ न ही विधिपरक हैं न ही निषेधपरक हैं किन्तु इसमें व्यड्.ग्यार्थ हैं " आप यात्रा न जाइये " जो कि निषेधपरक हैं । नायिका इस अर्थ को शब्दों द्वारा भी कह सकती थी । इस लौकिक व्यड्.ग्य के अन्तर्गत वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि आते हैं । प्रतीयमान अर्थ का दूसरा भेद जो काव्यव्यापारैक गोचर है, यह स्वप्न में भी स्वशब्दवाच्य नहीं हो सकता ।[3] विभाव, अनुभाव की संवलना से जिसका आस्वादन किया जाता है वह रसरूप व्यड्.ग्यार्थ है । वास्तव में यह व्यड्.ग्यार्थ ही काव्य की आत्मा है ।[4]

---

1. सर्वथा नास्त्येव सहृदयहृदयहारिण : काव्यस्य स प्रकारो यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन सौभाग्यम् । तदिदं काव्यरहस्यं परमिति सूरिभिर्भावनीयम् ।

ध्व. तृतीय उद्योत- पृ. 506

2. तत्र प्रतीयमानस्य तावद् द्वौ भेदौ - लौकिक : काव्यव्यापारैकगोचरश्चेति ।

ध्व. लो. प्र. उ. पृ. 50

3. यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्द वाच्यः------ स काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति ।

ध्व. लो. प्र. उ. 50

4. ‡क‡ तत्प्रयोगे विभावाद्यप्रयोगे तस्याप्रतिपत्तेस्तदप्रयोगेऽपि विभावादिप्रयोगे तस्यप्रतिपत्तेश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभावाद्यभिधानद्वारेणैव प्रतीयते इति निश्चीयते ।

का. प्र. पं. उ. पृ. 238

‡ख‡ काव्यस्यात्मा स एवार्थः

ध्व. प्र. उ. कारिका 5

<u>उदाहरणार्थ</u> –

गुरुमध्यगता मया नताड्.गी,
निहता नीरजकोरकेण मन्दम् ।
दरकुण्डलताण्डवं नतभ्रूलतिकं,
मामवलोक्य घूर्णितासीत् ।।

इस पद्य का अर्थ है गुरुजनों के मध्य बैठी अपनी प्रियतमा पर मैंने धीरे से कमल की कली से प्रहार किया तब मुझे देखकर भ्रकुटी भंग करते हुये इस प्रकार सिर हिलाया कि उसके कुण्डल नर्तन करने लगे । इस पद्य में " घूर्णिता " इस एक पद में कितना अर्थ छिपा है । यह " कैसी विकलता " । कुछ तो समय का ध्यान रखना चाहिये । इस रूप में नायिका का कोप और उस कोप में भी नायिका के सौन्दर्य में वृद्धि, जिसे देखकर नायक को आनन्द हुआ एवं इन दोनों भावों के संयोग से प्रतीत होने वाली उस युगल की प्रीति का सहृदय आस्वादन करते हैं । इस छिपे हुये व्यड्.ग्यार्थ का आस्वादन शब्दतः कह देने से कदापि सम्भाव्य नहीं है । अतएव यह ध्वनि भेद स्वशब्द वाच्य नहीं हो सकता । इस प्रकार से प्रतीयमानार्थ के कुल तीन भेद हो जाते हैं :–

§1§ वस्तुरूप प्रतीयमान अर्थ
§2§ अलड्.काररूप प्रतीयमान अर्थ
§3§ रसादिरूप प्रतीयमान अर्थ

ध्वन्यालोक में प्रतीयमान के उक्त तीनों ही भेदों के वाच्यभिन्नत्व का विशद विवेचन उपलब्ध होता है । ध्वनिकार के ही आधार पर वाच्य और व्यड्.ग्य के भेद को आगे प्रतिपादित किया जा रहा है––

<u>§1§ वस्तुरूप प्रतीयमान अर्थ</u> –

यह लौकिक प्रतीयमान अर्थ है, क्योंकि यह वाच्यत्व की अवस्था में भी रह सकता है । प्रतीयमान अर्थ वाच्य अर्थ से सर्वथा विलक्षण होता है । अतएव इसका अपलाप नहीं किया जा सकता । कहीं पर वाच्यार्थ विधिरूप तो व्यड्.ग्यार्थ निषेधरूप होता है तथा वाच्यार्थ निषेधरूप तो विधिरूप है और व्यड्.ग्यार्थ निषेधरूप है ।

भ्रम धार्मिक विश्रब्ध सः शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदावरीनदीकूललताहनवासिना दृप्तसिंहेन ।।

यहां पर वाच्यार्थ है कि " हे धार्मिक ! अब तुम विश्वस्त होकर भ्रमण

करो । गोदावरी तट पर स्थित कुन्ज में रहने वाले उस उद्धत सिंह ने आज उस कुत्ते को मार डाला । " किन्तु इस अर्थ को जानकर सहृदयों की तत्वावभासिनी बुद्धि विश्रान्त नहीं होती और उन्हें एक रमणीय अर्थ की प्रतीति होती है । जो वाच्यार्थ के बिल्कुल विपरीत है । अर्थात् निषेधपरक है । व्यड्.ग्यार्थ इस प्रकार है–अभी तक तो यहां पर कुत्ता ही रहता था अब यहां पर सिंह भी आ गया है इसलिये कभी भूल कर भी यहां मत आना । इस प्रकार भ्रमणविधि यहां पर वाच्य है तथा भ्रमणाभाव व्यड्.ग्य है । यदि यहां पर अभिधावादी कहें कि दोनों ही अर्थ वाच्य है तो सम्भाव्य नहीं, क्योंकि विधि और निषेध दोनों एक साथ नहीं हो सकते । यदि कहे कि दोनों अर्थ क्रमशः होते हैं तो अभिधा तो एक अर्थ ≬ वाच्यार्थ ≬ देकर विश्रान्त हो जायेगी, क्योंकि " विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षणिशक्तिर्विशेषणे " इस न्याय से एक बार विरत हुयी अभिधा पुनः प्रवृत्त नहीं हो सकती । लक्षणावादी यदि कहे कि उक्त उदाहरण में विधि और निषेध में परस्पर विरोध–सम्बन्ध के द्वारा विपरीत लक्षणा से द्वितीय अर्थ निकलेगा तो वह भी सम्भाव्य नहीं है क्योंकि विपरीतलक्षणा उसी स्थल में होती है जहां पर लक्ष्यार्थ प्रमाणान्तर से उपपन्न ≬ पूर्वसिद्ध ≬ होता है । जैसे "उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते" में लक्ष्यार्थभूत अपकार अर्थ पूर्वसिद्ध है । बिना इसके जाने कि शत्रु ने वक्ता का अपकार किया है कोई विरोध नहीं होगा । अतएव यह पदार्थों में परस्पर विरोध नहीं है अपितु अन्वय में है । किन्तु प्रकृत उदाहरण में भ्रमणनिषेध को लक्ष्यार्थ माना जाये तो यह पूर्वसिद्ध नहीं है। अतएव इसका प्रश्न ही नहीं उठता। यह व्यड्.ग्यार्थ तात्पर्या वृत्ति द्वारा भी गम्य नहीं है क्योंकि इस तात्पर्या वृत्ति के द्वारा " भ्रमण करो " इस विधिरूप वाच्यार्थ के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्रतीत होता क्योंकि तात्पर्या वृत्ति द्वारा अन्वयमात्र की प्रतिपत्ति होती है । इस प्रकार तुरीयावृत्ति व्यञ्जना द्वारा ही व्यड्.ग्यार्थ की प्रतीति होती है । उपुर्युक्त विवेचन से आचार्य ने व्यड्.ग्यार्थ का वाच्यार्थ से पार्थक्य प्रदर्शित किया है ।

इसके अनन्तर ध्वनिकार दूसरा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । जिसमें वाच्यार्थ निषेधरूप है और व्यड्.ग्यार्थ विधिरूप है ।

श्वश्रूरत्र शेते अत्राहं दिवसकं प्रलोकय ।
मा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायामावयो : शयिष्ठाः ।।

प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ है–" हे पथिक ! दिन थोड़ा ही शेष

रह गया है अतएव भलीभांति देखलो । यहां पर मेरी सास सोती है और इस स्थान पर मैं सोती हूं । हे रात्र्यन्ध । कहीं हम लोगों की चारपाई पर न आ गिरना । यहां पर नायिका तरुणी है और प्रोषितपतिका भी।
अतएव पथिक के दर्शन से जो उसके हृदय में कामांकुर उत्पन्न हुआ उसका अनुकूल परिस्थिति के कारण बढ़ जाना स्वाभाविक था । इसलिये नायिका ने चारपाई पर आने का निषेध करते हुये उसकी कामवासना को तृप्त करने की अनुमति दे दी । इस प्रकार " आवयोः शय्यायां मा निर्मंक्ष्यसि " यह निषेधरूप वाच्यार्थ है । किन्तु सहृदयों को नायिका का " यथेष्टं मम् शय्यायामेव स्वपिहि " यह विधिरूप व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत हो रहा है । इस प्रकार इस उदाहरण में भी वाच्य और व्यङ्ग्य का स्वरूप भेद स्पष्टतः लक्षित हो रहा है

आगे आचार्य ने ऐसा उदाहरण दिया है जिसमें वाच्यार्थ विधिरूप और व्यङ्ग्यार्थ अनुभयरूप है ।

व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि ।
मा तवापि तया बिना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत ।।

यहां पर वाच्यार्थ है – " तुम उसी मेरी सपत्नी के पास जाओ । मुझे अकेले ही गहरी श्वासें लेना पड़े और रोना पड़े । उसके वियोग में तुम्हें क्यों दाक्षिण्य के दण्ड के रूप में निश्श्वास और रोदन का कष्ट सहना पड़े । व्यङ्ग्यार्थ इस प्रकार है – " तुम्हारे गोत्रस्खलन और मुखराग को देखकर मैं समझ गई कि तुम मुझसे प्रेम नहीं करते वास्तव में तुम उसी सपत्नी को चाहते हो । तुम केवल पूर्वकृत अनुपालनरूप दाक्षिण्य से ही आते हो अतः तुम सर्वथा शठ हो । यहां पर खण्डिता का गाढ़मन्युरूप अभिप्राय ही व्यङ्ग्य है । अतएव यह विधिनिषेध दोनों से भिन्न है, क्योंकि न तो नायिका जाने का निषेध करती है और न ही अन्य कोई बात कहती है । [1]

---

1. अत्र व्रजेति विधिः । न प्रमाददेव नायिकान्तरसङ्गमनं तव, अपितु गाढानुरागात्, येनान्यादृङ्मुखरागः गोत्रस्खलनादि च, केवलम् पूर्वकृतानुपालनात्मना दाक्षिण्येनैकरूपत्वाभिमानेनैव त्वमत्र स्थितः, तत्सर्वथा शठोऽसीति गाढमन्युरूपोऽयं खण्डितनायिकाभिप्रायोऽत्र प्रतीयते । न चासौ व्रज्याभावरूपो निषेधः, नापि विध्यन्तरमेवान्यनिषेधाभावः ।
– ध्व. लो. पृ. 73

उपर्युक्त उदाहरण के विपरीत कभी-कभी वाच्य निषेधपरक होता है और व्यड्.ग्य न ही विधिरूप और न ही निषेधरूप ।

प्रार्थये तावत्प्रसीद निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे ।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे ।।

प्रस्तुत पद्य का वाच्यार्थ है - ‡ नायक कहता है ‡ मैं प्रार्थना करता हूं कि तुम मत जाओ क्योंकि तुम्हारे मुखचन्द्र की चांदनी से अन्धकार का समूह विलुप्त हो रहा है और हे हताशे । तुम अन्य अभिसारिकाओं के अभिसार में भी विघ्न कर रही हो । इसका व्यड्.ग्यार्थ इस प्रकार है-- " नायक नायिका की प्रशंसा करके उसे प्रसन्न करना चाहता है । वह नायिका को अपना परिचय देकर यह अभिप्राय व्यक्त करना चाहता है कि वह भी उसी के घर जा रहा है । अब तुम चाहो तो उसके घर चलो या अपने घर लौट चलो । यह अच्छा हुआ कि तुम मार्ग में मिल गई नहीं तो हम दोनों को निराश होना पड़ता ।[1] इस प्रकार यहां व्यड्.ग्य चाटुकारितापरक है और अनुभयरूप है ।

वाच्य और व्यड्.ग्य का स्वरूप - भेद देखने के पश्चात् अब इन दोनों का विषय-भेद भी द्रष्टव्य है--

कस्य वा न भवति रोषो दृष्टवा प्रियायाः सव्रणमधरम् ।
सभ्रमरपद्माघ्राणशीले वारितवामे सहस्वेदानीम् ।।

इस उदाहरण में वाच्यार्थ है - ‡ सखी कह रही है ‡ अपनी प्रियतमा के व्रणपूर्ण अधर को देखकर किसको क्रोध उत्पन्न नहीं होगा । मैंने तुम्हें मना किया था कि इस भ्रमर से युक्त फूल को मत सूंघो, किन्तु तुमने सूंघ ही लिया । अब इस समय उसका दुष्परिणाम सहो ।

---

1. तेनायमत्र भावः- काचिद्रभसात्प्रियतममभिसरन्ती तद्गृहाभिमुखमागच्छता तेनैव हृदयवल्लभेनैवमुपश्लोक्यतेऽप्रत्यभिज्ञानच्छलेन, अत एवात्मप्रत्यभिज्ञापनार्थमेव नर्मवचनं हताश इति । अन्यासां च विघ्नं करोषि तव चेप्सितलाभो भविष्यतीति का प्रत्याशा। अतएव मदीयं वा गृहमागच्छ त्वदीयं वा गच्छावेत्युभयत्रापि तात्पर्यादनुभयरूपो वल्लभाभिप्रायश्चाटुत्वात्मा व्यड्.ग्यं इत्येव व्यवतिष्ठते ।
ध्व. लो. पृ. 75

यह वाच्यार्थ तो सभी श्रोताओं के प्रति एक ही होगा, किन्तु व्यङ्ग्यार्थ प्रत्येक श्रोता को भिन्न-भिन्न प्रतीत होगा । नायक के प्रति व्यङ्ग्य होगा - यह भ्रमर के द्वारा नायिका के अधर पर क्षत बना दिया गया है, वास्तविक रूप में नायिका अपराधिनी नहीं है । अतएव तुम क्रोध को सहन करो अर्थात् क्रोधित न हो । उसके अपराध की शङ्का करने वाले पड़ोसियों के विषय में व्यङ्ग्यार्थ होगा - नायिका वास्तव में दुष्चरित्रा नहीं है, भ्रमरदंश को देखकर पति को क्रोध आ गया है । उपपति के प्रति व्यङ्ग्यार्थ होगा - तुमसे प्रच्छन्न प्रेम करने वाली नायिका को आज तो मैंने बचा लिया किन्तु फिर कभी ऐसा नहीं करना । सपत्नी के प्रति व्यङ्ग्यार्थ होगा -- नायिका नायक की प्रियतमा है अतः अधरक्षत को देखकर क्रोध आना स्वाभाविक है । वास्तविकता जानने पर वह क्रोध नहीं करेगा । अतः तुम्हें हर्षित नहीं होना चाहिये । नायिका के प्रति व्यङ्ग्यार्थ है -- तुम नायक की प्रियतमा हो इसलिये नायक को अधरक्षत देखकर क्रोध आ गया है । अतः तुम्हें सपत्नियों के मध्य लघुता का भाव नहीं लाना चाहिये । सहृदयों के प्रति व्यङ्ग्यार्थ है कि देखो मैं कितनी निपुण हूं मैंने बातें बनाकर इस नायिका को बचा लिया । यहां पर वाच्यार्थ का विषय अपराधिनी नायिका है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ के विषय उपपति, नायक, सपत्नी आदि अनेक हैं । विषय भेद के कारण व्यङ्ग्य भी अनेक हैं । [1]

---

1. काचिदविनीता कुतश्चित् खण्डिताधरा निश्चिततत्सविधसंनिधाने तद्भर्तरि तमनवलोकमानयेव कयाचिद्विदग्धसख्या तद्वाच्यतापरिहारायैवमुच्यते सहस्वेदानीमिति वाच्यमविनयवतीविषयम् । भर्तृविषयं तु-अपराधो नास्तीत्यावेद्यमानं व्यङ्ग्यम् । सहस्वेत्यपि च तद्विषयं व्यङ्ग्यम् । तस्यां च प्रियतमेन गाढमुपालभ्यमानायां तद्व्यलीकशङ्कितप्रातिवेशिकलोकविषयं चाविनयप्रच्छादनेन प्रत्यायनं व्यङ्ग्यम् । तत्सपत्न्यां च तदुपालम्भतदविनयप्रहृष्टायां सौभाग्यातिशयख्यापनं प्रियाया इति शब्दबलादिति सपत्नीविषयं व्यङ्ग्यम् । सपत्नीमध्ये इयता खलीकृतास्मीति लाघवमात्मनि ग्रहीतुं न युक्तम्, प्रत्युतायं बहुमानः, सहस्व शोभस्वेदानीमिति सखीविषयं सौभाग्यप्रख्यापनं व्यङ्ग्यम् । अद्येयं तव प्रच्छन्नानुरागिणी हृदयवल्लभेत्थं रक्षिता, पुनः प्रकटरदनदंशनविधिर्न विधेय इति तच्चौर्यकामुकविषयं सम्बोधनं व्यङ्ग्यम् । इत्थं मयैतदपह्नुतमिति स्ववैदग्ध्यख्यापनं तटस्थविदग्धलोकविषयं व्यङ्ग्यमिति । ध्व. लो. पृ. 77 - 78

उक्त विवेचन से वाच्यार्थ से व्यङ्.ग्यार्थ का भेद सुस्पष्ट हो जाता है । यह तो हुयी वस्तु रूप व्यङ्.ग्यार्थ की वाच्यार्थ से पृथकता । अब लौकिक व्यङ्.ग्य के ही दूसरे भेद अर्थात् अलङ्.कार ध्वनि का वाच्यार्थ से भेद दिखाया जा रहा है--

<u>अलङ्.काररूप प्रतीयमान अर्थ</u> -

यह भी लौकिक प्रतीयमान अर्थ है । इसमें व्यङ्.ग्यार्थ अलङ्.कार के रूप में प्रकट होता है । वस्तुरूप प्रतीयमान अर्थ की तरह यह भी वाच्यसह हो सकता है । किन्तु अलङ्.काररूप में प्रतीयमान अर्थ तभी सम्भाव्य है जब व्यङ्.ग्य अलङ्.कार ही प्रधान हो, क्योंकि रूपक, अपह्नुति आदि अलङ्.कारों में भी उपमा अलङ्.कार व्यङ्.ग्य रहता है किन्तु उपमा प्रधान न होकर रूपक आदि अलङ्.कारों का उपस्कारक ही होता है । आचार्य उद्भट ने रूपकादि अलङ्.कारों की वाच्यता के साथ-साथ प्रतीयमानता भी स्वीकार की है ।[1] सादृश्यमूलक सभी अलङ्.कारों में उपमा व्यङ्.ग्य होती है । अप्पय्य दीक्षित के अनुसार-" उपमा एक नटी के समान होती है जो कि विचित्र प्रकार की भूमिकाओं (रूपक, अपह्नुति के भेदों) को प्राप्त कर काव्य रूपी रङ्.गमन्च पर नाचती हुयी रसज्ञों के चित्त को अनुरञ्जित करती है। आचार्य भामह ने भी सभी अलङ्.कारों में वक्रोक्ति की व्यङ्.ग्यता को स्वीकार किया है।[2] इस प्रकार अलंकारों की व्यङ्.ग्यता सिद्ध करने में आचार्य को परिश्रम नहीं करना पड़ा। आलङ्.कारिकों के मत में रूपकादि की प्रतीयमानगर्भता तो स्वीकार की गई किन्तु उनको वाच्यलङ्.कारविषेष के रूप में ही ग्रहण किया गया है । ध्वनिकार आचार्य

---

1. रूपकादिरलङ्.कारवर्गो यो वाच्यतां श्रितः ।
   स सर्वो गम्यमानत्वं बिभ्रद्भूम्ना प्रदर्शितः ।।

अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलङ्.कारः सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्रभवद्भिर्भट्टोद्भटादिभिः । तथा च ससन्देहादिषूपमारूपकातिशयोक्तीनां प्रकाशमानत्वं प्रदर्शितम् इत्यलंकारान्तर स्यालंकारान्तरे व्यङ्.ग्यत्वं न यत्नप्रतिपाद्यम् ।

— ध्व. 2।26 पृ. 278-279

2. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
   यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्.कारोऽनया बिना ।

— काव्यालङ्.कार 2।85

आचार्य आनन्दवर्धन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि जहां पर वाच्यालङ्.कार से भिन्न व्यङ्.ग्य अलङ्.कार की प्रतीति तो हो किन्तु वहां पर वाच्यालङ्.कार व्यङ्.ग्यपरक न हो वह ध्वनि का मार्ग नहीं माना जाता ।[1] अतएव जहां पर व्यङ्.ग्य अलङ्.कार प्रधान हो वहीं पर अलङ्.कार- ध्वनि मानी जायेगी । इस प्रसङ्.ग में रूपकध्वनि का उदाहरण द्रष्टव्य है--

> लावण्यकान्तिरिपूरितदिङ्.मुखे स्मिन्
> स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि ।
> क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
> सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः ।।

इस पद्य का वाच्यार्थ है-- हे तरल और आयत नेत्रों वाली । लावण्य और कान्ति से दिशाओं के मुख को भर देने वाले तुम्हारे इस मुख के इस समय विहसनशील होने पर यह समुद्र कुछ भी क्षोभ को नहीं प्राप्त हो रहा है, अतः मैं समझता हूं यह स्पष्ट ही जलराशि ‡जडराशि‡ है । लावण्य का अर्थ है-संस्थान का सौन्दर्य और कान्ति का अर्थ है-प्रभा । नायिका के सौन्दर्य के कारण दिङ्.मण्डल हृद्य बना दिये गये हैं । अब क्रोध के शान्त होने पर जबकि उसका मुख प्रसन्न है उसे देखकर भी यह समुद्र क्षुब्ध नहीं हो रहा है, क्षण भर पहले जब वह कुपित थी तब यह समुद्र क्षोभ को प्राप्त हुआ था । वास्तव में इसका जलराशि ‡जडराशि‡ नाम अन्वर्थ है । इससे यह व्यक्त होता है कि कोप के कारण अरुण तथा स्मितयुक्त मुख सन्ध्या की लालिमा से युक्त पूर्ण चन्द्रमण्डल ही है । इस प्रकार के हृद्य मुखमण्डल को देखकर सहृदयों के चित में क्षोभ ‡ चंचलता ‡ उत्पन्न हो रहा है किन्तु समुद्र में क्षोभ नहीं हो रहा है । अतः यह जलराशि ‡ जडराशि ‡ है । यहां " सहृदय व्यक्ति को उसके मुख के अवलोकन से मदनविकाररूप क्षोभ होता है " इतना अर्थ देकर ही अभिधा विश्रान्त हो जाती है । यहां पर "जल" शब्द में श्लेष अलङ्.कार है जो कि वाच्य है । यदि कोई यहां पर तात्पर्य या लक्षणा से व्यङ्.ग्यार्थ की प्रतीति मानना चाहे तो वह सम्भाव्य नहीं, क्योंकि अन्वय की प्रतीति कराकर तात्पर्यावृत्ति क्षीण हो गई

---

1. अलङ्.कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते ।
   तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः ।।

   ध्व. 2 |27, पृ. 280

और मुख्यार्थबाधादि के अभाव में लक्षणा का अवसर ही नहीं है । प्रकृत उदाहरण में नायिका के मुख पर चन्द्र का आरोप होने के कारण रूपक अलङ्‌कार व्यङ्‌ग्य है, जो व्यञ्जनया द्योतित हो रहा है । अतएव यहां रूपकध्वनि मान्य है ।[1]

आचार्य अन्य अलङ्‌कारों का उदाहरण देकर इस अलङ्‌कारध्वनि को और भी स्पष्ट करते हैं । उपमा-ध्वनि के उदाहरण के रूप में अधोलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है--

वीराणां रमते घुसृणारुणे न तथा प्रियास्तनोत्सङ्‌गे ।
दृष्टी रिपुगजकुम्भस्थले यथा बहलसिन्दूरे ।।

वाच्यार्थ है- "वीरों की दृष्टि केसर से अरुण प्रियास्तनों के उत्संग में उतनी नहीं रमती जितनी घने सिन्दूर वाले शत्रु के हाथियों के कुम्भस्थल पर रमती है ।" प्रकृत उदाहरण में एक ओर तो प्रियतमा श्रृङ्‌गार किये बैठी है, दूसरी ओर मन में युद्ध के लिये उत्कण्ठा है, किन्तु फिर भी युद्ध के लिये त्वरा की अधिकता होने के कारण व्यतिरेक अलंकार वाच्य है । इससे उपमा अलङ्‌कार की व्यञ्जना होती है । हाथियों के सिन्दूर से रंगे हुये मस्तक प्रियतमा के केसरलिप्त स्तनों के समान है । यद्यपि शत्रुओं के हाथियों का समूह समस्त व्यक्तियों में त्रास उत्पन्न करने वाला है किन्तु फिर भी वीरों को शत्रु के हाथियों के मस्तकों का मर्दन करने में इतना अधिक आनन्द आता है जितना साधारण मनुष्य को अपनी प्रियतमा के कुचकुम्भों के मर्दन में । इस प्रकार उपमा के द्वारा वीरों की युद्ध विषयक रति अभिव्यक्त होती है जो कि वीरता के आधिक्य को द्योतित करते हुये चमत्कार उत्पन्न करती है । यहां उपमा

---

1. तत्र च क्षोभो मदनविकारात्मा सहृदयस्य त्वन्मुखावलोकनेन भवतीतीयत्यभिधाया विश्रान्ततया रूपकं ध्वन्यमानमेव । वाच्यालङ्‌कारश्चात्र श्लेष : स च न व्यञ्जकः । अनुरणनरूपं यद्रूपकमर्थशक्तिव्यङ्‌ग्यं तदाश्रयेणेह काव्यस्य चारुत्वं व्यवतिष्ठते ।
ध्व लो पृ. 285-286

किन्तु चूंकि ध्वनिकार के द्वारा ही यह पद्य श्लेषध्वनि के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है इसलिये लोचनकार इसमें श्लेष की ध्वन्यमानता सिद्ध करते हुये कहते हैं कि इस ध्वन्यमान उपमा का आधार है श्लेष और वह श्लेष चूंकि अभिधा वृत्ति से आक्षिप्त न होकर अर्थसौन्दर्य के द्वारा ही प्रतीत होता है इसलिये यह श्लेष सर्वथा ध्वन्यमान ही है । इसलिये ध्वनिकार वध्वः इव वलभ्यः ऐसा कहते हुये भी इसे उपमा ध्वनि का स्थल न मानकर श्लेष ध्वनि का ही स्थल मानते हैं । क्योंकि यहां पर ध्वन्यमान उपमा के मूल में भी श्लेष ही है ।[1]

यहां पर यदि " समम् " के स्थान पर समा का प्रयोग होता तब उपमा व्यङ्ग्य न होकर वाच्य हो जाती क्योंकि तब तो सारे विशेषण दोनों पक्षों में प्रयुक्त किये बिना वाक्य विश्रान्त ही नहीं होता । यहां पर श्लेष के बिना अभिधा पूर्ण है ।[2] यदि अभिधा श्लेष के बिना पूर्ण न होती तब श्लेष वाच्य होता । चूंकि यहां पर वाच्यार्थ देकर अभिधा के विरत हो जाने के अनन्तर ध्वन्यमान श्लेष वध्वः इव वलभ्यः इस उपमा का निर्वाहक बनता है अतएव श्लेष की प्रधानता होने के कारण श्लेषध्वनि है ।

इस उदाहरण में " वध्वः इव वलभ्यः इति श्लेषप्रतीतिः " कुछ असंगत सा लगता है । लोचनकार ने तो इसे इस प्रकार सिद्ध कर दिया कि चूंकि श्लेष उपमा के मूल में है अतएव श्लेष ही प्रधान है । यह बात आचार्य उद्भट तथा रुय्यक के मतानुकूल तो हो सकती है क्योंकि

---

1. ननु समशब्दात्तुल्यार्थोऽपि प्रतीतः । सत्यं, सोऽपि श्लेषबलात् । श्लेषश्च नाभिधावृत्तेराक्षिप्तः अपि त्वर्थसौन्दर्यबलादेवेति सर्वथा ध्वन्यमान एव श्लेषः । अतएव वध्व इव वलभ्य इत्यभिदधतापि वृत्तिकृतोपमाध्वनिरितिनोक्तम् । श्लेषस्यैवात्र मूलत्वात् ।
ध्व. लो. पृ.-294-295

2. समा इति हि यदि स्पष्टं भवेत्तदोपमा एव स्पष्टत्वाच्छ्लेषस्तदाक्षिप्तः स्यात् । सममिति निपातोऽञ्जसा सहार्थवृत्तिर्व्यञ्जकत्वबलेनैन क्रियाविशेषणत्वेन शब्दश्लेषतामेति । न च तेन बिनाभिधाया अपरिपुष्टता काचित् ।
ध्व. लो. पृ. 295

वे श्लेष को अलङ्.कारान्तर की प्रतिभा का हेतु मानने के कारण इसकी प्रधानता को स्वीकार करते हैं । [1] किन्तु आचार्य मम्मट इसे कैसे स्वीकार करेंगे क्योंकि वह तो श्लेषानुप्राणित उपमा के स्थल में उपमा को प्रधानता देते हैं और श्लेष को गौणता । [2] अतएव मम्मटानुयायियों की दृष्टि में यह स्थल उपमाध्वनि का ही है क्योंकि ध्वन्यमान भी श्लेष उपकारकत्वात् उपकार्य की अपेक्षा गौण हो जाताहै । अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि ध्वनिकार ने रुय्यक से ही प्रभावित होकर यहां पर श्लेषध्वनि स्वीकार की है । [3]

अन्त में अलङ्.कारध्वनि का वैशिष्ट्य बताते हुये आचार्य कहते हैं कि वाच्य होने पर जिनके अन्दर " शरीरत्व " धर्म का सम्पादन करना भी अत्यधिक कठिन होता है वे ही अलङ्.कार व्यङ्.ग्य रूप में ध्वनिकाव्य का अङ्.ग बनकर दुलर्भ कान्ति को प्राप्त कर लेते हैं । [4] यद्यपि एक कवि विदग्ध स्त्री के समान आभूषणों को बड़ी निपुणता से सजाता है किन्तु फिर भी वे अलङ्.कार शरीर का अवयव नहीं बन सकते । कुंकुम कितनी ही निपुणता से क्यों न लगाया जाये, वह शरीर के स्वाभाविक स्वर्णिम रंग को कभी धारण नहीं कर सकता । जब अलङ्.कार शरीर ही नहीं बन सकता तब आत्मा के विषय में तो सोचना ही व्यर्थ है । किन्तु यह व्यङ्.ग्यत्व एक ऐसा तत्व है जो अप्रधान हुये भी वाच्यालङ्.कारों

---

1. ﴾क﴿ तेनालङ्.कारान्तरविविक्तो नास्यविषयो्ऽस्तीति सर्वालंकारापवादो ऽयमिति स्थितम् ।

   – अ. स. पृ. 142

   ﴾ख﴿ श्लेषस्य च सर्वालङ्.कारापवादत्वाद्विरोधोत्पत्तिहेतुरयं श्लेषः ।

   – अ. स. पृ. 139

   ﴾ग﴿ अलङ्.कारान्तरगतां प्रतिभां जनयत् पदैः – का.सा.सं.

2. न चायमुपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः अपितु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतु रुपमा । तथाहि, यथा "कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्कचतितराम्" इत्यादौ गुणसाम्ये, क्रियासाम्ये, उभयसाम्ये वा उपमा । तथा – सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव । इत्यादौ शब्दमात्रसाम्येऽपि सा युक्तैव ।

   का. प्र. पृ. 453

3. श्लेषस्यात्रौपम्यनिर्वाहकत्वेऽपि प्राधान्यं चिन्तनीयम् ।
   वृत्तिविवृतिकृदुक्तदिशा रुय्यकानुमतपथेन वा कथंचनावसेयम् ।

   –दीधिति पृ. 211

4. शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वेन व्यवस्थितम् ।

की अपेक्षा अलङ्.कारों को उत्कर्ष प्रदान करता है । यहां अप्रधान का अर्थ गौणता से नहीं है । अभिनवगुप्त चूंकि रसध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानते हैं अतः प्रधानतया तो रसध्वनि ही काव्य की आत्मा है किन्तु जिस प्रकार बच्चे खेल में किसी एक बच्चे को राजा बना देते हैं और यद्यपि बच्चा राजा नहीं है फिर भी उसे अन्य बच्चों की अपेक्षा अधिक महत्व मिलता है उसी प्रकार जब अलङ्.कार व्यङ्.ग्य होते हैं तो रसध्वनि के समान आत्मा तो नहीं किन्तु वाच्यालङ्.कारों की अपेक्षा उत्कृष्ट कोटि को प्राप्त करते हैं । [1]

रसरूप व्यङ्.ग्यार्थ -

काव्यव्यापारैकगोचर जो व्यङ्.ग्य है वही रसरूप व्यङ्.ग्यार्थ या रसध्वनि है । यह वाच्य नहीं होता [2] अपितु ध्वनित होता है । प्रायः देखा जाता है कि केवल श्रृंगारादि शब्दों के प्रयोग से रस-प्रतीति नहीं होती । इसके विपरीत विभावादिकों का प्रतिपादन होने पर और श्रृंगारादि शब्दों के न होने पर भी रस-प्रतीति होती है । [3]

---

1. सुकविर्विदग्धपुरन्ध्रीवद्भूषणं यद्यपि श्लिष्टं योजयति, तथापि शरीर-तापत्तिरेवास्य कष्टसम्पाद्या कुङ्.कुमपीतिकाया इव । आत्मतायास्तु का सम्भावनापि । एवम्भूता चेयं व्यङ्.ग्यता या अप्रधानभूतापि वाच्यमात्रा लङ्.कारेभ्य उत्कर्षमलङ्.काराणां वितरति । बालक्रीडायामपि राजत्वम् इवेति ।

ध्व. लो. पृ. 300

2. (क) यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्द वाच्यः न लौकिक व्यवहारपतितः ।

ध्व. लो. पृ. 50

(ख) रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः ।

का. प्र. पं. उ. पृ. 238

3. नहि केवल श्रृंगारादिशब्दमात्रभाजिविभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्वप्रतीतिरस्ति । यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः । ... न त्वभिधेयं कथञ्चित् ।

ध्व. पृ. 84

यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो निःस्थेमनी लोचने
यद्गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिनं लूनाब्जिनीनालवत् ।
दूर्वाकाण्डविडम्बकश्च निबिडो यत्पाण्डिमा गण्डयोः ।
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थितिः ।।

जो रुक-रुक कर देखने पर बहुत बार नेत्र स्थैर्यरहित हो जाते हैं जो कि अङ्ग-अङ्ग कटे हुये कमलिनी के नाल की भाँति प्रतिदिन सूखते जा रहे हैं, जो कि कपोलों पर दूर्वाकाण्ड का अनुकरण करने वाला घना पीलापन छाया है, युवक कृष्ण के प्रति युवतियों की यही वेषस्थिति है । इस उदाहरण में विप्रलम्भ शृङ्गार रस की प्रतीति विभावानुभाव के माध्यम से हो रही है यद्यपि यहां पर अभिलाष, चिन्ता, ग्लानि आदि किसी शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है ।[1]

इसके विपरीत अन्य उदाहरण में विभावादिक शब्दतः कह दिये गये हैं--

याते द्वारवतीं तदा मधुरिपौ तद्दत्तझम्पानतां
कालिन्दीतटरूढवञ्जुललतामालिङ्ग्य सोत्कण्ठया ।
तद्गीतं गुरुबाष्पगद्गदगलत्तारस्वरं राधया
येनान्तर्जलचारिभिर्जलचरैरप्युत्कमुत्कूजितम् ।।

कृष्ण के द्वारका चले जाने पर उनके आस्फालनों के कारण झुकी हुई, कालिन्दी तट पर उत्पन्न वेतसलता का आलिङ्गन करके उत्कण्ठायुक्त राधा ने अधिक वाष्प के कारण गद्गद एवं स्खलित उच्च स्वर में वह गान किया जिससे कि भीतर पानी में रहने वाले जीव उत्कण्ठित हो शब्द करने लगे ।

---

1. इत्यत्रानुभावविभावबोधनोत्तरमेव तन्मयीभवनयुक्त्या तद्विभावानुभावोचित-चित्तवृत्तिवासनानुरञ्जितस्वसंविदानन्द चर्वणागोचरोऽर्थो रसात्मा स्फुरत्येवाभिलाषचिन्तौत्सुक्यनिद्राधृतिग्लान्यालस्यश्रमस्मृतिवितर्कादिशब्दाभावेऽपि । ध्व. लो. पृ. 82

यहां पर " सोत्कण्ठ " शब्द के होने पर भी उत्कण्ठा की प्रतीति लतालिङ्गनरूप अनुभाव के प्रतिपादन से ही होती है । अतएव सोत्कण्ठ शब्द केवल सिद्ध को ही सिद्ध कर रहा है ।[1]

आचार्य विद्याधर ने भी रस की स्वशब्दवाच्यता का खण्डन करते हुये इसे व्यञ्जनाव्यापारगम्य स्वीकार किया है ।[2] आचार्य विश्वनाथ ने भी रस को स्वयंप्रकाश और आनन्दस्वरूप स्वीकार करके इसे एकमात्र व्यञ्जनाव्यापारगम्य ही स्वीकार किया है ।[3]

आचार्य अभिनवगुप्त ने रसनाव्यापार, आस्वाद्यता अथवा चर्वणाव्यापार को रस का भेदक लक्षण स्वीकार किया है । काव्यार्थ को रसत्व तभी प्राप्त होता है जब कि वह आस्वाद्य होता है । यह आस्वाद्यता भी अलौकिक विभावादि के प्रतिपादन से ही सम्भाव्य है ।

---

1. इत्यत्र विभावानुभावावम्लानतया प्रतीयेते । उत्कण्ठा च चर्वणागोचरं प्रतिपद्यत एव । सोत्कण्ठाशब्दः केवलं सिद्धं साधयति ।

ध्व. लो. पृ. 83

2 विभावैर्ललनादिभिरालम्बनकारणैरङ्कुरितः सितकरकोकिलालापमलयानिलकेलिकाननादिभिरुद्दीपनकारणैः कन्दलितोऽनुभावैर्नयनान्तविलोकित – स्मित भुजवल्लीवेल्लनादिभिः प्रतीतिपद्धतिमध्यारोपितो व्यभिचारिभिश्चिन्तादिभिः पल्लवितः कदाचिदपि नानुभूतोऽभिधया न कर्णातिथीकृतस्तात्पर्येण न लक्ष्यीकृतो लक्षणया न स्वविषयं प्रापितः प्रत्यक्षेण नात्मनः सीमानमानीतोऽनुमानेनपरिशीलित सरणिः स्मरणेन नाक्रान्तः कार्यतया न ज्ञातो ज्ञाप्यतया विगलितवेद्यान्तरत्वेन पिरमितावनभीती ध्वनननाभिधानाभिनवव्यापारपरिरम्यनिर्भरतयानुकार्यानुकर्तृगतत्वपरिहारेण सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको भाव एव... श्रृङ्गारादिको रसो अभिधीयते ।

– एकावली पृ. 86–88

3. क्वचिच्च श्रृङ्गाररसोऽयम् इत्यादौ स्वशब्देनाभिधानेऽपि न तत्प्रतीतिः तत्स्वप्रकाशानन्दस्वरूपत्वात् ।

सा. द. पृ. 156–157

काव्यार्थ यद्यपि लौकिक अर्थ के समान प्रतीत होता है तथापि विभावादि अलौकिक उपायों के द्वारा आस्वाद्य या अभिव्यक्त होने के कारण अलौकिक अर्थ रसस्वरूप हो जाता है । अतएव रस की अलौकिकता को सिद्ध करते हुये आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि काव्यगत रसना यद्यपि एक सामान्य प्रतीति है किन्तु अलौकिक उपायों के द्वारा आस्वाद्य होने के कारण अलौकिक प्रतीत होती है ।[1]

निष्कर्षतः यह रस अलौकिक तथा काव्यव्यापारैकगोचर है और वस्तुतः यही काव्य की आत्मा है ।[2]

---

1. रसना च बोधरूपा एव किन्तु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणा एव, उपायानां विभावादीनां लौकिकवैलक्षण्यात् । तेन विभावादिसंयोगात् रसना यतो निष्पद्यते, ततः तथाविधरसनागोचरः लोकोत्तरोऽर्थः रसः इति तात्पर्यं सूत्रस्य ।

अभिनवभारती

2. स काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति, स च ध्वनिरेवेति स एव मुख्यतयात्मेति । ध्व.लो.पृ. 50

चतुर्थ अध्याय

व्यञ्जना विरोधी आचार्य और उनकी खण्डनात्मक युक्तियां

आनन्दवर्धन द्वारा काव्यार्थबोध के लिये व्यञ्जना वृत्ति की स्थापना संस्कृत वाड्.मय के इतिहास में एक क्रान्तिकारी पदविन्यास था । इसका विरोध भी इस स्थापना का स्वाभाविक परिणाम था ।

संस्कृत वाड्.मय के अनेक अन्य प्रस्थान थे जैसे – मीमांसा, न्याय तथा व्याकरण । मीमांसकों में कुछ को तो केवल अभिधा वृत्ति मान्य थी, कुछ को अभिधा के साथ-साथ तात्पर्या वृत्ति और कुछ अन्य को अभिधा और लक्षणा मान्य थी । नैयायिकों को केवल दो ही वृत्तियां मान्य थीं, अभिधा और लक्षणा ।

इसके अतिरिक्त काव्य-शास्त्र के ही अन्तर्गत वक्रोक्ति सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य कुन्तक ने भी व्यञ्जना का खण्डन किया है । आनन्दवर्धन से पूर्ववर्ती वैयाकरण यद्यपि व्यञ्जना वृत्ति को नहीं मानते थे तथापि स्फोट सिद्धान्त के सन्दर्भ में व्यञ्जकत्व के समर्थक थे ।–अस्तु ।

व्यञ्जना विरोधी आचार्यों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। §1§ वे विरोधी जो व्यड्.ग्यार्थ का बोध अन्य वृत्ति द्वारा अथवा अन्य प्रमाण द्वारा मानते हुये व्यञ्जना व्यापार के खण्डन से सम्बद्ध युक्तियां प्रस्तुत करते हैं, §2§ वे विरोधी जो व्यञ्जना व्यापार तो नहीं मानते किन्तु व्यञ्जना व्यापार के खण्डन से सम्बद्ध युक्तियां भी नहीं प्रस्तुत करते ।

प्रथम कोटि के विरोधियों को भी दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है । §क§ वे विरोधी जो ध्वन्यालोक आदि ग्रन्थों में पूर्वपक्षी के रूप में उद्भावित हैं । §ख§ वे विरोधी जिनकी मूल कृतियां उपलब्ध हैं यथा महिमभट्ट तथा धनञ्जय इत्यादि । द्वितीय कोटि के विरोधियों में प्रतिहारेन्दुराज तथा मुकुलभट्ट आदि आते हैं ।

सर्वप्रथम पूर्वपक्षी की उन युक्तियों को जो ध्वन्यालोक आदि ग्रन्थों में उद्भावित हैं उन्हें प्रस्तुत किया जा रहा है –

ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में उद्भावित पूर्वपक्ष के अनुसार विरोधियों के एक वर्ग की धारणा है कि व्यञ्जना व्यापार की मान्यता ही निरर्थक है। ध्वनिवादी के अनुसार व्यञ्जना की सिद्धि से व्यङ्ग्यार्थ की सिद्धि होती है तथा व्यङ्ग्यार्थ की सिद्धि से व्यञ्जना की सिद्धि है, किन्तु चूंकि व्यञ्जना और व्यङ्ग्यार्थ एक दूसरे पर आश्रित हैं, अतएव ऐसी स्थिति में "अन्योन्याश्रयाणि कार्याणि न प्रकल्प्यन्ते" के अनुसार इसकी सत्ता ही अव्यवस्थित हो जायेगी ।[1] ध्वनिकार ने यहां पर पूर्वपक्षी का नाम्ना उल्लेख नहीं किया है अपितु कश्चित् शब्द का प्रयोग किया है किन्तु अभिनवगुप्त "कश्चित्" का अर्थ "मीमांसकादिः" करते हैं ।[2] अर्थात् कश्चित् शब्द मीमांसकों, वैयाकरणों आदि के लिये प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि मीमांसकादि व्यञ्जना व्यापार को स्वीकार नहीं करते हैं ।

पूर्वपक्षी वाच्यव्यतिरिक्त अर्थ तो स्वीकार करते हैं, किन्तु उसकी प्रतीति के लिये व्यञ्जना व्यापार की कोई आवश्यकता नहीं समझते । वे कहते हैं कि इसे हम व्यङ्ग्य (यह एक नया नाम) ही क्यों कहें, वाच्य क्यों न कहें। इस प्रकार जहां वाच्य व्यतिरिक्त अर्थ प्रधान रूप से स्थित है उसे वाच्य ही मानना अधिक उचित है, क्योंकि अभिधा का आश्रय लेकर ही उस द्वितीय अर्थ का प्रकाशन किया जाता है, अतएव उसे अभिधेयार्थ कहना ही उपयुक्त होगा । इस प्रकार तात्पर्य रूप अर्थ वाच्य ही होगा । जहां पर दो अर्थों की प्रतीति होती है वहां प्रथम अर्थ द्वितीय तात्पर्यार्थ का उपाय होता है । जैसे वाक्यार्थ की प्रतीति में पदार्थ -

---

1- कश्चिद् ब्रूयात् - किमिदं व्यञ्जकत्वं नाम व्यङ्ग्यार्थ प्रकाशनम्, न हि व्यञ्जकत्वं व्यङ्ग्यत्वं चार्थस्य व्यञ्जकसिद्ध्यधीनं व्यङ्ग्यत्वम् व्यङ्ग्यापेक्षया च व्यञ्जकत्वसिद्धिरित्यन्योन्यसंश्रयादव्यवस्थानम् ।

- ध्व. तृ. उ. पृ. 454-55

2- कश्चिदिति मीमांसकादिः ।

- लोचन पृ. 454

प्रतीति उपाय है ।[1]

शब्दतः यहां पर यह पतिपादित नहीं है कि पूर्वपक्षी कौन लोग हैं ? किन्तु लोचनकार के अनुसार यह पूर्वपक्ष भाट्ट, प्रभाकर तथा वैयाकरणों के अनुसार प्रतिपादित है ।[2]

मीमांसक कुमारिलभट्ट के अनुसार वाक्यार्थ – बोध की प्रक्रिया इस प्रकार है । पद सर्वप्रथम प्रयुक्त होकर पदार्थ की प्रतीति कराते हैं, तत्पश्चात् इस पदार्थ–प्रतीति के अनन्तर वाक्यार्थ की प्रतीति होती है । जिस प्रकार ईंधन का प्रयोग भोजन पकाने के लिए किया जाता है, परन्तु ईंधन सर्वप्रथम ज्वाला उत्पन्न करता है और तत्पश्चात् उसी से पाक होता है, ठीक यही स्थिति पद एवं वाक्यार्थ की है । अर्थात् पहले पदों से पदार्थों की उपस्थिति होती है और तत्पश्चात् उपस्थित पदार्थों से वाक्यार्थबोध होता है ।[3]

अन्विताभिधानवादी प्राभाकरों के मत में अभिधा ही वाक्यार्थ का बोध कराती है । प्राभाकर मीमांसक दीर्घ अभिधावादी हैं । इनकी मान्यता है कि शब्द का अन्ततः जहां पर्यवसान होगा वहीं उसका वाच्यार्थ होगा "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" के अनुसार । उनकी दृष्टि में

1– स त्वर्थो व्यङ्ग्यतयैव कस्माद्व्यपदिश्यते ? यत्र च प्राधान्येनावस्थानं तत्र वाच्यतयैवासौ व्यपदेष्टुं युक्तः, तत्परत्वाद्वाक्यस्य । अतश्च तत्प्रकाशिनो वाक्यस्य वाचकत्वमेव व्यापारः । किं तस्य व्यापारान्तरकल्पनया ? तस्मात्तात्पर्यविषयो योऽर्थः स तावन्मुख्यतया वाच्यः । या त्वन्तरा तथाविधे विषये वाच्यान्तरप्रतीतिः सा तत्प्रतीते-रुपायमात्रम् पदार्थप्रतीतिरिव वाक्यार्थ प्रतीतेः ।

– ध्व. तृ. उ. पृ. 455–456

2– उपायमात्रमित्यनेन साधारण्योक्त्या भाट्टं प्राभाकरं वैय्याकरणं च पूर्वपक्षं सूचयति । – लो. पृ. 456

3– साक्षाद् यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम् ।
वर्णास्तथापि नैतस्मिन् पर्यवस्यन्ति निष्फले ।। 342 ।।
वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम् ।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम् ।। 343 ।।

व्यड्.ग्यार्थ भी वाच्यार्थ ही होगा अतएव अभिधा जब उसका बोध कराने में समर्थ ही है तो अन्य वृत्ति की कल्पना करने की क्या आवश्यकता? भट्ट लोल्लट आदि मीमांसक "सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः" कह कर व्यड्.ग्यार्थ को अभिधागम्य ही सिद्ध करते हैं।[1] उनके अनुसार जिस प्रकार धनुर्धारी का एक ही बाण शत्रु का वर्मच्छेद, मर्मच्छेद एवं प्राणहरण तीनों ही कर लेता है उसी प्रकार शब्द का एक अभिधा व्यापार ही वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ एवं व्यड्.ग्यार्थ का बोध कराने में सक्षम है ।

इस प्रकार प्राभाकर दर्शन में भी पदार्थ का वाक्यार्थ के साथ उपाय मात्र का सम्बन्ध होता है । जिस प्रकार बाण का व्यापार सन्धान के बाद वर्मच्छेद, मर्मच्छेद एवं प्राणहरण के रूप में आगे बढ़ता है, तथा मुख्य प्रयोजन प्राणहरण है और वर्मच्छेद, मर्मच्छेद उपायरूप हैं, उसी प्रकार वाक्यार्थ की प्रतीति में पदार्थ की प्रतीति उपायरूप होती है ।

पूर्वपक्षी ने "विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुड्.क्थाः" उदाहरण देकर ध्वनिवादियों की "उपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यम्, न तु प्रतीतमात्रे" मान्यता को निरस्त कर दिया है । उनका तर्क है कि ध्वनिवादी यह कहते हैं कि "उपात्त शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य होता है प्रतीतमात्र में नहीं" ।

"विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुड्.क्थाः" उदाहरण में दो वाक्य हैं ॥1॥ विषं भक्षय ॥2॥ मा चास्य गृहे भुड्.क्थाः । इन दोनों का तात्पर्य है कि इसके घर में कदापि न खाओ । यद्यपि यह दूसरे वाक्य का वाच्यार्थ है किन्तु प्रथम वाक्य विषं भक्षय का तात्पर्य भी इसी में है । ध्वनिवादी भी इस बात को स्वीकार करता ही है । उदाहरणगत प्रथम वाक्य विषं भक्षय का तात्पर्यभूत अर्थ "इसके घर कदापि न खाओ" उसका वाच्यार्थ ॥शब्द प्रतिपादित अर्थ॥ तो है नहीं, इसलिये ध्वनिवादी का यह कथन "उपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यम् न तु प्रतीतमात्रे" स्वयं खण्डित हो जाता है, व्यड्.ग्यार्थ भी तो वाच्यार्थ से भिन्न होता है तो उसका

1- योऽप्यन्विताभिधानवादी "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" इति हृदये गृहीत्वा शरवदभिधाव्यापारमेव दीर्घदीर्घमिच्छति ।

– ध्व. लो. पृ. 62

ग्रहण क्यों न अभिधा से माना जाये, व्यञ्जना की कल्पना करने की क्या आवश्यकता ?[1]

मीमांसकों का एक पक्ष व्यङ्.ग्यार्थ की प्रतीति को नैमित्तिक मानता है ।[2] "नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्पयन्ते" इस न्याय से शब्द ही व्यङ्.ग्यार्थ प्रतीति का निमित्त है । उनका आशय यह है कि लोक में घट, पट आदि पदार्थ नैमित्तिक होते हैं, वे अपने निमित्त मृत्तिका, कुम्भकार आदि की अपेक्षा रखते हैं, इस दृष्टि से शब्द श्रवण के पश्चात् व्यङ्.ग्यार्थ भी किसी निमित्त की अपेक्षा रखता है । बिना कारण के कोई कार्य नहीं हो सकता है । अतः व्यङ्.ग्यार्थ की प्रतीति भी घट, पट के समान नैमित्तिकी है ।

इस प्रकार शब्द निमित्त होने के कारण बोधक है और व्यङ्.ग्यार्थ बोध्य है । बोध्यबोधकभाव सर्वथा वृत्तिमुखापेक्षी है । अतः अभिधा वृत्ति से शब्द ही व्यङ्.ग्यार्थ का भी बोध कराता है, इस प्रकार जब अभिधा वृत्ति द्वारा ही समस्त वाच्य और व्यङ्.ग्य अर्थों का बोध हो रहा है तो व्यञ्जना वृत्ति की क्या आवश्यकता?

अभिहितान्वयवादी मीमांसकों के अनुसार जिस प्रकार शब्दों के अर्थों से भिन्न तथा उनसे गतार्थ न होने वाले वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति के लिये तात्पर्यवृत्ति का प्रयोग होता है उसी प्रकार तात्पर्य वृत्ति से ही शैत्य पावनत्व रूप प्रयोजन की प्रतीति भी हो जायेगी। व्यञ्जना वृत्ति की कल्पना व्यर्थ है ।[3] मम्मट ने अभिहितान्वयवाद के निरूपण के प्रसङ्.ग में तात्पर्यवृत्ति

1- यत्तु विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्.क्थाः इत्यत्र एतद्गृहे न भोक्तव्यमित्यत्र तात्पर्यमिति स एव वाक्यार्थ इति ।

– का. प्र. पृ. 250

2- यदप्युच्यते " नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते " इति ।

– का. प्र. पृ. 247

3- नन्वेवं माभूद्वाचकशक्तिस्तथापि तात्पर्यशक्तिर्भविष्यतीत्याशङ्.क्याह ।

– ध्व. लो. पृ. 460

उल्लेख किया है ।[1] उनके अनुसार सर्वप्रथम अभिधाशक्ति के द्वारा पदार्थबोध होता है । तत्पश्चात् आकाङ्क्षा, सन्निधि, योग्यता के कारण उन पदार्थों के अन्वय अर्थात् परस्पर सम्बद्ध होने पर एक तात्पर्य रूप अर्थ प्रकट होता है, जो कि विशेष स्वरूप वाला होता है, और पदों का अर्थ न होता हुआ भी वाक्यार्थ कहलाता है । इस प्रकार वाक्यार्थ बोध कराने वाली यह वृत्ति तात्पर्या वृत्ति है । वस्तुतः इस तात्पर्यावृत्ति के संस्थापक आचार्य जयन्तभट्ट हैं, जिन्होंने अन्वयसाधिका तात्पर्यवृत्ति को स्वीकार किया है । [2] उदाहरणार्थ "घटं करोति" इस वाक्य में दो अंश हैं (1) घटम् (2) करोति । करोति पद क्रिया का वाचक है । घटम् पद के भी दो अंश हैं । "घट" प्रकृति और अम् प्रत्यय । इस प्रकार घट शब्द से घड़े का ज्ञान होता है तथा अम् प्रत्यय कर्म का वाचक है । इस प्रकार घटम् का अर्थ हुआ घटाश्रित कर्मत्व तथा करोति अर्थात् क्रिया। इन दोनों में सम्बन्ध स्थापित करने के लिये न ही कोई शब्द, न ही अभिधा सक्षम है । अतएव इस सम्बन्ध को स्थापित करने के लिये अभिहितान्वयवादियों ने तात्पर्या वृत्ति को स्वीकार किया है ।[3]

आचार्य अभिनवगुप्त ने "भ्रम धार्मिक" उदाहरण अभिहितान्वयवादियों के अनुसार तात्पर्या वृत्ति से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के समर्थन में युक्तियों का उल्लेख किया है। "भ्रम धार्मिक" पद्य मे धार्मिक और दृप्त आदि पदों का अन्वय सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि दृप्त सिंह के होने पर धार्मिक का तो भ्रमण सम्भव नहीं । इस प्रकार यहां पदार्थों के अन्वय के अभावरूप मुख्यार्थ का बाध होने के कारण विपरीत

1- आकाङ्क्षा - योग्यता - सन्निधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यभिहितान्वयवादिनां मतम् ।

- का. प्र. पृ. 34

2- अभिधात्री मता शक्तिः पदानां स्वार्थनिष्ठा ।
तेषां तात्पर्यशक्तिस्तु संसर्गावगमावधिः ।।

- न्यायमञ्जरी पृ. 372

3- अभिधायाः एकैकपदार्थबोधनविरमात् वाक्यार्थरूपस्य पदार्थान्वयस्य बोधिका तात्पर्यं नाम वृत्तिः । तदर्थश्चतात्पर्यार्थः । तद्बोधकं च वाक्यम् । इति अभिहितान्वयवादिनां मतम् ।

- सा. द. पृ. 46

लक्षणा का अवसर आता है । तात्पर्या वृत्ति जिसका भ्रमण-निषेध में पर्यवसान नहीं हुआ था, विपरीत लक्षणा की सहायता से भ्रमण निषेध की प्रतीति कराती है । चूंकि तात्पर्या वृत्ति और लक्षणा दोनों ही अभिधाश्रित शक्तियां हैं, अतएव निषेधपरक अर्थ भी वाच्य ही होगा । अपने मत की पुष्टि के लिये मीमांसक एक और तर्क देते हैं कि सामान्यतः लोक-व्यवहार में देखा जाता है क वक्ता के विवक्षित अर्थ के शब्दोपात्त न होने पर भी यही कहा जाता है कि "एवमनेन उक्तम्" इस प्रकार मीमांसकों के अनुसार दूसरा अर्थ जो ध्वनिवादियों की दृष्टि में व्यङ्.ग्य अर्थ हैं, वस्तुतः वाच्य ही है ।[1]

यह तो रही अभिहितान्वयवादियों और अन्विताभिधानवादियों के अनुसार व्यञ्जना की निरर्थकता । आचार्य अभिनवगुप्त ने "भ्रम धार्मिक" के ही प्रसङ्.ग में व्यञ्जना विरोधियों के अन्तर्गत वैयाकरणों को भी परिगणित कर लिया है ।[2] यद्यपि यह सत्य है कि प्राचीन वैयाकरणों ने व्यञ्जना का शब्द की वृत्ति के रूप में विवेचन नहीं किया है । तथापि यह भी सत्य है कि नागेशभट्ट जैसे अर्वाचीन वैयाकरण ने व्यञ्जना को शब्द की वृत्ति के रूप में स्वीकार कर उसका विवेचन किया है । प्राचीन वैयाकरण भी व्यञ्जकत्व के समर्थक तो थे ही इसीलिये आचार्य आनन्दवर्धन इन्हें व्यञ्जना-विरोधियों की कोटि में न रख कर स्पष्ट कहते हैं कि निरपभ्रंश शब्द ब्रह्म को परिनिश्चित करने वाले विद्वान वैयाकरणों के मत के आधार पर ही यह ध्वनि व्यवहार प्रवृत्त हुआ है, अतः उनके साथ विरोध-अविरोध का प्रश्न ही नहीं उठता ।[3] आचार्य आनन्दवर्धन

1- ननु तात्पर्यशक्तिरपर्यवसिता विवक्षया दृप्तधार्मिक तदादिपदार्थानन्वयरूपमुख्यार्थबाधबलेन विरोधनिमित्तया विपरीतलक्षणया च वाक्यार्थीभूतनिषेधप्रतीतिमभिहितान्वयदृशा करोतीति शब्दशक्तिमूल एव सोऽर्थः । एवमनेनोक्तमिति हि व्यवहारः, तन्न वाच्यातिरिक्तोऽन्योऽर्थ इति ।

— ध्व. लो. पृ. 54

2- येऽप्यविभक्तं स्फोटं वाक्यं तदर्थं चाहुः, तैरप्यविद्यापदपतितैः सर्वेयमनुसरणीया प्रक्रिया ।

— ध्व. लो. पृ. 66

3- परिनिश्चितनिरपभ्रंशशब्दब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहार इति तैः सह किं विरोधाविरोधौ चिन्त्येते ।

— ध्व. तृ. उ. पृ. 481

वैयाकरणों का उल्लेख आदरपूर्वक करते हैं[1]

ध्वन्यालोककार ने तृतीय उद्योत में अनुमितिवादी नैयायिकों के अनुसार व्यञ्जना की खण्डनात्मक युक्तियों को उपन्यस्त किया है । आचार्य स्थूणनिखनन्यायेन ध्वनि की प्रतिष्ठा हेतु अनुमितिवाद की भी पूर्वपक्ष के रूप में उद्भावना करते हैं । अनुमितिवादी नैयायिकों के अनुसार व्यञ्जकत्व शब्दों का गमकत्व है तथा यह गमकत्व लिङ्गत्व ही है । अतः व्यङ्ग्य प्रतीति का अर्थ है लिङ्ग प्रतीति और व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव लिङ्गलिङ्गिभाव ही हुआ ।[2] इस प्रकार काव्यार्थ–ज्ञान के लिये व्यञ्जना मानने की आवश्यकता नहीं, अनुमान से ही काव्यार्थ का ज्ञान हो जायेगा । अनुमितिवादी आनन्दवर्धन की ही मान्यता के आधार पर व्यञ्जना का खण्डन करते हुए कहते हैं कि वक्ता का अभिप्राय तो अनुमानरूप ही होता है क्योंकि वक्ता के व्यङ्ग्य अभिप्राय के प्रकाशन में शब्द लिङ्ग होता है । इस प्रकार व्यञ्जना व्यापार अनुमिति से भिन्न कुछ नहीं है ।[3]

अथ ध्वन्यालोक में निहित पूर्वपक्षी आचार्यों की युक्तियों के विवेचन के अनन्तर मीमांसकों, आलंकारिकों, वैयाकरणों आदि की व्यञ्जना विरोधी युक्तियों पर पृथक् रूप से विचार करना अपेक्षित प्रतीत होता है ।

व्यञ्जना विरोधी मीमांसक

मीमांसक वाक्यार्थ बोध के लिये अभिधा, तात्पर्या तथा लक्षणा वृत्ति को स्वीकार करते हैं, उनके मत में व्यञ्जना वृत्ति की कोई आवश्यकता नहीं है । मीमांसकों के दो वर्ग हैं – (1) अभिहितान्वयवादी

1– प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम् । ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति ।।
–ध्व. पृ. 138

2– व्यञ्जकत्वं शब्दानां गमकत्वं तच्च लिङ्गत्वमतश्च व्यङ्ग्यप्रतीतिर्लिङ्गप्रतीतिरेवेति लिङ्गलिङ्गिभाव एव तेषां व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो नापरः कश्चित् ।
– ध्व. तृ. उ. पृ. 484

3– अतश्चैतदवश्यमेव बोद्धव्यं यस्माद्वक्त्राभिप्रायापेक्षया व्यञ्जकत्वम् इदानीमेव त्वया प्रतिपादितं वक्त्राभिप्रायश्चानुमेयरूप एव ।
–ध्व. पृ. 484

§2§ अन्विताभिधानवादी। भाट्ट मीमांसकों के अनुसार पद पदार्थ–स्वरूप के ही अभिधायक होते हैं, वे आकांक्षा, §पदों की पारस्परिक अपेक्षा§ सन्निधि, §पदों की एकबुद्ध्यपारूढ़ता§ योग्यता §पदों की पारस्परिक अन्वय योग्यता§ रूप सहकारी कारणों से युक्त होकर लक्षणा से वाक्यार्थ का बोध कराते हैं । शाबर भाष्य के स्थल पर लिखा है कि पद अपने–अपने अर्थ को कहकर अपने–अपने व्यवहार से निवृत्त हो जाते हैं । उसके पश्चात् पदार्थ ज्ञात होते हुए वाक्य के अर्थ का बोध कराते हैं ।[1] ठीक यही बात कुमारिलभट्ट ने भी कहा है कि पदों का प्रयोग वाक्यार्थ की प्रतीति के लिये ही किया जाता है, यह सम्भव नहीं है । पद प्रयुक्त होकर पहले पदार्थ की प्रतीति कराते हैं । तत्पश्चात् इस पदार्थ प्रतीति के अनन्तर वाक्यार्थ की प्रतीति होती है । जिस प्रकार ईंधन का प्रयोग भोजन पकाने के लिये किया जाता है, परन्तु ईंधन सर्वप्रथम ज्वाला उत्पन्न करता है और तत्पश्चात् उसी से पाक होता है । ठीक यही स्थिति पद एंव वाक्यार्थ की है । अर्थात् पहले पदों से पदार्थों की उपस्थिति होती है और तत्पश्चात् उपस्थित पदार्थों से वाक्यार्थबोध होता है ।[2]

पार्थसारथिमिश्र के अनुसार प्रथमतः पदों का अपना अर्थ ही अभिधेय होता है तत्पश्चात् पदार्थ ही अन्वितरूप वाक्यार्थ का प्रतिपादन करते हैं और वह वाक्यार्थ पदार्थगम्य ही होता है । अतएव मीमांसकों के अनुसार वाक्यार्थ ही लक्षणिकार्थ हैं । उसका कारण है शक्यार्थ सम्बन्धवश वाक्यार्थरूप अर्थान्तर की प्रतीति । [3]

1– पदार्थाः । पदानि हि स्वं स्वं पदार्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि ।
अथेदानीं पदार्था अवगताः, सन्तो वाक्यार्थं गमयन्ति ।।
– शाबरभाष्य, पृ. 83

2– साक्षाद् यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम् ।
वर्णास्तथापि नैतस्मिन् पर्यवस्यन्ति निष्फले ।। 342 ।।
वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम् ।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम् ।। 343 ।।
§श्लोकवार्तिक, पृ. 1144§

3–" इतरेषां तु शब्दानां स्वार्थरूपमेवाभिधेयमन्वितरूपस्तु वाक्यार्थः पदार्थगम्य इति । अतएव वाक्यार्थो लाक्षणिक इति मीमांसकाः । अभिहितार्थसम्बन्धवशादभिगम्यमानत्वात्" ।
§न्यायरत्नमाला, वाक्यार्थनिर्णय, पृ. 102§

अभिहितान्वयवादी मीमांसक पार्थसारथि मिश्र ने शास्त्रदीपिका के तर्कपाद में एक स्थल पर पदार्थ एवं वाक्यार्थ दोनों की लक्ष्यार्थता का प्रतिपादन किया है । उनका मत है कि वाक्यार्थ न तो साक्षात् वाक्य से लभ्य है और न साक्षात् पद समूह से ही, किन्तुपदस्वरूप से अभिहित पदार्थ की सामर्थ्य से ही वाक्यार्थ का अवगमन (लक्षणा से) होता है ।[1]

यथा- "गामानय" इस वाक्य में आनयति, आनयन सामान्य का अभिधान कर आनयन व्यक्ति का लक्षणा से सबोध कराता है । इसी प्रकार "गोपद" भी स्वार्थ गो रूप अर्थ के द्वारा आनयन को गोकर्मक के रूप में तत्सम्बद्ध के रूप से लक्षणया बोध कराता है। इस प्रकार जिस-जिस वाक्य में जो-जो अर्थ विशेष्य के रूप में विवक्षित हैं उसी अर्थ को सामान्यवाची स्वपद से लक्षित करते हुये दूसरे पद स्वार्थ के अभिधान के द्वारा तत्सम्बन्धि के रूप में लक्षित करते हैं, अर्थात् उसका लक्षणावृत्ति से प्रत्यायन कराते हैं ।[2] इस प्रकार "गाम् आनय" आदि वाक्यगत विभक्त्यन्त पदों के द्वारा पदों के निज अर्थों का बोध उत्पन्न होता है । यह पदार्थ ही अभिधेय है । इन अभिधेय पदार्थों के कारण इनमें परस्पर संसर्ग का अनुभव होता है । यह संसर्गानुभव ही अन्वय कहा जाता है । इस अन्वय की उत्पत्ति न पदों से ही होती है और न पद संघातरूप वाक्य से । यह अन्वयबोध चूंकि पदार्थों का होता है अतः अन्वय व्यतिरेक से पदार्थों को ही अन्वय एवं अन्वित पदार्थरूप वाक्यार्थ का कारण मानना उचित है । इस प्रकार अनन्वित अवस्थावाले पदार्थ स्वसम्बन्धी अन्वित अवस्था के लक्षक हैं । फलतः अन्वित पदार्थों की प्रतीति के लिये पदों में शक्ति की कल्पना करना उचित नहीं है । सर्वत्र वाक्यार्थ की प्रतीति

1- तस्मान्न वाक्यं न पदानि साक्षाद्वाक्यार्थबुद्धिं जनयन्ति किन्तु ।
पदस्वरूपाभिहितैः पदार्थैः संलक्ष्यतेऽसाविति सिद्धमेतत् ।।
- न्यायरत्नमाला, वाक्यार्थनिर्णय, पृ. 102

2- तस्मात्पदाभिहितैः पदार्थैर्लक्षणया वाक्यार्थः प्रतिपाद्यते । तत्र गामानयेत्यानयतिरानयनसामान्यमभिधाय तद्व्यक्तिं लक्षयति गोपदमपिस्वार्थद्वारेणानयनमेव गोकर्मकत्वाकारेण तत्सम्बन्धिस्वरूपेण लक्षणया प्रतिपादयति, एवं यत्र -यत्र वाक्ये यो योऽर्थो विशेष्यत्वेन विवक्षितस्तमेव स्वपदेन सामान्यवाचिना लक्षितं सन्तमितराणि पदानि स्वार्थाभिधानद्वारेण तत्सम्बन्धिरूपेण लक्षयन्ति ।
- शास्त्रदीपिका पृ. 154

लक्षणा द्वारा ही हुआ करती है ।[1]

किन्तु मम्मट आदि प्रमुख आलंकारिकों ने अभिहितान्वयवाद के निरूपण के प्रसङ्ग में तात्पर्या वृत्ति को वाक्यार्थबोधिका स्वीकार किया है तथा लक्षणा को निरवकाश कर दिया है । मम्मट के अनुसार अभिहितान्वयवादियों का मत है सर्वप्रथम अभिधा शक्ति के द्वारा पदार्थबोध होता है । तत्पश्चात् आकांड़्क्षा, सन्निधि, योग्यता के कारण उन पदार्थों के अन्वय अर्थात् परस्पर सम्बद्ध होने पर एक तात्पर्य रूप अर्थ प्रकट होता है जो कि विशेष स्वरूप वाला होता है और पदों का अर्थ न होता हुआ भी वाक्यार्थ कहलाता है । इनके अनुसार वाक्यार्थ बोध कराने वाली यह वृत्ति तात्पर्या वृत्ति है ।[2] प्रदीपकार ने व्याख्या में इस मत को भाट्ट मीमांसकों का मत कहा है, जबकि भाट्ट मीमांसकों के पूर्वोक्त विवेचन में तात्पर्या वृत्ति का अवकाश ही नहीं है वहां तो वाक्यार्थ बोध लक्षणया होता है ।

वस्तुतः यह तात्पर्यावृत्ति जिसका निरूपण मम्मट ने अभिहितान्वयवाद के प्रसङ्ग में किया है, इसके संस्थापक आचार्य जयन्तभट्ट हैं न कि कुमारिल भट्ट । जयन्तभट्ट ने स्पष्ट रूप से अन्वयसाधिका तात्पर्या वृत्ति को स्वीकार किया है ।[3] अभिनवगुप्त ने भी जयन्तभट्ट सम्मत तात्पर्यावृत्ति को (अभिहितान्वयवादी भाट्ट मीमांसकों को मान्य समझकर) अभिहितान्वयवाद के प्रसङ्ग में उल्लेख

1- वार्तिककारमिश्रास्तु लाक्षणिकान् सर्ववाक्यार्थानिच्छन्तः पदार्थानामन्वयावबोधकशक्तिकल्पनां निराकुर्वन्ति । अनन्वितावस्थो हि पदार्थोऽभिहितोऽन्वितावस्थां स्वसम्बन्धिनीं लक्षयति । --- तेन नास्ति पदानामन्वितबोधने शक्तिकल्पनेति । तदाहुः - वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति नः स्थितिः ।

- शालिकनाथकृत वाक्यार्थमातृकावृत्ति पृ. 48-49

2- आकांड़्क्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद्वक्ष्यमाण स्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यभिहितान्वयवादिनां मतम् ।

- का. प्र. पृ. 34

3- अभिधात्री मता शक्तिः पदानां स्वार्थनिष्ठता ।
तेषां तात्पर्यशक्तिस्तु संसर्गावगमावधिः ।।

- न्यायमञ्जरी पृ. 372

किया है ।[1]

भाट्ट मीमांसक ध्वनिवादियों द्वारा मान्य व्यञ्जना व्यापार को अस्वीकार करते हैं । उनका कथन है कि प्रतीयमान अर्थ शास्त्र-सिद्ध अभिधा से ही गम्य है, तदर्थ व्यञ्जना वृत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । मीमांसकों को न व्यञ्जना व्यापार मान्य है न ही व्यङ्ग्यार्थ । उनका मत है कि चूंकि व्यञ्जक की सिद्धि से व्यङ्ग्यार्थ की सिद्धि होती है और व्यङ्ग्यार्थ की सिद्धि से व्यञ्जक की सिद्धि, अतएव "अन्योन्याश्रयाणि कार्याणि न प्रकल्प्यन्ते" के अनुसार इन दोनों की सत्ता ही अव्यवस्थित हो जायेगी ।[2] "भ्रम धार्मिक" उदाहरण में द्वितीय अर्थ तो पृथक् रूप से अभिहितान्वयवादी मीमांसकों को भी मान्य है किन्तु मीमांसकों की दृष्टि में दूसरा निषेधपरक अर्थ वाच्यार्थ ही है व्यङ्ग्यार्थ नहीं । क्योंकि वाक्य का तात्पर्य इसी में है, अतएव उसके बोधार्थ अभिधाव्यापार को स्वीकार किया जाना चाहिये तथा व्यञ्जना व्यापार (एक पृथक् व्यापार) को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ।[3]

भाट्टमतानुयायियों के अनुसार "भ्रम धार्मिक" में निषेधरूप जो तात्पर्यविषयक अर्थ है वह भी वाच्य है तथा प्रथम विधिरूप अर्थ भी वाच्य ही है किन्तु वह उपायरूप है । जिस प्रकार ईन्धन का मुख्य फल है ओदनादि का पाक तथा अवान्तर फल है ज्वलन उसी प्रकार पदार्थ-प्रतीति उपाय है तथा वाक्यार्थ प्रतीति मुख्य फल है, किन्तु हैं दोनों वाच्य रूप । इस प्रकार जैसे "गामानय" पद में पदार्थ का ज्ञान सर्वप्रथम अभिधा के द्वारा होने पर भी वाक्यार्थ वाच्यरूप ही होता है उसी प्रकार "भ्रमधार्मिक" आदि विशिष्ट द्वयर्थक वाक्यों में प्रथम अर्थ पदार्थस्थानीय होने के कारण

1- ततो विशेषरूपे वाक्यार्थे तात्पर्यशक्तिः परस्परान्विते ।

— ध्व. लो. पृ. 54

2- किमिदं व्यञ्जकत्वं नाम व्यङ्ग्यार्थप्रकाशनम्, न हि व्यञ्जकत्वं व्यङ्ग्यत्वं चार्थस्य व्यञ्जकसिद्ध्यधीनं व्यङ्ग्यत्वम् व्यङ्ग्यापेक्षया च व्यञ्जकत्वसिद्धिरित्यन्योन्यसंश्रयादव्यवस्थानम् ।

— ध्व. तृ. उ. पृ. 454-455

3- स त्वर्थो व्यङ्ग्यतयैव कस्माद्व्यपदिश्यते यत्र च प्राधान्येनानवस्थानं तत्र वाच्यतयैवासौ व्यपदेष्टुं युक्तः तत्परत्वाद्वाक्यस्य । अतश्च तत्प्रकाशिनो वाक्यस्य वाचकत्वमेव व्यापारः । किं तस्य व्यापारान्तरकल्पनया ?

— ध्व. तृ. उ. पृ. 455-456

उपायरूप होगा तथा द्वितीय अर्थ वाक्यार्थस्थानीय होने के कारण मुख्यरूप से अभिधेय होगा ।

जयन्तभट्ट ने भी न्यायमञ्जरी में पूर्वोक्त उदाहरण "भ्रमधार्मिक" में व्यञ्जना की निरर्थकता सिद्ध की है । उनके अनुसार दूसरा अर्थ वाच्यरूप ही होगा ।[1]

आचार्य अभिनवगुप्त ने भी प्रथम उद्योत में अभिहितान्वयवादियों के मत को प्रस्तुत किया है । मीमांसकों के अनुसार "भ्रम धार्मिक" इस वाक्य में धार्मिक और दृप्त आदि पदों का अन्वय सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि दृप्त सिंह के होने पर धार्मिक का भ्रमण तो सम्भव नहीं । इस प्रकार यहाँ पदार्थों के अन्वय के अभावरूप मुख्यार्थ का बाध होने के कारण विपरीतलक्षणा का अवसर आता है । तात्पर्या वृत्ति जिसका भ्रमण-विधि में पर्यवसान नहीं हुआ था, विपरीतलक्षणा की सहायता से भ्रमण-निषेध की प्रतीति कराती है । चूंकि तात्पर्या वृत्ति और लक्षणा दोनों ही अभिधाश्रित शक्तियां हैं अतएव निषेध परक अर्थ भी वाच्य ही होगा । अपने मत की पुष्टि के लिये मीमांसक एक ओर तर्क देते हैं कि सामान्यतः लोक व्यवहार में यह देखा जाता है कि वक्ता के विवक्षित अर्थ के शब्दोपात्त न होने पर भी यही कहा जाता है कि "एवमनेन उक्तम्" [2] इस प्रकार मीमांसकों के अनुसार दूसरा अर्थ जो ध्वनिवादियों की दृष्टि में व्यङ्.ग्य अर्थ है, वस्तुतः वाच्य ही है ।

1- "एतेन शब्दसामर्थ्यम् - - - - - सोऽपि वारितः
यमन्यः पण्डितंमन्यः प्रपेदे कञ्चन् ध्वनिम् ।
विधेर्निषेधावगतिर्विधिबुद्धिनिषेधतः । यथा -
भम धम्मिअ वीसत्थो ॥1॥ " मा सा पन्थ गृहं विश "
मानान्तरपरिच्छेद्यवस्तुरूपोपदेशिनम्
शब्दानामेव सामर्थ्यं तत्र तत्र तथा तथा
अथ वा नेदृशी चर्चा कविभिः सह शोभते
विद्वांसोऽपि विमुह्यन्ति वाक्यार्थगहनेऽध्वनिः । -न्यायमञ्जरी पृ. 377

2- ननु तात्पर्यशक्तिरपर्यवसिता विवक्षया दृप्तधार्मिकतदादिपदार्थानन्वयरूपमु -ख्यार्थबाधबलेन विरोधनिमित्तया विपरीतलक्षणया च वाक्यार्थीभूतनिषेध -प्रतीतिमभिहितान्वयदृशा करोतीति शब्दशक्तिमूल एव सोऽर्थः । एवमनेनोक्तमिति हि व्यवहारः तन्न वाच्यातिरक्तोऽन्योऽर्थ इति ।
- ध्व. लो. पृ. 54

अन्विताभिधानवादी और व्यञ्जना

यह मत प्रभाकर मत के नाम से भी जाना जाता है । इनका विचार है कि अन्वित पदार्थों का बोध अन्वित पदों से ही होता है । अतएव संसर्ग-बोधार्थ अन्वय-साधिका, अभिधा से भिन्न तात्पर्या वृत्ति की कल्पना व्यर्थ ही है । उनके मत में अन्वित अर्थ जो परस्पर सम्बद्ध नहीं है उनका कथन नहीं हो सकता । जब अन्वित पदों में शक्तिग्रह होता है तो अन्वितार्थ की प्रतीति अवश्यम्भावी है और यह पदार्थ ही वाक्यार्थ है । लोक में वाक्य ही प्रवृत्ति और निवृत्ति का हेतु है । इसको इस प्रकार समझना चाहिये - जब उत्तम वृद्ध ने मध्यम वृद्ध से "गाम् आनय" ऐसा कहा तो मध्यम वृद्ध सास्नादिमान गो पदार्थ का आनयन करता है उसे देखकर समीप बैठे बालक को जिसे उन पदों के अर्थ नहीं ज्ञात हैं, उसने सुना और देखा कि अमुक व्यक्ति सास्नादिमान् एक विशेष प्रकार के पशु को लाता है । इस प्रकार प्रारम्भ में व्यवहार से उन-उन पदों के अर्थों को समझता है ।

यद्यपि मुक्तावलीकार ने शक्तिग्रह के आठ उपाय बताये हैं -

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान - कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ।।[1]

तथापि व्यवहार ही प्रधानरूप से शक्तिग्रह का कारण है । उत्तम वृद्ध जब मध्यम वृद्ध को "गाम् आनय", "अश्वं च नय" इस प्रकार आदेश देता है तब मध्यम वृद्ध गवादि पदार्थ का आनयन एवं अश्व पदार्थ का नयन करता है । मध्यस्थ बालक उत्तम वृद्ध के मुख से कहे गये शब्दों को श्रवणेन्द्रिय से सुनकर तथा आनयन और नयन रूप व्यापार का चाक्षुष प्रत्यक्ष करता है जिससे बालक यह अनुमान करता है कि मध्यम वृद्ध ने इस प्रकार के पद से इस प्रकार के अर्थ को समझा है । बालक यह समझता है कि गो आदि पदों के अर्थ सास्नादिमान् गोत्व आदि वाच्य हैं और गो आदि ध्वनि वाचक हैं । अतः बालक को वाच्य-वाचक सम्बन्ध ज्ञात हो जाने पर पदार्थ से ही वाक्यार्थ सिद्ध होता है । जैसे वृक्ष पद का वृक्षत्व रूप सामान्य अर्थ है और आम्र, अशोक आदि रूप विशिष्ट अर्थ उसके अन्तर्गत ही है, और उसका वृक्षत्व से आक्षेप हो जाता है उसी

1- न्याय सिद्धान्त मुक्तावली - शब्दखण्ड पृ. 100

प्रकार अनन्वित गोत्व सामान्य अर्थो का व्यवहार में उपयोग न होने से तदन्तर्गत अन्वित वाक्यार्थ विशिष्ट अर्थ में समुल्लसित होता है । इस प्रकार प्राभाकरों के मत में अभिधा ही वाक्यार्थ का बोध कराती है, तात्पर्या वृत्ति की कोई आवश्यकता नहीं ।[1]

"यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" अर्थात् जिस अर्थ का बोध कराने के लिये किसी शब्द का प्रयोग होता है, वह उस शब्द का ही अर्थ है, अतः व्यङ्.ग्यार्थ भी शब्द का ही अर्थ है इसलिये अभिधा व्यापार का ही विषय है, तथा "सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः" यह जो भट्ट लोल्लट का कथन है कि जिस प्रकार धनुर्धारी एक ही बाण से शत्रु का वर्मच्छेद, मर्मच्छेद एवं प्राणहरण तीनों ही कर लेता है उसी प्रकार एक ही अभिधा व्यापार वाच्य, अन्वय एवं व्यङ्.ग्यार्थ सभी की प्रतीति करा देता है । अर्थात् एक अर्थ की प्रतीति के पश्चात् शब्द-शक्ति का तब तक विराम नहीं होता जब तक विवक्षित अर्थ की प्रतीति नहीं हो जाती । मीमांसक एक और युक्ति अभिधा के समर्थन में देते हैं कि ध्वनिवादियों का यह कथन असंगत है कि उपात्त शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य होता है प्रतीतिमात्र में नहीं, क्योंकि "विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्.क्थाः" इस वाक्य में यह नियम सिद्ध नहीं होता । यहां पर दो वाक्य हैं ﴾1﴿ विषं भक्षय ﴾2﴿ मा चास्य गृहे भुङ्.क्थाः । इन दोनों का एक ही तात्पर्य है कि कभी भी इसके घर में मत खाओ । इस वाक्य में वाच्यार्थ का ग्रहण नहीं है, फिर भी अभिधा से गृहीत है उसी प्रकार वाच्यार्थ से भिन्न व्यङ्.ग्यार्थ भी होता है तो उसका ग्रहण क्यों न अभिधा से माना जाये, व्यञ्जना वृत्ति की कल्पना करने की क्या आवश्यकता?

1- वक्ता वाक्यं प्रयुङ्.क्ते च संसृष्टार्थविपक्षया ।
तथैव बुद्ध्यते श्रोता तथैव च तटस्थितः ।।
एकार्थः पदसमूहो वाक्यमिति वाक्यविदः,
तत्रायं पदसमूह एकार्थो भवति एवं न संहत्यार्थमभिदध्युः
पदानि यथैकस्यैव पदस्य व्यापारः, - - -
यथा शिविकाया उद्धन्तारः सर्वे शिविकायामुद्यच्छन्ति,
यथा त्रयोऽपि ग्रावाण उखां बिभ्रति तथा सर्वाण्येव
पदानि वाक्यार्थमवबोधयन्ति, ﴾न तु, एकैकमनन्वितमर्थम्﴿ ।
- न्यायमञ्जरी पृ. 366

इस प्रकार मीमांसकों के दोनो ही वर्ग ॥अभिहितान्वयवादी, अन्विताभिधानवादी॥ किसी भी प्रकार व्यञ्जना वृत्ति को मानने के लिये तैयार नहीं हैं ।

भट्ट नायक और व्यञ्जना

भट्टनायक कालक्रमानुसार लोचनकार के निकट पूर्ववर्ती तथा ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन के परवर्ती हैं । भट्टनायक इस का प्राधान्य अङ्गीकार करते हुये भी व्यञ्जना से उसकी प्रतीति के विषय में विरोध करते हैं । यद्यपि उनका ग्रन्थ "हृदय दर्पण" जो कि ध्वनि को ध्वंस करने के लिये ही लिखा गया था, आज उपलब्ध नहीं है फिर भी परवर्ती आचार्यों के द्वारा अपने ग्रन्थों में दिये गये उदाहरणों से उनकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है । विशेषतः लोचनकार, मम्मट ने उनके मत का यत्र-तत्र उल्लेख किया है । भट्टनायक में शब्द के तीन व्यापार स्वीकार किये हैं । ॥1॥ अभिधा, भावकत्व, भोजकत्व ।[1] उनके अनुसार रसास्वादन इन तीनों व्यापारों से ही सम्भाव्य है, व्यञ्जना से नहीं । भट्टनायक की दृष्टि में रस व्यङ्ग्य न होकर भोज्य है । काव्य में अभिधा से विलक्षण भावकत्व नामक व्यापार से साधारणीकृत स्थायीभाव व भोजकत्व व्यापार के द्वारा रस रूप में भोगा जाता है। यह व्यञ्जना द्वारा रस की अभिव्यक्ति ॥ जो ध्वनिमार्गानुयायियों को अभीष्ट है॥ का बलपूर्वक खण्डन करते हैं ।

जहां तक रस ध्वनि की मान्यता का प्रश्न है वहां आनन्दवर्धन एवं भट्टनायक में कोई विरोध नहीं है क्योंकि वे दोनों ही रसप्राधान्यवादी हैं ।[2] बस विरोध केवल वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि में है । भट्टनायक

1- तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्, भावकत्वं रसादिविषयम्, भोगकृत्वं सहृदयविषयमिति त्रयोऽशभूतव्यापाराः ।

– पट्टाभिराम, ध्व. लो. 182

2- ॥क॥ व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि ।
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान् ।।

– ध्व. च. उ. पृ. 469

॥ख॥ वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रस यद् बालतृष्णया ।

इन दोनों ध्वनियों को मानने के लिये बिल्कुल तैयार नहीं है और कहते हैं –

> ध्वनिर्निर्मापरो योऽयं व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ।
> तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्यात् काव्येंऽशत्वं न रूपता ।।[1]

ध्वनि काव्य का अंश है, स्वरूप नहीं । इसका तात्पर्य वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि को अंशरूप मानने में ही है, क्योंकि रसध्वनि तो भट्टनायक को मान्य है ही ।

भट्टनायक के अनुसार यदि ध्वनि को ही स्वरूप मान लिया जाये तो व्यङ्ग्यार्थ तो सभी जगह विद्यमान है । साधारणतया कोई चतुर वक्ता अपनी बात को व्यङ्ग्यात्मक भाषा में ही कहता है । अस्तु वस्तुध्वनि सभी जगह विद्यमान रहेगी और सभी जगह ध्वनि माननी पड़ेगी ।[2] अतएव भट्टनायक काव्य की रसपरक व्याख्या करते हैं तथा आनन्दवर्धन ने जहाँ वस्तुध्वनि से काव्य का चारुत्व बताया है वहाँ भट्टनायक ने रसध्वनि ही माना है ।

भट्टनायक रसध्वनि नामक भेद को न केवल स्वीकार करते हैं अपितु उसे काव्य की आत्मा मानते हैं । प्रश्न उठता है कि ध्वनिवादी तो रसतत्व का बोध व्यञ्जना वृत्ति से मानता है, उस वृत्ति के अभाव में भट्टनायक रस-आस्वादन की व्याख्या कैसे करते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि भट्टनायक ने रसास्वादन के लिये दो अतिरिक्त वृत्तियों की कल्पना की । भट्टनायक व्यञ्जना व्यापार का विरोध करके भावकत्व और भोजकत्व नामक दो नवीन व्यापार स्वीकार करते हैं तभी तो आचार्य रुय्यक ने इन्हें व्यापार प्राधान्यवादी कहा है ।[3] भट्टनायक का यह आशय है कि वेद आदि अपौरुषेय ग्रन्थों में राजाज्ञा के समान शब्द की ही प्रधानता है । इतिहासादि में मित्र वचन के समान अर्थ की ही प्रधानता है । किन्तु काव्य में शब्द और अर्थ दोनो

1– ध्व. पृ. 60

2– सर्वत्र तर्हि ध्वनिव्यवहारः स्यात् । – ध्व. पृ. 149

3–भट्टनायकेन तु व्यङ्ग्यव्यापारस्य प्रौढोक्त्याभ्युपगतस्य काव्यांशत्वं ब्रुवता न्यग्भावितशब्दार्थस्वरूपस्य व्यापारस्यैव प्राधान्यमुक्तम् ।

गौण होते हैं । काव्य में शब्दों के द्वारा अभिहित अर्थ जब भावकत्व व्यापार से साधारणीकृत होकर उपस्थित होते हैं तब भोजकत्व व्यापार के द्वारा रसिकों के आस्वादन का विषय बनते हैं । इस प्रकार भावकत्व और भोजकत्व व्यापार से ही काव्य का वेद-शास्त्रों से वैलक्षण्य है जिसका सहृदय ही आस्वादन कर पाते हैं अन्य वैयाकरण तथा शुष्क तर्क से कठोर बुद्धि वाले तार्किक एंव मीमांसक काव्य का अंशमात्र भी आस्वादन नहीं कर पाते ।[1]

इसीलिये तो भट्टनायक ने कहा है -

"शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः
अर्थतत्वेन तु युक्तं वदन्त्याख्यानमेतयोः
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत् ।।[2]

अर्थात् न्यग्भावित शब्दार्थस्वरूपवाले भावकत्व और भोजकत्व नामक दो व्यापारों की महिमा से ही काव्य बुद्धि होती है ।

यह भावकत्व व्यापार हृदय की सरस चित्तवृत्ति से एकीभूत होता हुआ विभाव, अनुभाव आदिकों का साधारणीकरण करता है । भावकत्व व्यापार से ही राम , सीता आदि के भाव राम सीता रूप विशेषांश को त्याग कर साधारण रूप से उपस्थित होते हैं । साधारणीकृत विभावानुभावों से उद्दीप्त रति निर्विशेष और अलोकिक भोग का विषय बनती है । साधारणीकरण होने से "न मेरे हैं, न दूसरे के हैं" इस प्रकार के भाव समाप्त हो जाते हैं । इस प्रकार न पूज्य बुद्धि रह जाती है न स्वगत रति रह जाती है । जिस प्रकार श्रव्य काव्य में गुण, अलंकारों की उचित संघटना एंव दोष-परित्याग से रत्यादि भावों का साधारणीकरण होता है उसी प्रकार दृश्य-काव्य में चार प्रकार के अभिनय

1- काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगयाक् ।

— ध्व. पृ. 60

2- ध्व. पृ.89

के प्रभाव से तथा अनेक प्रकार के नृत्य, गीत एवं वेषभूषा से साधारणीकरण होता है ।[1] तत्पश्चात् साधारणीकृत होने पर भोजकत्व व्यापार के द्वारा सहृदयों के द्वारा उस रति का भोग किया जाता है । भोग का अर्थ है ब्रह्मानन्द के समान आनन्द में विश्रान्ति । अर्थात् जब रजोगुण द्रुत अवस्था में, तमोगुण विस्तार अवस्था में एवं सत्वगुण विकास अवस्था में हो तभी भोग किया जाता है । इस प्रकार भट्टनायक के अनुसार ब्रह्मानन्दसहोदर काव्यानन्द का भोग करने के लिये इस तृतीय व्यापार की भी अत्यधिक उपयोगिता है ।

इस प्रकार अभिधा व्यापार के द्वारा वाच्यार्थ का ज्ञान, भावकत्व व्यापार के द्वारा विभावादिकों का साधारणीकरण एवं भोजकत्व व्यापार के द्वारा रस-भोग होता है । इन व्यापारों के द्वारा सहृदय-हृदय में विद्यमान स्थायी भाव हृदय की सरस चित्त वृत्ति से एकीभूत होता हुआ रसत्व को प्राप्त होता है, ऐसा भट्टनायक का मत है ।

अखण्डवाक्य स्फोटवादी वैयाकरण तथा अखण्डार्थवादी वेदान्ती और व्यञ्जना

अखण्डार्थवादी वेदान्ती अखण्डवाक्य से अखण्ड अर्थ की प्रतीति मानते हैं । वाक्य अखण्ड है इसलिये उसमें पद-पदार्थ का विभाग नहीं होता । वेदान्तियों के अनुसार संसार मिथ्या है । ब्रह्म ही सत्य है । "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" । ब्रह्म चूंकि निर्गुण है अतएव उसमें धर्मधर्मिभाव नहीं है और संसार मिथ्या है अतएव उसमें भी धर्मधर्मिभाव की कल्पना नहीं की जा सकती । "सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" एवं "तत्त्वमसि" आदि महावाक्य अखण्ड ब्रह्म का ही बोध कराते हैं । इसी कारण जब

1- शब्दात्मनः काव्यस्य त्रयो व्यापाराः । अभिधा भावकत्वं भोजकत्वं चेति । तत्राभिधा निरन्तरसान्तरार्थनिष्ठत्वेन द्विधा । भावकत्वं साधारणीकरणं । तेन हि विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते । साधारणीकरणञ्चैतदेव यत् सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थितिः स्थाय्यनुभावादीनाञ्च सम्बन्धिविशेष्यनवच्छिन्नत्वेन । एवं काव्ये नाट्ये च द्वितीय व्यापारेण साधारणीकृतैर्विभावादिभिस्तृतीयव्यापार साहित्येन तथाकृत एव स्थायी भुज्यते ।

— काव्यप्रदीपः — पृ. 66

पद–पदार्थ की कल्पना ही नहीं है तो उनके मत में व्यञ्जना व्यापार अनावश्यक सिद्ध होगा । चूंकि अखण्ड वाक्य के अर्थ–बोध में बुद्धि क्रिया–कारकादि भाव को नहीं ग्रहण करती है अपितु अखण्ड वाक्यार्थ का ग्रहण करती है। अतएव वाक्य ही वाचक है और वाक्यार्थ वाच्य है तथा व्यङ्ग्यार्थ का वाक्य की शक्ति से बोध सम्भव है ।[1]

इसी प्रकार स्फोटवादी वैयाकरण भी अखण्डवाक्यार्थ–बोध की प्रक्रिया को स्वीकार करते हैं वे पद–पदार्थ प्रतीति को असत्य मानते हैं। उनके अनुसार जिस प्रकार "ब्राह्मण–कम्बल" पद से "ब्राह्मण का कम्बल" इस अर्थमात्र की प्रतीति होती है न कि ब्राह्मण रूप अर्थ की पृथक् प्रतीति हो और कम्बल की पृथक् । उसी प्रकार "देवदत्तो गच्छति" इस वाक्य में देवदत्त के गमन व्यापार का अखण्ड रूप से बोध हो रहा है । देवदत्त आदि खण्डभूत पदार्थ निरर्थक हैं ।[2] इसके विपरीत ध्वनिवादी आचार्य पद, प्रकृति, प्रत्यय आदि की भी व्यञ्जकता स्वीकार करते हैं ।

किन्तु भर्तृहरि ने –

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च ।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ।।[3]

प्रस्तुत श्लोक में पद, वाक्य और वर्णों की अखण्ड सत्ता मानी गई है उसमें अवयवों की पृथक् कोई सत्ता नहीं होती है । इस प्रकार वैयाकरण प्रकृति, प्रत्यय की व्यञ्जकता का सर्वथा विरोध करते हैं और पद–पदार्थ की कल्पना से रहित अखण्ड वाक्यार्थ बोध स्वीकार करते हैं तथा व्यञ्जना वृत्ति का उनके दर्शन में कहीं अवकाश ही नहीं है ।

1– अखण्डबुद्धिर्निर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः वाक्यमेव च वाचकम् ।
– का. प्र. पं. उ. पृ. 264

2– ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्बले देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युः निरर्थकाः ।
– वा. प.

3– वाक्यपदीय – 1/73–74.

आचार्य धनञ्जय और व्यञ्जना

दशरूपककार धनञ्जय एवं धनिक [आलोककार] वस्तुतः रसवादी आचार्य हैं, किन्तु व्यञ्जना-विरोधी हैं । आचार्य धनञ्जय ने स्थायी भाव और विभावादि को क्रमशः वाक्यार्थ और पदार्थ स्थानीय मानकर[1] व्यञ्जना का विरोध किया है । धनञ्जय के अनुसार रति आदि स्थायी भाव काव्य के वाक्यार्थ होते हैं और काव्य में उसका व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव सम्बन्ध नहीं है अर्थात् न तो रत्यादि व्यङ्ग्य हैं और न ही काव्य व्यञ्जक । जिस प्रकार कारकों से युक्त क्रिया वाक्यार्थ होती है, उसी प्रकार विभावादिकों से युक्त रत्यादि स्थायी भाव वाक्यार्थ होता है । वाक्य में क्रिया कभी तो वाच्य होती है जैसे गाम् अभ्याज जैसे प्रयोगों में और कभी प्रकरण आदि द्वारा बुद्धिस्थ [गम्य] जैसे- द्वारं द्वारं जैसे प्रयोगों में [विधेहि क्रिया बुद्धिस्थ है] । इसी प्रकार रत्यादि स्थायी भाव कभी तो वाच्य होते हैं जैसे "प्रीत्यै नवोढा प्रिया" जहां रति भाव अपने वाचक "प्रीत्यै" पद के प्रयोग के कारण वाच्य हो गया है तथा कभी यह स्थायी विभावादिरूप प्रकरण द्वारा बुद्धिस्थ [गम्य] रहता है और सामाजिक द्वारा अनुभूत किया जाता है। इस द्वितीय स्थिति में रस विशेष से सम्बद्ध विभावादिकों की योजना की जाती है, और उन विभावादिकों के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से सम्बद्ध स्थायी का बोध सामाजिक को हो जाता है । इन दोनों ही स्थितियों में रत्यादि भाव भावक [सामाजिक] के हृदय में स्फुरित होते हुये तत् तत् शब्दों द्वारा प्रकट किये गये अपने विभावादिकों के द्वारा संस्कार परम्परा से पुष्ट किये जाते हुये वाक्यार्थ बनते हैं ।[2]

1- वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया ।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्तः स्थायिभावस्तथेतरैः ।।

— दशरूपक च.प्र. कारिका 37

2- वाक्यं सर्वं कार्यपरम् --- काव्यशब्दानाम् चान्वयव्यतिरेकाभ्यां निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रवृत्तिविषययोः प्रयोजनान्तरानुपलब्धेः स्वानन्दोद्भूतिरेवकार्यत्वेनावधार्यते । ---- अतो वाक्यस्याभिधानशक्तिस्ते न तेन रसेनाकृष्यमाणा तत्तत्स्वार्थापेक्षिता वान्तरविभावादिप्रतिपादनद्वारा स्वपर्यवसायितामानीयते । तत्र विभावादयः पदार्थस्थानीयास्तत्संसृष्टो रत्यादिर्वाक्यार्थः ।

दशरूपक पृ. 334-335

आचार्य धनिक विभाव आदि से स्थायी भाव की प्रतीति वाक्यार्थबोध की भांति ही तात्पर्यलभ्य मानते हैं, अतः उनके अनुसार रस-बोध के लिये व्यञ्जना वृत्ति की कल्पना व्यर्थ है । आचार्य धनिक प्रत्येक वाक्य कार्यपरक मानते हैं, जैसा कि वैयाकरण, भाट्ट मीमांसकों तथा प्राभाकरमतानुयायी मीमांसकों को अभीष्ट है। कार्य का अर्थ है भाव , भावना , अपूर्व । आचार्य धनिक भाट्ट मीमांसकों के अनुसार कार्य का अर्थ प्रयोजन (भावना) ही मानते हैं । काव्य में जो रसादि हैं उनका कार्य अथवा प्रयोजन आनन्द की अनुभूति कराना है। काव्य में जो तात्पर्य शक्ति है वह भिन्न-भिन्न रस के प्रतिपादन में विश्रान्त हुआ करती है । इस प्रकार विभावादि पदार्थ स्थानीय हैं एंव उससे संसृष्ट रत्यादि भाव वाक्यार्थ हैं ।

ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन ने भी तात्पर्य को माना है । लोचनकार तो उसे अन्वयमात्र की साधिका मानते हैं ।[1] अर्थशक्त्युद्भवध्वनि के प्रसङ्.ग में "तात्पर्येण" पद का अर्थ "ध्वननव्यापारेण" किया गया है ।[2] ध्वन्यालोक में एक स्थल पर "तात्पर्य" पद का प्रयोग कवि के अभिप्राय-विशेष के लिये भी किया गया है। "यत्त्वभिप्रायविशेषरूपं व्यङ्.ग्यं शब्दार्थाभ्यां प्रकाश्यते तद्भवति विवक्षितं तात्पर्येण प्रकाश्यमानम्" । किन्तु धनिक ध्वनिवादी के इस सीमित अर्थ का विरोध करते हुये तात्पर्य शक्ति को यावत्कार्यपर्यवसायी बताते हैं । आचार्य धनिक स्पष्ट शब्दों में व्यञ्जना का विरोध करते हुये (अपने ग्रन्थ काव्य-निर्णय में जो कि अब अप्राप्य है) कहते हैं कि व्यङ्.ग्यार्थ तात्पर्यार्थ से भिन्न नहीं है अतएव न कोई व्यञ्जना वृत्ति है न ही ध्वनि है । जब वाक्यार्थ का बोध अभिधादि शक्तियों से ही हो जाता है तो व्यञ्जना वृत्ति की कल्पना केवल व्यर्थ का प्रयास ही है ।[3]

1- ततो विशेषरूपे वाक्यार्थे तात्पर्यशक्तिः परस्परान्विते ।

- ध्व. लो. पृ. 54

2- अर्थशक्त्युद्भवस्त्वन्यो यत्रार्थः स प्रकाशते ।

यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यद् व्यनक्त्युक्तिं बिना स्वतः ।।

स्वस्तात्पर्येणेत्यभिधाव्यापारनिराकरणपरमिदं पदं ध्वनन व्यापारमाह न तु तात्पर्यशक्तिम् । सा हि वाच्यार्थ प्रतीतावेवोपक्षीणेत्युक्तं प्राक् ।

- ध्व. द्वि.उ.पृ. 267

3- ईदृशि - - - - - - - - - काव्यनिर्णये -

तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जनीयस्य न ध्वनिः । - दशरूपक च. प्र.

ध्वनिवादी यह कह सकते हैं कि जो अर्थ श्रुत पदों से प्राप्त होता है वह तो तात्पर्य-विषय बन सकता है किन्तु अन्योक्ति आदि के स्थलों में जहां वक्ता का तात्पर्य अश्रुत अर्थ में हुआ करता है वहां अश्रुत अर्थ तात्पर्या वृत्ति का विषय कैसे बन सकता है ? अतः अश्रुत अर्थ को व्यड्.ग्य तथा उसकी साधिका वृत्ति व्यञ्जना को स्वीकार करना ही पड़ेगा । उदाहरणार्थ "विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुड्.क्थाः" इस वाक्य में विषं भक्षय का निषेधपरक अर्थ अश्रूयमाण है अतः तात्पर्य न होकर व्यड्.ग्यार्थ होगा । "इसके घर भोजन करना विष खाने से भी बुरा है" उस व्यड्.ग्यार्थ की प्रधानता होने पर ध्वनि है। इस प्रकार ध्वनि और तात्पर्यार्थ का स्पष्ट भेद भी है अतएव ध्वनि का तात्पर्य में अन्तर्भाव नहीं हो सकता।[1] जहां पर वाक्य स्वार्थ में विश्रान्त न होकर आगे किसी अन्य अर्थ का बोध कराता है वहां तात्पर्यार्थ है तथा जहां वाक्य स्वार्थ में विश्रान्त होकर भी अन्य अर्थ का बोध कराता है वहीं व्यड्.ग्यार्थ है ।

इन समस्त युक्तियों का बलपूर्वक खण्डन करते हुये धनिक उत्तर देते हैं कि विवक्षित अर्थ का सम्यक् बोध कराकर ही तात्पर्या शक्ति विश्रान्त होती है । इसलिये वाक्य के द्वारा जो भी प्रतिपाद्य है वह एक मात्र तात्पर्यार्थ है।[2] तात्पर्या वृत्ति तो यावत्कार्यपर्यवसायिनी है और वक्ता के अभिप्राय-विशेष की प्रतीति हो जाने पर ही विश्रान्त होती है । भ्रम धार्मिक इत्यादि में जो ध्वनिवादी आचार्य यह कहते हैं कि श्रोता की

1- किमुक्तं स्यादश्रुतार्थतात्पर्येऽन्योक्तिरूपिणि
विषं भक्षय पूर्वो यश्चैवं परसुतादिषु
प्रसज्यते प्रधानत्वाद् ध्वनित्वं केन वार्यते
ध्वनिश्चेत्स्वार्थविश्रान्तं वाक्यमर्थान्तराश्रयम्
तत्परत्वं त्वविश्रान्तौ । — दशरूपक च. प्र.

2- तन्न विश्रान्त्यसम्भवात्
एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किं कृतम्
यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम्
भ्रम धार्मिक विश्रब्धमिति भ्रमिकृतास्पदम्
निर्व्यावृत्ति कथं वाक्यं निषेधमुपसर्पति
प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तिरपेक्षापूरणाद्यदि
वक्तुर्विवक्षिताप्राप्तेरविश्रान्तिर्न वा कथम्
पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षापरतन्त्रता

आकांक्षा विधिपरक अर्थ में समाप्त हो जाती है और निषेधरूप द्वितीय अर्थ व्यङ्ग्य है तो यह भी अनुचित है क्योंकि वक्ता की विवक्षा तो निषेधरूप अर्थ में ही है । वक्ता यहां एक पुंश्चली है और उसका विवक्षित अर्थ है "धार्मिक । तुम यहां कभी न आना" इसलिये यह निषेध अर्थ तात्पर्यार्थ ही हुआ । यदि ध्वनिवादी यह कहें कि श्रोता की अपेक्षा ॥आकाङ्क्षा॥ की पूर्ति हो गई अतएव प्रतिपाद्य ॥वाक्यार्थ॥ की विश्रान्ति हो गई तो वे कहते हैं कि वक्ता के विवक्षितार्थ की प्राप्ति जब तक न हो जाये, तब तक वाक्य की अविश्रान्ति क्यों नहीं मान लेते क्योंकि पुरुष के वाक्य विवक्षापरतन्त्र होते हैं । इसलिये काव्य में भी काव्य का तात्पर्य वही है जो वक्ता का तात्पर्य है ।

इस प्रकार तात्पर्यवादी मीमांसक आचार्य धनञ्जय तथा धनिक ने व्यङ्ग्यार्थ को तात्पर्यार्थ मानने का प्रयास किया है ।

आचार्य महिमभट्ट और व्यञ्जना

ध्वनि सिद्धान्त को विध्वंस करने में प्रवृत्त व्यञ्जना विरोधियों में महिमभट्ट का स्थान अग्रगण्य है । उनका अनुमितिवाद अत्यधिक प्रचण्ड है । यद्यपि आचार्य महिमा प्रचण्ड ध्वनिविरोधी हैं किन्तु आनन्दवर्धन द्वारा मान्य कुछ तथ्य उन्हें भी स्वीकार्य हैं - यथा रस की काव्यात्मता,[1] त्रिविध प्रतीयमानार्थ[2] वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य का वैचित्र्य [3] । तथापि व्यञ्जना नाम की नवीन शब्द-वृत्ति के सर्वथा विरुद्ध हैं ।

ध्वनि प्रस्थान के अन्तर्गत व्यञ्जना वृत्ति वह आधार शिला है जिस पर ध्वनि-प्रासाद प्रतिष्ठित है । अतएव ध्वनि के उच्छेद के लिये

1- काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः ।

- हि. व्य. वि. पृ. 105

2- अर्थोऽपि द्विविधो वाच्योऽनुमेयश्च स च त्रिविधः वस्तुमात्रम-लङ्कारसादयश्चेति ।

- हि. व्य. वि. पृ. 39

3- वाच्यो हि अर्थो न तथा स्वदते यथा स एव प्रतीयमानः ।

- हि. व्य. वि. पृ. 74

आवश्यक था कि आधार शिला का उच्छेद किया जाये । इसी दृष्टि से महिमभट्ट ने स्थल-स्थल पर व्यञ्जना का खण्डन किया है[1] । आनन्दवर्धन ने सहृदयश्लाघ्य अर्थ के दो भेद प्रतिपादित किये थे - (1) वाच्य, (2) प्रतीयमान । प्रतीयमान के उन्होंने पुनः तीन भेद प्रतिपादित किये थे - वस्तु, अलङ्कार तथा रस । महिमभट्ट न केवल प्रतीयमान को स्वीकार करते हैं अपितु इसके तीनों भेद भी उन्हें स्वीकार्य हैं, जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है । किन्तु ध्वनिकार उस प्रतीयमान को व्यङ्ग्य और शब्द तथा अर्थ दोनों को उसका व्यञ्जक मानते हैं और महिमा उस प्रतीयमान को गम्य अथवा अनुमेय एवं केवल अर्थ को गमक मानते हैं । आचार्य महिमा अभिधा को ही शब्द का एकमात्र व्यापार स्वीकार करते हैं । [2] अभिधा वाच्यार्थ मात्र देकर विरत हो जाती है । अतएव अर्थान्तर की प्रतीति कराने में वह समर्थ नहीं है अतएव प्रकरणादि की सहायता से वाच्य से ही अर्थान्तर की प्रतीति सम्भव है ।[3]

आचार्य अभिनवगुप्त ने व्यङ्ग्यार्थ बोध की प्रक्रिया को बड़े ही स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है । जैसे गङ्गायां घोषः में सर्वप्रथम मुख्या अर्थात् अभिधा शक्ति का प्रवेश हुआ जिसने गङ्गा शब्द का जल-प्रवाह रूप अर्थ दिया और पुनः वह विरत हो गई क्योंकि शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः के आधार पर शब्द, बुद्धि, कर्म के एक बार विरत हो जाने पर पुनरुत्थान नहीं होता । तत्पश्चात् तात्पर्या वृत्ति प्रकट हुई

1- अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यापि ध्वनेः प्रकाशयितुम् ।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ।।
- हि. व्य. वि. 1/1

2- शब्दस्यैकाभिधा शक्तिरर्थस्यैकैव लिङ्गता ।
न व्यञ्जकत्वमनयोः समस्तीत्युपपादितम् ।।
- हि. व्य. वि. 1/27

3- (क) उक्तं वृथैव शब्दस्योपादानं लक्षणे ध्वनेः ।
न हि तच्छक्तिमूलेष्टा काचिदर्थान्तरे गतिः ।।
- हि. व्य. वि. 1/28

(ख) न चास्य स्वार्थाभिधानमात्रपर्यवसितसामर्थ्यस्य व्यापारान्तरमुपपद्यते येनायमर्थान्तरमवगमयेत् -------- अर्थस्य तदुपपत्तिसमर्थनात् ।
- हि. व्य. वि. पृ. 26

जिसने पदार्थों के अन्वय का बोध करा दिया और विरत हो गई । गड्.गायाम् घोषः में गड्.गा का जल -प्रवाह अर्थ अभिधा ने दिया है। जल-प्रवाह घोष का आधार नही बन सकता है अतएव लक्षणा ने गड्.गा पद से प्रवाह के साथ सामीप्य सम्बन्ध से तटरूप लक्ष्यार्थ का बोध कराया। लक्ष्यार्थ की प्रतीति हो जाने पर भी शैत्य-पावनत्व रूप जो प्रयोजन है उसकी प्रतीति किस व्यापार से मानी जाये ? जबकि सारे व्यापार अपने-अपने कार्य समाप्त कर चुके हैं, किसी का पुनरुत्थान नहीं हो सकता है । अतएव ध्वनिकार ने एक नवीन व्यापार की खोज की और उस (ध्वनन व्यापार) के द्वारा ही प्रयोजन-प्रतीति सम्भाव्य हुई ।[1]

इस प्रकार समयापेक्ष होकर वाच्य का बोध कराने वाली शक्ति अभिधा है । वाक्यार्थ बोध की अनुपपत्ति की सहायता से अर्थ बोध कराने वाली शक्ति तात्पर्य शक्ति है । मुख्यार्थबाधादि सहकारियों की अपेक्षा से अर्थावबोध कराने वाली शक्ति लक्षणा है । इन तीनों ही शक्तियों से उत्पन्न अर्थावगमनरूप मूल से उत्पन्न तथा अभिधेयादि अर्थों के प्रतिभास से संस्कृत बोद्धा की प्रतिभा के साहाय्य से अर्थद्योतन कराने वाली शक्ति ध्वनन व्यापार है। [2] ध्वनिवादियों की इस नवीन वृत्ति की कल्पना महिमभट्ट के गले के नीचे नहीं उतरती। उनका कहना है कि

1- यत्त्विदं घोषस्यातिपवित्रत्वशीततलत्वसेव्यत्वादिकं प्रयोजनमशब्दान्तरवाच्यं प्रमाणान्तराप्रतिपन्नम् , बटोर्वा पराक्रमातिशयशालित्वं, तत्र शब्दस्य न तावन्न व्यापारः ------- व्यापारश्च नाभिधात्मा समयाभावात् । न तात्पर्यात्मा, तस्मादन्वयप्रतीतावेव परिक्षयात्। न लक्षणात्मा, उक्तादेव हेतोः स्खलद्गतित्वाभावात्। तत्रापि हि स्खलद्गतित्वे पुनर्मुख्यार्थबाधा निमित्तं प्रयोजनमिति अनवस्था स्यात् । --------- तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यञ्जनप्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः ।

- ध्व. लो. पृ. 58 - 60

2- तेन समयापेक्षा वाच्यावगमनशक्तिरभिधाशक्तिः।तदन्यथानुपपत्तिसहायार्थावबोधनशक्तिस्तात्पर्यशक्तिः । मुख्यार्थ बाधादिसहकार्यपेक्षार्थप्रतिभासनशक्तिर्लक्षणाशक्तिः तच्छक्तित्रयोपजनितार्थावगममूलजाततत्प्रतिभासपवित्रितप्रतिपत्तृप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वननव्यापारः ।

- ध्व. लो. पृ. 60-61

शब्द की केवल एक शक्ति अभिधा है तथा अर्थ में लिङ्‌गता है, व्यञ्जकता नहीं ।[1] उनके अनुसार शब्द और अर्थ में व्यञ्जकत्व होता ही नहीं अतएव ध्वनिकार ने व्यर्थ में ध्वनिकारिका में "यत्रार्थः शब्दो वा" पद प्रयुक्त किये हैं । महिमा की दृष्टि में अर्थान्तर का प्रत्यायक जो अभिधाव्यतिरिक्त व्यापार है वह अर्थ का ही व्यापार है और यह अर्थ उस अर्थान्तर का लिङ्‌ग है, व्यञ्जक नहीं ।[2] अतएव शब्द को अनेक व्यापारों का आश्रय मानकर व्यञ्जना वृत्ति को भी जो शब्दाश्रित माना है वह वस्तुतः अर्थ का ही व्यापार है ।[3] इस सन्दर्भ में महिमा अपना तर्क देते हैं कि शब्द अनेक शक्तियों का आश्रय नही सिद्ध होता । उनके अनुसार जिन शक्तियों का आश्रय एक होता है वे परस्पर निरपेक्षरूप से एक ही समय में अपना कार्य करती हैं । जैसे - अग्नि की दाहकत्व, पाचकत्व, प्रकाशकत्व आदि शक्तियां हैं । ये परस्पर निरपेक्ष होकर अग्निरूप आश्रय में रहती हैं । इनमें यह नहीं होता कि एक शक्ति यथा दाहकत्व अपना कार्य कर ले तब पाचकत्व शक्ति प्रवृत्त हो अथवा जब

1- (क) अत्रोच्यतेऽभिधासंज्ञः शब्दस्यार्थप्रकाशने ।
व्यापार एक एवेष्टो यस्त्वन्योऽर्थस्य सोऽखिलः ।।
- हि. व्य. वि. 1/71

(ख) शब्दस्यैकाभिधा शक्तिरर्थस्यैकैव लिङ्‌गता ।
न व्यञ्जकत्वमनयोः समस्तीत्युपपादितम् ।।
- हि. व्य. वि. 1/27

2- वाच्यादर्थान्तरं भिन्नं यदि तल्लिङ्‌गमस्य सः ।
तन्नान्तरीयकतया निबन्धो ह्यस्य लक्षणम् ।।
- हि. व्य. वि. 1/72

3- यत् पुनरस्यानेकशक्तिसमाश्रयत्वाद् व्यापारान्तरपरिकल्पनं तदर्थस्यैवोपपद्यते न शब्दस्य , तस्यानेकशक्तिसमाश्रयत्वासिद्धेः ।
- हि. व्य. वि. पृ. 87

पाचकत्व अपना कार्य समाप्त कर ले तब प्रकाशकत्व प्रवृत्त हो । वे सब एक साथ कार्य में प्रवृत्त होती हैं, किन्तु शब्दाश्रित शक्तियों में तो अपने-अपने क्रमानुसार सबका प्रवेश है जैसे- प्रथम स्थान अभिधा का है तो अभिधा का ही प्रवेश होगा, लक्षणा का नहीं हो सकता । अतएव इन शक्तियों का आश्रय भिन्न-भिन्न होना चाहिये, एक शब्दमात्र इनका आश्रय नहीं बन सकता ।[1] इस प्रकार अभिधा शक्ति का आश्रय शब्द हुआ और अन्य शक्तियों का आश्रय अर्थ हुआ और उस अर्थ के व्यापार का अनुमान में अन्तर्भाव हो जाता है ।[2] उदाहरणार्थ - गौर्वाहीकः में गोरूप अर्थ का वाहीकरूप अर्थान्तर के साथ ऐकात्म्य बाधित है अतएव ऐकात्म्यविधान को बिना स्वीकार किये हुये अन्य किसी भी प्रकार से गो का वाहीक अर्थ अनुपपन्न होने के कारण गो अर्थ वाहीक के साथ आंशिक न कि पूर्ण अभेद का अनुमान कराता है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति कहीं पर किसी भी प्रकार से कुछ भी साधर्म्य देखे बिना अकस्मात् अभेदारोप नहीं करता ।

1- तथा हि एकाश्रयाः शक्तयोऽन्योन्यानपेक्षप्रवृत्तयोऽप्राकृतपौर्वापर्यनियमा युगपदेव स्वकार्यकारिण्यो दृष्टाः यथा दाहकत्वप्रकाशकत्वाद् योऽग्नेः । न च शब्दाश्रयाऽशक्तस्तथा दृश्यन्ते, अभ्युपगम्यन्ते वा, नियोगतोऽभि-धाशक्तिपूर्वकत्वेनेतरशक्तिप्रवृत्तिदर्शनात् । तस्माद् भिन्नाश्रया एव ता न शब्दैकसमाश्रया इत्यवसेयम् ।

- हि. व्य. वि. पृ. 87

2- यश्चासावाश्रयो भिन्नः सोऽर्थ एवेति तद्व्यापारस्यानुमानान्तर्भावोऽभ्युपगन्तव्य एव ।

- हि. व्य. वि. पृ. 87

वक्ता की इस प्रवृत्ति का ज्ञान जिस बोद्धा को है वह तो तत्वारोप का निमित्त सादृश्यमात्र को मानता है, तत्व को नहीं। क्योंकि तत्व तो वाच्यरूप से प्रारम्भ में ही भासित होता है, वह चरमप्रतीति का विषय नहीं बन सकता। क्योंकि तब तक उसका बाध हो जाताहै। कथन की इस प्रकारकी प्रवृत्ति का हेतु साधर्म्यमात्र का प्रतिपादन है और उसका प्रयोजन है वाहीकादि में गोगत जाड्यादि धर्मों का लाघवात् प्रतिपादन ।[1]

इस प्रकार वाहीकादि में जो गवादिसाधर्म्य का ज्ञान होता है वह गोत्वाशेष के अन्वयानुपपत्ति के कारण अवधारित होता है । अर्थात् बोद्धा यह सोचता है कि वाहीक गोगतजाड्यादि धर्मों वाला है । अन्यथा वाहीक पर गोत्व का आरोप अनुपपन्न है । अतः अर्थापत्तिरूप होने के कारण यह अनुमान का विषय हुआ, शब्द व्यापार का नहीं ।[2]

इसी प्रकार "कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति विसिनीपत्रशयनम्" में भी वदति का प्रकाशनरूप अर्थ अनुमानगम्य है । अविनाभावसम्बन्ध के निश्चय द्वारा एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का ज्ञान अनुमान का लक्षण बताया गया है जो कि प्रकृत प्रसङ्ग में भी घटित होता है यथा यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः । इसमें अन्वय व्यतिरेक द्वारा अविनाभाव रूप

1- तथाहि। गौर्वाहीक इत्यादौ तावद्गवादयोऽर्था बाधितवाहीकाद्यर्थान्तरैकात्म्यास्ताद्रूप्यविधानान्यथानुपपत्त्या केनचिदंशेन तत्र तत्त्वमनुमापयन्ति न सर्वात्मना। न ह्यनुन्मत्तः कश्चित् क्वचित् कथञ्चित् साधर्म्यमनुत्पश्यन्नेवाकस्मात् तत्वमारोपयतीति परिशीलितवक्तृस्वरूपः प्रतिपत्ता तत्वारोपनिमित्तं सादृश्यमात्रमेव प्रतिपत्तुमर्हति न तत्वम् । तद्धि वाच्यतयोपक्रम एव भासते, न प्रतीतिपर्यवसानास्पदं भवितुमर्हति, तस्य बाधोपपत्तेः । तस्य चैवंविधस्योपक्रमस्य निमित्तं साधर्म्यमात्रप्रतिपादनम् । प्रयोजनञ्च लाघवेन वाहीकादौ गवादिगतजाड्यादिधर्मप्रतिपादनं ।

– हि. व्य. वि. पृ. 87–88

2- तस्माद्योऽयं । वाहीकादौ गवादिसाधर्म्याविगमः स तत्वारोपान्यथानुपपत्तिपरिकल्पितोऽनुमानस्यैव विषयः। न शब्दव्यापारस्येति स्थितम् ।

गोत्वारोपेण वाहीके तत्साम्यमनुमीयते ।
को ह्येतस्मिन्नतत्तुल्ये तत्वं व्यपदिशेद् बुद्धः ।।

– हि. व्य. वि. पृ. 88–89

व्याप्ति है ।[1] उसी प्रकार प्रस्तुत उदाहरण में वदति से प्रकाशन रूप अर्थान्तर की प्रतीति होती है। यहाँ वाच्य और अर्थान्तर के मध्य कार्यकारणभावकृत अविनाभावसम्बन्ध है, क्योंकि प्रकाशन " वदन " के कार्यरूप से प्रसिद्ध है। प्रकाशन को वदति क्रिया का वाच्य तो नहीं कह सकते इसलिये कि प्रकाशन अर्थ में वदति क्रिया का संकेत नहीं है और प्रकाशन वदन से अभिन्न है नहीं । ऐसा भी नहीं कह सकते कि वदति क्रिया केवल स्वार्थ का ही प्रतिपादन कर रही है अर्थान्तर का नहीं क्योंकि उसके स्वार्थ का उत्तर क्षण में बाध हो रहा है । अब यदि यह कहा जाये कि लक्षणया वदति क्रिया पद का वदन क्रिया के सदृश प्रकाशन नामक तदितर क्रिया में तात्पर्य है, क्योंकि ऐसा न मानने पर अन्य किसी भी प्रकार से उसका ‡वदति का‡ उपादान उपपन्न नहीं होता तो अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति के द्वारा "वदन" से प्रतीयमान "प्रकाशन" अनुमेय ही कहा जाना चाहिये । क्योंकि अर्थापत्ति का अनुमान में ही अन्तर्भाव स्वीकार किया गया है ।[2]

आचार्य महिमा ने गङ्गायां घोषः उदाहरण में भी लक्षणा और व्यञ्जना की अपरिहार्यता का खण्डन कर लक्ष्यार्थ तट को अनुमेय सिद्ध किया है। और व्यङ्ग्यार्थभूत शैत्यपावनत्व को इस प्रकार के उक्ति वैचित्र्य के परिग्रह का फल बताया है। महिमा के विचार से व्यक्तिवादियों की यह कल्पना बिल्कुल निराधार है कि तटरूप अर्थ अथवा शैत्यपावनत्वरूप अर्थ की प्रतीति गंगा शब्द से होती है। इसलिये कि गंगा शब्द की सामर्थ्य तो प्रवाह रूप स्वार्थ के प्रत्यायन में ही पर्यवसित हो जाती है । इसलिये गंगा शब्द तो तटरूप अर्थान्तर की वार्ता भी जानने में समर्थ नहीं फिर वह तटरूप

1- एवं "कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति विसिनीपत्रशयनम्" इत्यादाववगन्तव्यम् । अविनाभावावसायपूर्विका ह्यन्यतोऽन्यस्य प्रतीतिरनुमानमित्यनुमानलक्षणमुक्तं तच्चात्रोपलभ्यत एव ।

— हि० व्य० वि० पृ० 88

2- तथा हि वदतीत्यादौ वदनादेरर्थान्तरस्य प्रकाशादेः प्रतीतिः । तयोश्चाविनाभावः कार्यकरणभावकृतः प्रकाशनस्य वदनकार्यत्वप्रसिद्धेः न च वदतेः प्रकाशो वाच्य इति शक्यं वक्तुं तस्य तत्रासमितत्वात् प्रकाशस्य चातत्वात् । न चायं स्वार्थमेव प्रतिपादयति तस्य बाधोपपत्तेः । अथोपचारत उपादानान्यथानुपपत्त्या वदनक्रियायाः सदृशे प्रकाशनाख्ये क्रियान्तरे वर्त्ततेऽयं वदतिरित्युच्यते तर्ह्यन्यथानुपपत्त्या वदनादेः प्रकाशादिः प्रतीयमानोऽनुमेय एव भवितुमर्हति अर्थापत्तेरनुमानान्तर्भावाभ्युपगमात् ।

अर्थ का संस्पर्श कैसे कर सकता है इस प्रकार के उक्ति वैचित्र्य को स्वीकार करने का प्रयोजन है – आरोप के विषय तटरूप अर्थ में आरोप्यमाण गङ्गागतपुण्यत्वशीतलत्वादि धर्मों की प्रतीति। यदि व्यक्तिवाद के समर्थक यह कहें कि अर्थान्तर की प्रतीति शाब्दी ही है आर्थी नहीं क्योंकि शब्द में व्यञ्जना नामक एक दूसरी शक्ति रहती है जिससे अभिधा के क्षीण होने पर अर्थान्तर का बोध माना जाता है । तो यह कथन भी उचित नहीं है । शब्द का अभिधा के अतिरिक्त व्यञ्जना नामक व्यापार बनता ही नहीं जिससे अर्थान्तर की प्रतीति शब्द से मानी जाये क्योंकि व्यक्ति युक्तियों से सिद्ध नहीं होती और शब्द और अर्थ का अन्य किसी प्रकार का सम्बन्ध बनता नहीं । और व्यक्ति अथवा सम्बन्धान्तर के अभाव में भी शब्द के अर्थान्तर की प्रतीति मानने पर तो शब्द के साथ अर्थ का नियत सम्बन्ध नहीं रह जायेगा। इसलिये कि किसी विशिष्ट अर्थ को शब्द विशेष से सम्बद्ध करने वाला संकेत के समान कोई नियामक नहीं रह जायेगा । अब यदि यह कहें कि शब्द और अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध है अतः इस प्रकार के नियामक की कोई आवश्यकता नहीं तो यह भी ठीक नहीं इसलिये कि जिस प्रकार गेय रागों का षडजादि स्वरों के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है उसी प्रकार शब्द का रत्यादिक भावों के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है । क्योंकि शब्द का रत्यादि भावों के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है और यदि स्वाभाविक सम्बन्ध स्वीकार करें तब तो व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न सभी को अर्थ की प्रतीति होनी चाहिये जैसा कि होता नहीं ।[1] शब्द और अर्थान्तर के बीच समयकृत सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता।[2] क्योंकि आनन्दवर्धन द्वारा स्वीकृत व्यञ्जकत्व औपाधिक है । अर्थात् उनके मत में भी व्यञ्जना व्यापार अर्थप्रकरणादि उपाधियों से सहकृत होकर ही अर्थान्तर की प्रतीति कराता है। ये उपाधियां अर्थ-प्रकरणादि भेदों से अनन्त एवं अनियत हैं । इसलिये एक ही शब्द के उपाधिभेद से अनेक प्रतीयमानार्थ हो सकते हैं । अतः जिस प्रकार प्रत्येक

1– न ह्यस्य गेयस्येव इत्यादिभिर्भावैः स्वाभाविक एव सम्बन्धः सर्वस्यैव तत्प्रतीतिप्रसङ्गात् ।

– हि॰ व्य॰ वि॰ पृ॰ 97

2– नापि समयकृतः व्यञ्जकत्वस्यौपाधिकत्वाद् । उपाधीनां चार्थ-प्रकरणादिसामग्रीरूपाणां आनन्त्यादनियतत्वाच्च प्रतिपदमिव शब्दानुशासनस्य समयस्य कर्तुमशक्यत्वात् ।

– हि॰ व्य॰ वि॰ पृ॰ 97

तो प्रदीपादि है। शब्दार्थविषयक द्योतकत्व तो औपचारिक है।1 अतः जिस किसी अर्थ की प्रतीति जिस शब्द के प्रयोग के अन्वय और व्यतिरेक का अनुसरण करे उन दोनों के बीच वाच्यवाचक भाव ही स्वीकार करना चाहिये, व्यङ्‌ग्यव्यञ्जक भाव नहीं। इसी प्रकार पचति आदि के प्रयोग में प्रकर्षादि अर्थों की प्रतीति प्रादि के भावाभाव का अनुविधान करने वाली है। अतः शब्द तथा प्रकर्षादि अर्थों के बीच वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध हुआ। इस प्रकार "मूलं नास्ति कुतो शाखा" इस न्याय से व्यक्ति (व्यञ्जना) की अनुपपन्नता के कारण शाब्दी व्यञ्जना की कल्पना ही निर्मूल सिद्ध होती है। महिमभट्ट व्यञ्जनाशक्ति को ही निर्मूल सिद्ध करना चाहते हैं, जिससे छिन्नशिरस्क यह ध्वनिसिद्धान्त रक्तबीजासुर के समान पुनः जीवित न हो ऐसा विचार कर "व्यक्ति" को उन्होंने अपने प्रगाढ़ पाण्डित्य और तर्क से ध्वस्त करने का प्रयास किया है। यह तो हुई शब्दाश्रितव्यञ्जना की बात। महिमा ने ध्वनिकार के द्वारा कथित ध्वनिलक्षण में जो व्यङ्‌क्तः पद आया है उसको भी उचित नहीं बताया क्योंकि वे वाच्य और प्रतीयमान के बीच व्यङ्‌ग्यव्यञ्जक भाव नहीं मानते। सत् अथवा असत् प्रकाशित होने वाले पदार्थ का सम्बन्ध स्मरण की अपेक्षा के बिना प्रकाशक के साथ ही प्रकाशित होना अभिव्यक्ति कहलाता है। सद्विषयक अभिव्यक्ति तीन प्रकार की होती है।2

(1) कारण में शक्तिरूप से स्थित होने के कारण तिरोभूत कार्य की इन्द्रियविषयतापत्ति, जैसे क्षीरादि की अवस्था में दध्यादि की अभिव्यक्ति।3

1- सत्यम्। उक्तमुपचारतो न परमार्थत इति तस्य प्रदीपादिनिष्ठस्य वास्तवस्य शब्दार्थविषयत्वस्य प्रतिक्षेपात्।

— हि॰ व्य॰ वि॰ पृ॰ 99

2- नापि वाच्यप्रतीयमानयोर्मुख्यवृत्त्या व्यङ्‌ग्यव्यञ्जकभावः सम्भवति व्यक्तिलक्षणानुपपत्तेः। तथा हि सतोऽसत एवार्थस्य प्रकाशमानस्य सम्बन्धस्मरणानपेक्षिणा प्रकाशकेन सहैव प्रकाशवि[षयतापत्तिरभिव्यक्तिरिति तल्लक्षणमाचक्षते। तत्र सतोऽभिव्यक्तिस्त्रिविधा, तस्य त्रैविध्यात्।

— हि॰ व्य॰ वि॰ पृ॰ 62

3- तत्र कारणात्मनि कार्यस्य शक्त्यात्मनावस्थानात् तिरोभूतस्येन्द्रियगोचरत्वापत्ति[ल]क्षण अविर्भाव एका, यथा क्षीराद्यवस्थायां दध्यादेः।

(2) आविर्भूत पदार्थ का भी जो किसी प्रतिबन्धक के कारण प्रकाशित न हो रहा हो, किसी प्रकाशक द्वारा जो स्वयं अप्रधान हो, अपने साथ-साथ प्रकाशन जैसे प्रदीपादि द्वारा घट की अभिव्यक्ति ।1

(3) पूर्वानुभूत वस्तु के संस्कार का (जो संस्कार अन्तःकरण में विद्यमान है) उससे नियतरूप से सम्बद्ध अर्थान्तर द्वारा अथवा उसके प्रतिपादक द्वारा उद्बोधनमात्र ।2

स्मृति रूप यह तृतीया अभिव्यक्ति भी उद्बोधक के त्रैविध्य से त्रिविध होती है । प्रथम है - व्याप्ति सम्बन्ध से सम्बद्ध हेतु धूमादि से अग्न्यादि की अभिव्यक्ति । द्वितीय है - लिपि प्रतिबिम्ब अनुसरणादि से सदृश वस्त्वन्तर की अभिव्यक्ति तथा तृतीय है - वाचक शब्द द्वारा गो आदि की अभिव्यक्ति । असत् विषयक अभिव्यक्ति केवल एक प्रकार की होती है क्योंकि असत् के भेद-प्रभेद सम्भव नहीं ।

इनमें से वाच्य और प्रतीयमान के बीच प्रथम प्रकार की अभिव्यक्ति स्वीकार करने पर जिस प्रकार दध्यादि पदार्थ का इन्द्रियसाक्षात्कार होता है, उसी प्रकार प्रतीयमानार्थ का भी इन्द्रिय साक्षात्कार होना चाहिये, अतएव यह घटित नहीं होता । दूसरे प्रकार की अभिव्यक्ति मानने पर जिस प्रकार प्रदीपादि के साथ यह घट इस प्रकार का है, ऐसी प्रतीति होती है उसी प्रकार वाक्यार्थ ज्ञान के साथ ही प्रतीयमान की इदन्ता भासित होनी चाहिये अतएव इसकी भी संगति नहीं बैठती । इस प्रकार वाच्य से प्रतीयमान की प्रतीति को न परिणतरूप, न ज्ञप्तिरूप अभिव्यक्ति मान सकते हैं ।

अभिव्यक्ति का तीसरा प्रकार ही वाच्य से प्रतीयमान की प्रतीति में घटित होता है किन्तु वह अनुमिति से भिन्न कुछ नहीं है क्योंकि तृतीय प्रकार की अभिव्यक्ति का जो लक्षण है वह अनुमान में संगत होता है, व्यक्ति में नहीं । अतः वह अनुमानरूप ही है । क्योंकि एक पदार्थ से

1- तस्यैवाविर्भूतस्य कुतश्चित् प्रतिबन्धादप्रकाशमानस्य प्रकाशकेनोपसर्जनीकृतात्मना सहैव प्रकाशो द्वितीया, यथा प्रदीपादिना घटादेः । - हि॰ व्य॰ वि॰ पृ॰ 62

2- तस्यैवानुभूतपूर्वस्य संस्कारात्मनान्तर्विपरिवर्तिनः कुतश्चिदव्यभिचारिणोऽर्थान्तरात् तत्प्रतिपादकाद्वा संस्कार प्रबोधमात्रं तृतीया । - हि॰ व्य॰ वि॰ पृ॰ 63

दूसरे पदार्थ की प्रतीति में अनुमान छोड़कर और कोई तत्व सिद्ध नहीं होता । सारांश यह है कि अभिव्यक्ति में प्रकाशक और प्रकाशमान के प्रकाशन में क्रम नहीं होता, जब कि वाच्य से व्यङ्ग्य की प्रतीति मे क्रम होता है। अभिव्यक्ति में प्रकाशमान सम्बन्ध स्मरण की अपेक्षा नहीं रखता, जबकि वाच्य से व्यङ्ग्य की प्रतीति बिना सम्बन्ध के सम्भव ही नहीं। इस प्रकार अभिव्यक्ति का लक्षण प्रतीयमानरूप लक्ष्य में घटित न होने से लक्षण असम्भव दोष से दुष्ट हुआ।

इसी प्रकार प्रतीयमान में असत् विषयक व्यक्ति का भी लक्षण घटित नहीं होता क्योंकि असत् विषयक व्यङ्ग्यार्थ मानने पर उसको कहा नहीं जा सकता । (वक्तुमशक्यत्वात्)

इस प्रकार, रस, अलंकार और वस्तु रूप ध्वनि के तीनों भेदों में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव नहीं बनता क्योंकि उनमें व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव की साधिका सहभावेनप्रतीति नहीं है । अतः वाच्य और प्रतीयमान की प्रतीतियों के बीच में क्रम होने से गम्यगमकभाव स्वीकार करना चाहिये ।1

व्यंग्यार्थ की प्रतीति लिङ्गलिङ्गिभावमूल है यह सिद्ध करने के लिये ध्वनिकारोक्त वस्तु ध्वनि का उदाहरण दिया है । -

भ्रमधार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदावरीनदीकूललतागहनवासिना दृप्तसिंहेन ।।

प्रस्तुत पद्य में यह अनुमान का रूप है यद् यद् भीरुभ्रमणं तत् तत् भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम् । गोदावरीतीरं च भयकारण सिंहाधिष्ठितम्, अतस्तत् (स्व)भीरुभ्रमणायोग्यम् इति । अत्र भ्रमणस्य यद् व्यापकं भयहेतुनिवृत्तिज्ञानं तद्विरुद्धा भयकारणसिंहोपलब्धिः भ्रमणरूपं व्याप्तं निवारयति । गोदातीर यह पक्ष है । भयानक सिंह का सद्भाव यह हेतु है । भ्रमणाभाव साध्य है । यह देश भीरु भ्रमण के अयोग्य है, दृप्त सिंह के सद्भाव के कारण । यहां पर अनुमिति का पंचावयवी वाक्य प्रस्तुत किया जा रहा है ।

1- तदेवं वाच्यप्रतीयमानयोर्वक्ष्यमाणक्रमेणलिङ्गलिङ्गिभावस्य समर्थनात् सर्वस्यैव ध्वनेरनुमानान्तर्भावः ।

1- यह देश भीरुभ्रमण के अयोग्य है । प्रतिज्ञा
2- दृप्तसिंह के सद्भाव होने के कारण । हेतु
3- अरण्य । दृष्टान्त
4- तद्यथा । उपनय
5- तस्मात्तथा । निगमन

इसी प्रकार अन्य ध्वनिभेदों में भी महिमा को व्यञ्जना स्वीकार्य नहीं है ।

इस प्रकार नीचे संक्षेप में आनन्दवर्धनाचार्य और महिमभट्ट के मतभेदों को प्रदर्शित किया जा रहा है - -

<u>महिमभट्ट</u>	<u>आनन्दवर्धन</u>
1- प्रतीयमानार्थ का गम्यत्व	1- उसका व्यङ्ग्यत्व
2- प्रतीयमानार्थ को प्रतिपादित करने वाला व्यापार अनुमिति	2- व्यञ्जना
3- वाच्य, प्रतीयमान अर्थों की क्रम से प्रतीति	3- उन दोनो का साहित्येन प्रकाश
4- शब्द सदा वाचक है ।	4- शब्द व्यञ्जक भी है ।
5- प्रतीयमानार्थ के प्राधान्य, और अप्राधान्य से काव्य का भेद उचित नहीं ।	5- उचित है ।
6- उपचारवश रसध्वनि का व्यङ्ग्यत्व व्यपदेश समीचीन है, मुख्य रूप से नहीं ।	6- मुख्य रूप से ही प्रतीयमानार्थ का व्यक्तिवेद्यत्व उपपन्न है ।

<u>वक्रोक्ति जीवितकार कुन्तक और व्यञ्जना</u>

वक्रोक्तिजीवितकार राजानक कुन्तक विदग्धभंगभिणितिरूपा वक्रोक्ति को सार्वभौम एवं व्यापक रूप देते हुये उसे काव्य की आत्मा स्वीकार करते है ।1 वस्तुतः कुन्तक के मत और ध्वनिवादी के मत में कोई विरोध

1- वक्रोक्तिजीवितकार: पुनर्वैदग्ध्यभंगीभणितिस्वभावां बहुविधां वक्रोक्तिमेव प्राधान्यात् काव्यजीवितमुक्तवान् ।

- राजानक रुय्यक, अ० सं० पृ० 9

नहीं है किन्तु काव्य के आत्म तत्व विषयक विचार में विरोध है । ध्वनिवादी जिसे प्रतीयमानार्थ मानते हैं, आचार्य कुन्तक उसी को वक्रोक्ति मानते हुए काव्य के आत्म तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं। आचार्य कुन्तक के अनुसार कवि-प्रतिभा से सम्पन्न उक्ति वैचित्र्य ही काव्य का परम तत्वं है । यह उक्ति वैचित्र्य ही काव्य का अन्य लोक-प्रसिद्ध उक्तियों से भेदक तत्व है, तभी तो गतोऽस्तमर्को भातीन्दु र्यान्तिपक्षिणः इस साधारण उक्ति में सहृदय कवियों की रुचि नहीं होती1 अपितु विदग्धकविविरचित वक्रवाक्योपारूढ शाणोल्लीढमणिमनोहर वचन ही काव्यतत्ववेत्ताओ को रुचिकर होता है ।2

राजानक कुन्तक ने दो उदाहरण देकर सामान्य उक्ति से सहृदयग्राह्य उक्ति का भेद स्पष्ट किया है ।

(1) मानिनीजनविलोचनपातानुष्णवाष्पकलुषानभिगृह्णान् ।
मन्दमन्दमुदितः प्रययौ खं भीत भीत इव शीतमयूखः ।।

(2) क्रमादेकद्वित्रिप्रभृतिपरिपाटी प्रकटयन्
कलाः स्वैरं स्वैरं नवकमलकन्दाङ्कुररुचः ।
पुरन्ध्रीणां प्रेयोविरहदहनोद्दीपितदृशां
कटाक्षेभ्यो बिभ्यन्निभृत इव चन्द्रोऽभ्युदयते ।।3

उपर्युक्त दोनों पद्यों को पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि यद्यपि दोनों पद्यों में समान अर्थ का उपनिबन्धन है किन्तु कविकृत उक्तिवैचित्र्य से प्रथम पद्य जितना भ्राजिष्णु (रुचिकर) है उतना दूसरा नहीं ।

राजानक कुन्तक काव्य की परिभाषा इस प्रकार करते हैं --

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ।।4

1- गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति पक्षिणः ।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते ।। - काव्यालंकार 2-8

2- प्रतिभाप्रतिभासमानमघटितपाषाणशकलकल्पमणिप्रख्यमेव वस्तु विदग्धकविविरचितवक्रवाक्योपारूढं शाणोल्लीढमणिमनोहरतया तद्विदाह्लादकारिकाव्यत्वमधिरोहति । - व॰ जी॰ पृ॰ 21

3- व॰ जी॰ पृ॰ 21 प्र॰ उ॰

काव्यविद् में आह्लाद उत्पन्न करने वाले, वक्रकविव्यापार से सुशोभित रचना में व्यवस्थित सहित शब्दार्थ काव्य कहे जाते हैं ।

वाचक शब्द और वाच्यार्थ दोनों मिलकर ही काव्य होते हैं । जैसे प्रत्येक तिल में तैल होता है, उसी प्रकार शब्द अर्थ दोनों में ही सहृदयहृदयाह्लादक शक्ति होती है । सहितौ का अर्थ है – सहभाव अर्थात् साहित्यपूर्वक अवस्थित शब्दार्थ ही काव्य है । राजानक कुन्तक के अनुसार वक्रताविच्छित्तिविशिष्ट गुण तथा अलंकार विभूति का परस्पर स्पर्धित्व ही काव्य में अभिप्रेत है। इस स्पर्धित्व में उत्कर्ष और निकर्ष रहित साहित्य ही यहां विवक्षित है। यह परस्परस्पर्धित्व साहित्य ही सहृदयहृदयावर्जक सौन्दर्यश्लाघिता को प्राप्त होता है ।1 इन शब्दार्थों की स्थिति परस्पर दो मित्रों की है ।2

चूंकि यह परस्परस्पर्धिरूप उक्तिवैचित्र्य ही सहृदयहृदयावर्जक एवं सौन्दर्य का अधिष्ठान है अतएव कुन्तक ने इसे काव्य का प्राण–तत्व माना है । जबकि ध्वनिवादी इस वैचित्र्य के हेतुभूत व्यङ्ग्यार्थ को प्राण तत्व मानते हैं । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कुन्तक विचित्र अर्थ–प्रकाशन शैली को ही काव्य का सर्वस्व मानते हैं जबकि ध्वनिकार अर्थ–प्रकाशन शैली को काव्य का सर्वस्व न मानकर प्रतीयमानार्थ को काव्य का प्राणतत्व मानते हैं ।3 जैसे "भ्रम धार्मिक" पद्य में कुन्तक के अनुसार विधिरूप वाच्य में ही चमत्कार माना जायेगा, "मा भ्रम" इस अर्थ में नहीं, क्योंकि इसमें भ्रमण–निषेध का उक्ति–वैचित्र्य के माध्यम से कथन है। भ्रमण–निषेध को प्रकारान्तर से व्यक्त करना ही वक्रोक्ति है, जो काव्य का प्राण है । जबकि ध्वनिकार "मा भ्रम" इस प्रतीयमानार्थ में ही चमत्कार मानते हैं, जिसके कारण वाच्यार्थ भी वक्रिमायुक्त भासित होता है । व्यञ्जनावादी

1– एतयोः शब्दार्थयोः यथास्वं यस्यां स्वसम्पत्सामग्रीसमुदायः सहृदयहृदयाह्लादकारी परस्परस्पर्धया परिस्फुरति सा काचिदेव वाक्यविन्याससम्वत् साहित्य व्यपदेशभाज् भवति ।

– व॰ जी॰ प्र॰ उ॰ पृ॰ 18

2– समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव सङ्गतौ ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा ।।

– व॰ जी॰ प्र॰ उ॰ पृ॰ 24

3– काव्यस्यात्मा ध्वनिः – ध्व॰ प्र॰ उ॰ कारिका १ – ध्व॰ 1–1

"मा भ्रम" स्पष्ट रूप से ऐसा कहने में कोई चमत्कार नहीं मानता क्योंकि तब तो ये वाच्य ही हो जायेगा, और इसका व्यड्•ग्यत्व नष्ट हो जायेगा, जो कि आस्वादनवेला में ही रहता है । कुन्तक आत्मवान देह की वक्रिमा में सौन्दर्य देखते हैं और ध्वनिकार देह से व्यतिरिक्त आत्मा में सौन्दर्य देखते हैं । डॉ• नगेन्द्र ने इन दोनों के सिद्धान्तों की समालोचना करते हुए कहा है कि "ध्वनि का वैचित्र्य अर्थरूप होने से आत्मापरक है, उधर वक्रोक्ति का वैचित्र्य अभिधारूप अर्थात् उक्तिरूप होने के कारण मूलतः वस्तुपरक है । इसलिये हमारी स्थापना है कि वक्रोक्ति प्रायः ध्वनि की वस्तुपरक परिकल्पना ही है ।1

यह उल्लेखनीय है कि वक्रोक्ति को सिद्धान्त के रूप में उद्घाटित करने का श्रेय भले ही कुन्तक को है किन्तु सर्वप्रथम आचार्य अलंकारतन्त्रप्रजापति , आचार्य भामह ने इसका उल्लेख करते हुये इसका माहात्म्य बताया है2- कुन्तकाचार्य ने भामह का ही अनुसरण करके वक्रोक्ति का सिद्धान्त बनाया ।

भामह के पश्चात् दण्डी, वामन एवं रुद्रट ने भी वक्रोक्ति के महत्त्व को स्वीकार किया । आचार्य रुद्रट का अनुसरण करके ही मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने वक्रोक्ति को अलंकार के रूप में स्वीकार किया। किन्तु आनन्दवर्धन ने वक्रोक्ति को सर्वालंकार सामान्य माना है । "अतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्यक्रिया" । कुन्तक की वक्रोक्ति में जहां एक ओर वाच्यवाचकधर्ममूल अलंकारो की शोभा है तो दूसरी ओर अंगनाओ के लावण्य के सदृश व्यड्•ग्यार्थ का चारुत्व भी। इस प्रकार समस्त काव्य-सौन्दर्य तथा वैभव वक्रोक्ति में ही समाहित है।

मूलतः कुन्तक अभिधावादी हैं । वे अभिधाव्यतिरिक्त कोई शब्द-व्यापार नहीं स्वीकार करते हैं तथा उसी अभिधा के दो रूप मानते हैं । (1) सामान्य अभिधा (2) विचित्रा अभिधा । यह विचित्रा अभिधा ही वक्रोक्ति है ।3

1- हिन्दी वक्रोक्तिजीवित की भूमिका - पृ• 194

2- सैवा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया बिना ।। -काव्यालंकार 3/85

3- काऽसौ वक्रोक्तिरेव । वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा । कीदृशी वैदग्ध्यभंगीभणितिः वैदग्ध्यं विदग्धभावः कविकर्मकौशलं तस्य भड्•गी विच्छित्तिस्तया भणितिः । विचित्रैवाभिधा

कुन्तक असामान्य कथन शैली अर्थात् विचित्रा अभिधा को ही काव्य का प्राण समझते हैं । शास्त्रादि में प्रसिद्ध शब्द, अर्थ तथा लोक में घट, पट आदि शब्दों का निबन्धन तो सामान्य अभिधा के अन्तर्गत आता है, किन्तु कविकर्मकौशल की महिमा से वक्रता को प्राप्त विचित्रा अभिधा ही काव्य में शोभा बढ़ाती है । यह विचित्रा अभिधा ध्वनिवादी की व्यञ्जना ही है जिसका प्रकारान्तर से कुन्तक ने कथन किया है, किन्तु अभिधावादी होने के नाते वे द्योतक और व्यञ्जक शब्दों को भी वाचक ही मानते हैं, क्योंकि द्योतक और व्यञ्जक शब्दों मे अर्थप्रत्यायन रूप सामान्यता होती है। अतः उपचारतः वे भी वाचक होते हैं। इसी प्रकार द्योत्य और व्यङ्‌ग्यार्थ में भी अर्थ प्रतीतिकारिता सामान्य है अतएव वे भी वाच्य कहे जाते हैं । 1 इससे यह सिद्ध होता है कि कुन्तक को अभिधा से व्यतिरिक्त प्रत्यक्षतः व्यञ्जना आदि कोई शब्द व्यापार स्वीकार्य नहीं है । जिस प्रकार आनन्दवर्धन ने ध्वनि काव्य को वाचक शब्द और वाच्यार्थ का गुणीभाव मानते हुए व्यङ्‌ग्य-व्यञ्जक भाव से युक्त बताया है, उसी प्रकार कुन्तक के अनुसार भी प्रसिद्ध शब्दार्थ व्यतिरिक्त शब्दार्थ ही अपनी स्वाभाविकता से सुन्दर अर्थ होने के कारण और विवक्षितार्थ का बोध कराने के कारण काव्य-शोभा को बढ़ाते हैं ।2 यथा --

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ।।

इस पद्य में "कपाली" शब्द ध्वनिवादियों के अनुसार व्यञ्जक है, जबकि कुन्तक के अनुसार यह पद अलौकिक वाचक वक्रता को उत्पन्न

1- ननु च द्योतकव्यञ्जकावपि शब्दौ सम्भवतः, तदसंग्रहान्नाव्याप्तिः यस्मादर्थप्रतीतिकारित्वसामान्यादुपचारात्तावपि वाचकावेव । एवं द्योत्यव्यङ्‌ग्ययोरर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्यादुपचाराद्‌वाच्यत्वमेव ।
- व. जी. पृ. 33

2- (क) यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्‌क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ।।
ध्व. 1/13

(ख) विवक्षितोयोऽसौ वक्तुमिष्टोऽर्थस्तदेक वाचकः तस्य एकः केवल एवं वाचकः । कथम् अन्येषु सत्स्वपि अपरेषु तद्‌वाचकेषु बहुष्वपि विद्यमानेषु । तथा च सामान्यात्मना वक्तुमभिप्रेतो योऽर्थस्तस्य विशेषाभिधायी शब्दः सम्यग्, वाचकतां न प्रतिपद्यते ।

करता है । विद्याधर आदि आचार्य ने कुन्तक को लक्षणावादी सिद्ध करते हुये कहा है कि कुन्तक ने लक्षणा में व्यञ्जना को अन्तर्भूत किया है । किन्तु यह कथन भ्रामक है । डॉ॰ डे के अनुसार "यदि भक्ति पद का लक्षणारूप पारिभाषिक अर्थ न ग्रहण करके अमुख्य ध्वनि रूप अर्थ ग्रहण किया जाये तब तो कुन्तक को भाक्तवादी कहा जा सकता है क्योंकि वक्रोक्ति सिद्धान्त में ध्वनि गौण है और वक्रोक्तिमुख्य है॰ किन्तु इस तरह तो अन्य आचार्य भामह॰ दण्डी॰ वामन॰ भट्टनायक आदि सभी लक्षणावादी हो जायेगें ।" इस प्रकार निष्कर्षतः कुन्तक लक्षणावादी न होकर अभिधावादी ही हैं ।

राजानक कुन्तक ने वक्रोक्ति के मुख्यतः छः भेद माने हैं । वे वक्रता के इन भेदों में गौणरूप से ध्वनि की गतार्थता सिद्ध करना चाहते हैं ।

§1§ वर्णविन्यास वक्रता –

अक्षरों का विशेष न्यास या प्रसिद्ध प्रस्थान से व्यतिरिक्त विचित्रापूर्ण उपनिबन्धन ही वर्णविन्यास वक्रता है ।1 कुन्तक ने अनुप्रास॰ यमक अलंकारों का और उपनागरिका परुषा एवं कोमला नामक वृत्तियों का इसमें अन्तर्भाव किया है। वस्तुतः परिशीलन करने पर यह ज्ञात होता है कि ध्वनिवादी की वर्णध्वनि ही कुन्तक की वर्णवक्रता है ।

§2§ पदपूर्वार्ध वक्रता – इसके आठ भेद बताये गये हैं ।

रूढ़ि वैचित्र्य – इस वक्रता के उदाहरण राजानक कुन्तक ने वे ही दिये हैं जो ध्वनिकार ने अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि के उदाहरण में दिये हैं

1– अक्षराणां विशिष्टन्यसनं तस्य वक्रत्वं प्रसिद्ध प्रस्थानव्यतिरेकिणा वैचित्र्येणोपनिबद्धः –
यमकं नाम कोऽप्यस्याः प्रकारः परिदृश्यते ।
स तु शोभान्तराभावादिह नाति प्रतन्यते ।।
वृत्तीनामुपनागरिकादीनां यद् वैचित्र्यं – – – – तेन युक्ता समन्वितेति ।

– व॰ जी॰ द्वि॰ उ॰ पृ॰ 153–54

2– तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते ।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ।।

रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता के लक्षण में प्रयुक्त "प्रतीयते" का अभिप्राय है कि प्रस्तुत उदाहरण तदा - - - - कमलानि में शब्दों का व्यापार केवल वाचकता मात्र से नहीं होता अपितु अन्य वस्तु की प्रतीतिकारिता मात्र से ही युक्तियुक्त होता है । इस प्रकार ध्वनिकार के द्वारा कथित व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव को कुन्तक ने स्वीकार किया है ।1 इस प्रकार कुन्तक की रूढ़िवैचित्र्यवक्रता ध्वनिवादी की अर्थान्तर संक्रमितवाच्य ध्वनि है ।

<u>पर्याय वक्रता</u> - पर्यायवक्रता को ध्वनिकार की शब्दशक्ति मूल पद ध्वनि के अन्तर्गत माना जा सकता है क्योंकि कुन्तक ने स्वयं कहा है - "एष एव च शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य पदध्वनेर्विषयः ।" यहां यह भी उल्लेखनीय है कि ध्वनिकार के द्वारा दिये गये अलंकार ध्वनि के उदाहरण "कुसुमसमययुग - - - - महाकालः को पर्यायवक्रता के उदाहरण के रूप में कुन्तक प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार कुन्तक ने अलंकारध्वनि को भी स्वीकार किया है ।

कुन्तक की उपचारवक्रता को ध्वनिवादी की अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि के अन्तर्गत माना जा सकता है क्योंकि दोनों में लक्षणा का ही वैचि य है । "गगनं च मत्तमेघं - - - -निशाः" । इस पद्य में भी जो कि कुन्तक ने उपचारवक्रता का उदाहरण दिया है आनन्दवर्धन ने अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि के उदाहरण में दिया है ।2

विशेषणवक्रता का अन्तर्भाव ध्वनिवादी की पदध्वनि में हो सकता है क्योंकि दोनो पद ही व्यञ्जक हैं ।

संवृत्तिवक्रता के स्वरूप पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह ध्वनिवादी की व्यञ्जना वृत्ति पर ही आधारित है । संवृत्तिवक्रता के लक्षण में कहा गया है कि जहां वैचित्र्य के अभिधान की इच्छा से वस्तु को सर्वनाम आदि से छिपाया जाता है वहां संवृत्तिवक्रता होती है ।

1- प्रतीयते इति क्रियापदवैचित्र्यस्यायमभिप्रायो यदेवंविधे विषये शब्दानां वाचकत्वेन न व्यापारः, अपितु वस्त्वन्तरवत्प्रतीतिकारित्वमात्रेणेति युक्तियुक्त मप्येतदिह नातिप्रतन्यते। यस्माद् ध्वनिकारेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽत्र सुतरां समर्थितस्तत् किं पौनरुक्त्येन ।

- व॰ जी॰ पृ॰ 159

ध्वनिवादी की व्यञ्जना भी अनभिधेय अर्थ का ही बोध कराती है ।

वृत्तिवक्रता का अन्तर्भाव ध्वनिकार की समासध्वनि में हो जाता है अन्तिम भेद क्रिया वैचित्र्य वक्रता को ध्वनिवादी की धातु ध्वनि के अन्तर्गत रखा जा सकता है ।

<u>पदपरार्धवक्रता</u> — इसके भी आठ भेद माने हैं, जिनमें से छः भेदों को आनन्दवर्धन ने ध्वनि के रूप में उल्लेख किया है ।1

<u>वाक्यवक्रता</u> — इसमें आचार्य कुन्तक ने समस्त रस तथा अलंकार वर्ग का अन्तर्भाव किया है । वाक्यवक्रता का अन्तर्भाव अलंकारध्वनि में हो जाता है । यहां यह भी उल्लेखनीय है कि कुन्तक ने कुछ अलंकारों की यथा रूपक, व्यतिरेक आदि की प्रतीयमानता स्वीकार करते हुये प्रतीयमानरूपक का वही उदाहरण दिया है जो आनन्दवर्धन ने रूपकध्वनि का दिया है ।

<u>प्रकरण वक्रता तथा प्रबन्ध वक्रता</u>

प्रबन्धवक्रता का अन्तर्भाव प्रबन्ध ध्वनि में हो सकता है । प्रकरण से तात्पर्य प्रबन्ध के एक देश से है अतएव इसे भी प्रबन्ध ध्वनि के अन्तर्गत माना जा सकता है ।

इस प्रकार वक्रोक्तिजीवितम् के अनुशीलन से यह प्रतीत होता है कि कुन्तक व्यङ्ग्यार्थ को भी स्वीकार करते हैं ।2

1— सुप्तिङ् वचनसम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः ।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित् ।।
च शब्दान्निपातोपसर्गकालादिभिः प्रयुक्तैरभिव्यज्य मानो दृश्यते ।
— ध्व. 3/16

2— (क) प्रतीयमानता यत्र काव्यार्थस्य निबध्यते ।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां व्यतिरिक्तस्य कस्यचित् ।।
— व. जी. 1.50

(ख) विचित्र मार्ग के प्रसङ्ग में — यस्मिन् प्रतीयमानता गम्यमानता काव्यार्थस्य मुख्यतया विवक्षितस्य वस्तुनः कस्यचिदनाख्येयस्य निबध्यते ।
— व. जी. पृ. 118

इस प्रकार कुन्तक व्यङ्ग्यार्थ एवं व्यञ्जना की सत्ता स्वीकार करते हुये भी सबका वक्रोक्ति में अन्तर्भाव कर देते हैं। आचार्य कुन्तक के अनुसार कवि-कर्म कौशल से शब्दार्थों का साहित्यपूर्ण जब चारुत्व उल्लसित होता है तब उक्तिवैचित्र्यवशात् काव्यतत्ववेत्ताओं का हृदयावर्जक बन जाता है । इस प्रकार कुन्तक के अनुसार काव्य का चारुत्व शब्दार्थों की वक्रता में ही निहित है । इसी कारण कुन्तक ने ध्वनिवादियों को अभीष्ट व्यङ्ग्यार्थ और अलंकारप्रधान्यवादियों को अभीष्ट अलंकार आदि को काव्य का प्राण न मानकर वक्रोक्ति को ही काव्य का प्राण माना है तथा समस्त अलंकार, भरतमुनि प्रणीत रस प्रस्थान तथा ध्वनि सिद्धान्त सभी को वक्रोक्ति में अन्तर्भूत करने का प्रयत्न किया है ।

तात्पर्यवादी भोजदेव और व्यञ्जना

वस्तुतः भोजदेव तात्पर्यवादी तो है किन्तु यह व्यञ्जना व्यापार का कहीं विरोध नहीं करते हैं । भोजदेव मुख्या, गौणी तथा लक्षणा नामक शब्द की तीन ही वृत्तियां स्वीकार करते हैं ।[1] स्पष्ट है कि ये व्यञ्जना वृत्ति को नहीं मानते हैं।

भोजदेव के अनुसार भी तात्पर्य वक्ता की विवक्षा ही है और वह वाक्य द्वारा ही प्रतिपाद्य होता है । यह तात्पर्य कहीं अभिधीयमान होता है, कहीं प्रतीयमान और कहीं ध्वनिरूप ।[2]

1- तया स्वरूप इवाभिधेये प्रवर्तमानः शब्दो वृत्तित्रयेण वर्तते, ताश्च मुख्या गौणी लक्षणेति तिस्त्रः । तत्र साक्षादव्यवहितार्थाभिधायिका मुख्या । गम्यमानशौर्यादिगुणयोगव्यवहितार्था गौणी । स्वार्थाविनाभूतार्थान्तरोपलक्षणा तु लक्षणेति ।

- श्रृंगार प्रकाश - स० प्र० पृ० 223

2- यत्परश्शब्दः स शब्दार्थ इति तात्पर्यम् । तच्च वाक्य एवोपपद्यते । पदमात्रेणाभिप्रायस्य प्रकाशयितुमशक्यत्वात् । तच्च वाक्यप्रतिपाद्यं वस्तु त्रिरूपं भवति । अभिधीयमानं, प्रतीयमानं ध्वनिरूपं च ।

- श्रृंगार प्रकाश पृ० 246

इस प्रकार भोजदेव का तात्पर्य प्रयोजनरूप अर्थ है जो कभी वाच्य हो सकता है, कभी प्रतीयमान तथा कभी व्यङ्ग्य । अवधेय तो यह है कि इनके मत में प्रतीयमान तथा ध्वनि परस्पर पर्याय नहीं है ।

(1) **अभिधीयमान तात्पर्य** –

आकांङ्क्षा, योग्यता, सन्निधिवशात् अन्वित पदार्थ रूप वाक्यार्थ ही इनकी दृष्टि में अभिधीयमान तात्पर्य हैं ।1 यहाँ पर तात्पर्य को भोजदेव ने चतुर्थकक्ष्यानिवेशी माना है जैसा कि आनन्दवर्धन व्यङ्ग्यार्थ को मानो हैं, किन्तु संसर्ग विशेष ही व्यङ्ग्यार्थ से उसका भेदक है ।

(2) **प्रतीयमान तात्पर्य** –

प्रतीयमान को परिभाषित करते हुये आचार्य कहते हैं –

"वाक्यार्थावगतेस्त्तरकालं वाक्यार्थ उपपद्यमानोऽनुपपद्यमानोवार्थप्रकरणौचित्यादिसहकृतौ यत्प्रत्याययति तत्प्रतीयमानम् ।"2

प्रतीयमान तात्पर्य तो ध्वनिवादियों के ध्वन्यर्थ के बिल्कुल ही समकक्ष है । जिस प्रकार आर्थी व्यञ्जना के प्रसङ्ग में वक्ता, प्रतिपत्ता, प्रकरणादि के उपाधिवशात् व्यङ्ग्यार्थ स्फुरित होता है ऐसा मम्मट ने बताया है, उसी प्रकार भोजदेव ने भी अर्थ, प्रकरण, औचित्य से सहकृत प्रतीयमान तात्पर्य की प्रतीति बताई है, और प्रतीयमान के भेद बताते हुए वही उदाहरण दिये हैं जो ध्वन्यालोक में व्यङ्ग्यार्थ और वाच्यार्थ का भेद दिखाने के लिये दिये गये हैं ।3

(3) **ध्वनिरूप तात्पर्य** –

ध्वनिरूप तात्पर्य का भी स्वरूप बिल्कुल आनन्दवर्धनाचार्य – प्रोक्त ध्वनि लक्षण का पर्याय है । जिस प्रकार वाच्यार्थ के गौण होने पर, प्रतीयमानार्थ के प्रधान होने पर ध्वनि होती है उसी प्रकार वाच्यार्थ के

1– यत्र तदुपात्तशब्देषु मुख्यगौणीलक्षणाभिः शब्दशक्तिभिः स्वमर्थमभिधायोपरतव्यापारेषु आकांक्षासन्निधियोग्यतादिभिः वाक्यार्थमात्रमभिधीयते तदभिधीयमानम् ––

– श्रृंगार प्रकाश पृ. 246

2– श्रृंगार प्रकाश पृ. 246

3– श्रृंगार प्रकाश पृ. 249

के उपसर्जन होने से जिस अर्थ की प्रतीति होती है, वही ध्वनिरूप है । 1

ध्वनिरूप तात्पर्य के भी दो भेद किये हैं ।

§1§ <u>अनुनाद ध्वनि</u> –

योऽभिधीयमान वाक्यार्थानुस्यूतमेव कांस्यानुनादरूपमर्थान्तरं ध्वनति स अनुनादध्वनिः । तद् यथा

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः ।
तरुणि येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः ।।

अत्र यथाश्रुतवाक्यार्थोऽभिधीयमानो बिम्बफलारुणधर इत्युयपलक्षणेन रागातिशयं प्रत्याययन्नाल्पपुण्यस्त्वदधरप्रतिनिधिमपि चुम्बतीति चाटुना वर्णनीयायाः स्वानुरागप्रकाशनं ध्वनति । एतच्च कांस्यध्वनिवदविच्छिन्नमेव ध्वनन्नुनादरूप प्रतीयत इत्यनुनादध्वनिः ।

§2§ <u>प्रतिशब्दध्वनिः</u> –

यः पुनरभिधीयमान वाक्यार्थात् पृथग्भूत इव गुहादिप्रतिशब्दानुरूपमर्थान्तरं प्रत्याययन्प्रतिध्वनति स प्रतिशब्दध्वनिः । यथा ––

लावण्यसिन्धुपरैव हि केयमत्र ।
यत्रोत्पलानि शशिना सह संप्लवन्ते ।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र
यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः ।।

गुहायां पौरुषादिशब्दानां प्रतिशब्दा जायन्ते, ते च ध्वनिं जनयन्त उपलभ्यन्ते । एवं लावण्यसिन्धुरित्येतस्मिन् पदार्थे उत्पलादिशब्दानां यथा स्वोपमेयलोचनाद्यर्थ प्रतिशब्दा जायन्ते, ते चार्थान्तर ध्वनिं जनयन्त उपलभ्यन्ते । तत्रेह च यथा श्रूयमाणानामुत्पलादीनामर्थोऽभिधीयमानस्तस्य लोचनाद्यर्थैः सह सादृश्यं प्रत्याययद्वर्णनीयाश्चास्त्वोत्कर्षप्रतीतिर्ध्वनति । सा ततः पृथगिवोपलभ्यमाना प्रतिशब्दध्वनिः । 2

1– अर्थशब्दोपायादुपसर्जनीकृतस्वार्थो वाक्यार्थावगतेरनन्तरमनुनादरूपमप्रतिशब्दरूपं वाऽभिव्यञ्जयति तद्ध्वनिरूपम् ।

– श्रृंगार प्रकाश पृ॰ 246

2– श्रृंगार प्रकाश – पृ॰ 50

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्षतः प्रतीत होता है कि भोजदेव समन्वयवादी हैं । एक ओर तो यह धनिक की यावत्कार्यपर्यवसायिनी तात्पर्या वृत्ति को स्वीकार करते हैं और दूसरी ओर आनन्दवर्धन की उपसर्जनीकृतस्वार्थ ध्वनि को भी नहीं छोड़ते । भोजदेव श्रृंगार प्रकाश में ऐसी शब्दावली का प्रयोग करते हैं जिससे ध्वनि और तात्पर्य का भेद और एकरूपता दोनों सूचित होती हैं ।

'यदभिप्रायसर्वस्वं वक्तुर्वाक्यात् प्रतीयते, तात्पर्यमर्थधर्मस्तच्छब्दधर्मः पुनर्ध्वनिः । सौभाग्यमिव तात्पर्यमान्तरो गुण इष्यते, वाग्देवताया लावण्यमिव बाह्यस्तमोर्ध्वनिः । अदूरविप्रकर्षात्तु द्वयेन द्वयमुच्यते, यथा सुरभिवैशाखो मधुमाधव संज्ञया ।1

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भोजदेव के तात्पर्य का तिहाई अंश तो आनन्दवर्धन की ध्वनि से अभिन्न है । अतएव उक्त विवेचन को देखते हुये यह निष्कर्ष अनुचित न होगा कि वे व्यङ्ग्यार्थ को तो स्वीकार करते हैं किन्तु व्यन्जना व्यापार को नहीं स्वीकार करते हैं और व्यङ्ग्यार्थ उनकी दृष्टि में तात्पर्यलभ्य होने के कारण तात्पर्यव्यपदेशभाजन है । इस तात्पर्य की प्रतीति कराने वाली वृत्ति धनंजय की यावत्कार्यप्रसारिणी तात्पर्या वृत्ति से अभिन्न है और इसीलिये "अभिधेय", "प्रतीयमान", तथा "ध्वनिरूप" समस्त अर्थों को विषय बनाने वाली है ।

मुकुल भट्ट और व्यन्जना

मुकुलभट्ट कट्टर ध्वनि विरोधी हैं । यह आनन्दवर्धन के बाद और अभिनवगुप्त के पहले काश्मीर में हुये । इनका समय नवम और दशम शती का सन्धिकाल बताया जाता है।2 यह आचार्य लक्षणा में ध्वनि का अन्तर्भाव मानते हैं ।3 आनन्दवर्धन को अभी कुछ ही समय बीता था - इस कारण मुकुलभट्ट ने आनन्दवर्धन के मत को स्वीकार

1- श्रृंगार प्रकाश - पृ॰ 252

2- Therefore his son Mukula may be held to have flourished in the last quarter of the 9th century and the first two decades of the 10th. - History of Sanskrit Poetics (P.V. Kane) Page-218

3- लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति दिशमुन्मूलयितुमिदमत्रोक्तम् । अ॰ वृ॰ मा॰ पृ॰ 21

नहीं किया अपितु उसमें दोष निकालकर लक्षणा का अतिदेश किया है जो कि व्यड्•ग्यार्थ का भी बोध कराने में समर्थ है । ध्वनिकार रस को व्यड्•ग्य और प्रधान मानते हैं जबकि मुकुलभट्ट रस को आक्षिप्त अर्थात् लक्षणा लभ्य मानते हैं । मुकुलभट्ट ने इसी कारण विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में लक्षणा स्वीकार की है ।

आचार्य शब्द की एक मात्र वृत्ति अभिधावृत्ति को स्वीकार करते हैं ।1 जो दो प्रकार की है §1§ निरन्तरार्थविषय, §2§ सान्तरार्थनिष्ठ । यह सान्तरार्थनिष्ठ अभिधाव्यापार ही लक्षणा है । मुख्य अर्थ की प्रतीति में कोई व्यवधान नहीं होता अतएव यह निरन्तरार्थनिष्ठ कही गई है । और सान्तरार्थनिष्ठ §लक्ष्यार्थ§ व्यवधान युक्त है । मुकुलभट्ट के अनुसार मुख्यार्थ सहकृत अभिधा से लक्ष्यार्थ का बोध होता है । एक ओर आनन्दवर्धन अभिधा को केवल मुख्यार्थ बोधिका मानते थे, लक्ष्यार्थ की प्रतीति के लिये गुणवृत्ति या लक्षणा का उपयोग करते थे किन्तु इसका भी क्षेत्र उनकी दृष्टि में सीमित था । अतएव व्यड्•ग्यार्थ की प्रतीति के लिये तीसरे शब्द व्यापार व्यञ्जना को स्वीकार करते थे। इसके विपरीत मुकुलभट्ट व्यापार में विराम न मानकर सहायकों में परिवर्तन करके एक ही अभिधा व्यापार से अन्तिम अर्थ का बोध करवा देते हैं । उनके अनुसार मुख्यार्थ के पश्चात् जो भी अन्य अर्थ निकले, चाहे वह लक्ष्यार्थ हो या व्यड्•ग्यार्थ सब लक्षणागम्य ही हैं । जिस प्रकार व्यञ्जनावृत्ति के सहकारी वक्ता, बोद्धा, प्रकरण आदि होते हैं उसी प्रकार उनकी लक्षण के सहकारी वक्ता, वाक्य तथा वाच्य हैं । जिस प्रकार आनन्दवर्धन ने "वाच्य" और "प्रतीयमान" ये अर्थ के दो भेद किये, उसी प्रकार मुकुलभट्ट ने मुख्य और लाक्षणिक ये दो अर्थ के भेद किये । आनन्दवर्धन का वाच्य और मुकुलभट्ट का मुख्य ये तो दोनों समान हैं किन्तु मुकुलभट्ट के लाक्षणिक अर्थ में ध्वनिवादी का लाक्षणिक और प्रतीयमान सभी समाविष्ट हो गया है। अभिधा के वर्गीकरण पर विचार करते हुए मुकुलभट्ट बताते हैं कि मुख्या अभिधा चार प्रकार की होती है और लाक्षणिक अभिधा छः प्रकार की ।

§1§ तत्र मुख्यश्चतुर्भेदो ज्ञेयो जात्यादिभेदतः ।

§2§ वक्तुर्वाक्यस्य वाच्यस्य रूपभेदावधारणात्
लक्षणा षट्प्रकारैषा विवेक्तव्या मनीषिभिः ।2

1– शब्दस्य च मुख्येन लाक्षणिकेन वाभिधाव्यापारेणार्थावगतिहेतुत्वमिति मुख्यलाक्षणिकयोरभिधाव्यापारयोरत्र विवेकः क्रियते। अ॰ वृ॰ मा॰ पृ॰ 3

सर्वप्रथम वक्तृनिबन्धना लक्षणा का उदाहरण –

§1§ दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मद् गृहे दास्यसि
प्रायो नैष शिशोः पिताङस्यविरसाः कौपीरपः पास्यति ।
एकाकिन्यपि यामि तद्गनरमितः स्त्रोस्तमालाकुलं
नीरन्ध्रा वपुरालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थयः ।।

यहाँ पर परपुरुष के सम्भोग की इच्छा वाली किसी पुंश्चली का कथन है उस वक्त्री के कारण ही सुरत चिन्ह के गोपन रूप लक्ष्यार्थ की प्रतीति हो रही है ध्वनिवादियों के अनुसार यह वस्तु ध्वनि है क्योंकि यहाँ चौर्यरतिरूप व्यंग्यार्थ साक्षात् शब्दतः कथित नहीं है अपितु अभिव्यक्त हो रहा है ।

§2§ वाक्य निबन्धना लक्षणा –

प्राप्तश्रीरेष कस्मात् पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्या
न्निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव सम्भावयामि ।
सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात –
स्त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः ।।

इस पद्य में कोई चाटुकार राजा की स्तुति कर रहा है । यहाँ पर राजा को भगवान् वासुदेव का आक्षेप मानकर वाक्यनिबन्धना लक्षणा मुकुलभट्ट ने मानी है। यहां वाक्यमूलक लक्षणा है क्योंकि इस लक्षणा का बोध न होने तक सभी वाक्यों के पदों का समन्वय नहीं हो पाता । आनन्दवर्धन ने यहां अलंकार ध्वनि मानी है और रूपक अलंकार को ध्वन्यमान अलंकार बताया है ।1

वाच्यनिबन्धना लक्षणा –

दुर्वारा मदनेषवो दिशिदिशि व्याजृम्भते माधवो
हृद्युन्मादकराः शशाङ्कः रूचयश्चेतोहराः कोकिलाः ।
उत्तुङ्गस्तनभारदुर्भरमिदं प्रत्यग्रमन्यद् वयः
सोढव्याः सखि सांप्रतं कथममी पन्चाग्नयो दुःसहाः ।।

प्रस्तुत उदाहरण में मुकुलभट्ट ने इसे वाच्यनिबन्धना लक्षणा का विषय माना है। प्रस्तुत पद्य में मदन बाण, चन्द्र, ज्योत्सना, कोकिलालाप आदि पांच पदार्थों में पन्चाग्नि का आरोप है क्योंकि ये स्वतः अनुपपन्न हैं । अतएव श्रृंगार रस का आक्षेप किया गया है, इस प्रकार वाच्य निबन्धना लक्षणा मानी गई है ।

1– रूपकध्वनिरेवायमिति । शब्दव्यापारम् विनैवार्थसौन्दर्यबलाद्रूपणाप्रतिपत्तेः ।
ध्व॰ द्वि॰ उ॰ पृ॰ 284

वस्तुतः व्यञ्जना और लक्षणा परस्पर भिन्न तत्व हैं किन्तु मुकुलभट्ट के समय तक ध्वनिसिद्धान्त की जड़ें मजबूती से नहीं टिक पाई थीं अतएव विरोधकों ने उसे निर्मूल करने की चेष्टा की ।[1] भट्ट नायक के समान मुकुलभट्ट ने भी लक्षणा के क्षेत्र को बहुत विस्तृत कर दिया है जो कि सर्वथा अग्राह्य है ।

प्रतिहारेन्दुराज और व्यञ्जना

प्रतिहारेन्दुराज काव्यालंकार सारसंग्रह के टीकाकार हैं । यह अभिनवगुप्त के गुरु हैं तथा मुकुलभट्ट के शिष्य हैं । कालक्रमानुसार यह अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं । उद्भट ने (काव्यालंकार सारसंग्रह के रचयिता) अपने ग्रन्थ में केवल अलंकारों का लक्षण तथा उदाहरण दिया है वे ध्वनि के विषय में मौन हैं किन्तु उनके टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ध्वनि को अलंकार में अन्तर्भूत मानते हैं ।[2] प्रतिहारेन्दुराज ध्वनिसिद्धान्त को नहीं मानते हैं । उनके गुरु मुकुलभट्ट ने ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा में किया और कदाचित उन्हीं से प्रेरित होकर प्रतिहारेन्दुराज ने ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकारों में किया । यह ध्वनिविरोधी होने पर भी उनके सिद्धान्त से पूर्णतः प्रभावित है । प्रतिहारेन्दुराज ने सबसे पहले वस्तुध्वनि का अन्तर्भाव पर्यायोक्त अलंकार में किया है । उदाहरणार्थ –

चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य ।
आलिंगनोद्दामविलासवन्ध्यं रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषम् ।।

जिसने चक्र प्रहार की हठात् आज्ञा से ही राहु के वधूजन के रतोत्सव को ऐसा कर दिया – जहां अब आलिंगन आदि उद्दाम विलास की स्थिति सम्भव नहीं रही॰ रहा तो केवल चुम्बन मात्र ।

1– लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यते ।
अ॰ वृ॰ मा॰ पृ॰ 21

2– ननु यत्र काव्ये सहृदयहृदयाह्लादिनः प्रधानभूतस्य स्वशब्दव्यापारास्पृष्टत्वेन प्रतीयमानैकरूपस्यार्थस्य सद्भावस्तत्र तथाविधार्थाभिव्यक्तिहेतुः काव्यजीवितभूतः कैश्चित् सहृदयैर्ध्वनिर्नाम व्यञ्जकत्वभेदात्मा काव्यधर्मोऽभिहितः स कस्मादिह नोपदिष्टः । उच्यते । एष्वलंकारेष्वन्तर्भावात् । तथाहि । प्रतीयमानैकरूपस्य वस्तुनस्त्रैविध्यं तैरुक्तं वस्तुमात्रालंकाररसादिभेदेन । –का॰ सा॰ सं॰ लघुवृत्ति पृ॰ 85

इस वाच्यार्थ को जानकर भी सहृदय को यह जिज्ञासा रहती है कि किस कारण से ऐसा हो गया प्रकरणवशात् यह कारण ज्ञात होता है कि राहु का शिरश्छेद हो गया है जो कि व्यङ्ग्य है क्योंकि यह शब्दतः कहा नहीं गया है। यह न तो अलंकार है न रस है अपितु वस्तु व्यङ्ग्य है। ध्वनिकार यहाँ पर पर्यायोक्त अलंकार का प्राधान्य मानते हैं । आनन्दवर्धन के अनुसार पर्यायोक्त में वस्तु व्यङ्ग्य होने पर भी उसका प्राधान्य नहीं होता। प्रतिहारेन्दुराज पर्यायोक्त अलंकार में वस्तु व्यङ्ग्य का प्राधान्य मानते हैं । और इस प्रतीयमानार्थ का बोध कराने वाला व्यञ्जना व्यापार पर्यायोक्त अलंकार में निहित है । पर्यायोक्त अलंकार का लक्षण इस प्रकार है –

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना ।।

जैसे ध्वनि में व्यङ्ग्यार्थ साक्षात् शब्दतः नहीं कहा जाता किन्तु अवाच्य अर्थ की प्रतीति होती है उसी तरह पर्यायोक्त में भी वाच्यवाचकवृत्ति से भिन्न अवगमनात्मक व्यापार के द्वारा अन्य प्रकार से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार प्रतिहारेन्दुराज के अनुसार पर्यायोक्त ही ध्वनि है । यहाँ पर यह शङ्का हो सकती है कि जब पर्यायोक्त में प्रतीयमान वस्तु प्रधान है तब तो वह अलंकार्य हो जायेगा क्योंकि उसमें अलंकरण की सामर्थ्य नहीं बचेगी । इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं कि जैसे लोक में कभी–कभी स्वामी भृत्य के अलंकारक होते देखे जाते हैं उसी प्रकार यद्यपि यहां प्रतीयमान प्रधान है किन्तु वाच्यार्थ को अलंकृत करने के कारण यदि उसे अलंकार कहा जाता है तो उसमें कोई अनौचित्य नहीं है ।1 इस प्रकार अन्यत्र भी वस्तुव्यङ्ग्य की प्रतीति होने पर पर्यायोक्त ही मानना चाहिये ध्वनि को नहीं ।2

1– अतोऽत्र वस्तुमात्रस्यैवंविधस्य शब्दव्यापारस्पृष्टस्य प्रतीयमानता । तद्विषयस्य च काव्यधर्मस्य ध्वननाभिधानस्य वाच्यवाचकव्यापारशून्यावगमनस्वभावत् – त्पर्यायोक्तालंकार संस्पर्शित्वम् – – – –
प्रधानमपि गुणानां सौन्दर्यहेतुत्वादलंकृतौ साधनत्वं भजति । दृश्यते हि लोके व्यपदेशः स्वाम्यलंकरणकाभृत्या इति । अतोऽत्रापि प्रतीयमानस्य सत्यपि प्रधानत्वे स्वगुणभूतवाच्यसौन्दर्यसाधकतमत्वादलंकारव्यपदेशो न विरुध्यते । – लघुवृत्ति टीका

2– एवमन्यत्रापि वस्तुमात्रे प्रतीयमाने पर्यायोक्ता वाच्या तस्मान्न वस्तुमात्रे प्रतीयमाने तदभिव्यक्तिहेतुः काव्यधर्मो ध्वनिर्नामार्थान्तरम् ।

अब प्रतिहारेन्दुराज अलंकार ध्वनि का भी अलंकार में अन्तर्भाव दिखा रहे हैं

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि ।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः ।।

जैसा कि प्रकृत शोध प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में प्रतिपादित किया जा चुका है आनन्दवर्धन ने इसे रूपक ध्वनि का उदाहरण माना है । प्रतिहारेन्दुराज ने इसमें रूपक अलंकार को व्यंग्य मानते हैं किन्तु उसे वे प्रतीयमानरूपकालंकार की संज्ञा देते हैं अथवा उसका भी पर्यायोक्ति अलंकार में अन्तर्भाव कर लेते हैं ।[1]

व्यङ्ग्यार्थ के तीसरे भेद रसध्वनि को वे रसवद् अलंकार में अन्तर्भूत कर लेते हैं । भट्टोद्भट ने रसवद् अलंकार का लक्षण इस प्रकार दिया है ।

रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृंगारादिरसोऽयम् ।
स्वशब्दस्थायिसन्चारिविभावाभिनयास्पदम् ।।

जहां काव्य में श्रृंगारादिवाचक श्रृंगार आदि शब्द, स्थायी भाव रति आदि, उनके कारण कामिनी आदि, विभाव, अनुभाव, संचारी सब उपनिबद्ध किये जाते हैं, उससे जहां श्रृंगार रस का अविर्भाव होता है वहां रसवदलंकार है ।

इसी प्रकार इस उदाहरण में –

याते गोत्रविपर्यये श्रुतिपथं शय्यामनुप्राप्तया
निध्यातं परिवर्तनं पुनरपि प्रारब्धमङ्गीकृतम् ।
भूयस्तत् प्रकृतं कृतञ्च शिथिलक्षिप्तैकदोर्लेखया
तन्वङ्गया न तु पारितः स्तनभरः क्रष्टुं प्रियस्योरसः ।।

1– इत्यादौ प्रतीयमानैकरूपता तथाप्यनन्तरोक्तलक्षणेष्वलंकारेषु अनुप्रवेशो भविष्यति पर्यायोक्ते वा । न च यस्यालंकारस्य प्रतीयमानरूपता तस्येहालंकारत्वं केनचिन्निवारितमिति प्रतीयमानरूपतया रूपकाख्यो अलंकारो भविष्यति अथवा पर्यायोक्त्या रूपकस्यात्रावसितत्वात् पर्यायोक्त्यलंकारः

यहां पर श्रृंगार रस व्यङ्ग्य है जिसे प्रतिहारेन्दुराज ने रसवद्‌लंकार माना है और इसी प्रकार जहां भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम, प्रतीयमान होते हैं वहां क्रमशः प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वित्, समाहित नामक अलंकार होते हैं ।1 जहां रस आदि अप्रधान हों वहां उदात्त अलंकार मानते हैं । उल्लेखनीय है कि उनके प्रतिपादन में वदतोव्याघात भी दर्शनीय है, एक ओर तो वे रस को अलंकार कहते हैं "रसा खलु कावस्य काव्यस्यालंकाराः", और दूसरी ओर उद्भट द्वारा निरलंकृत काव्य के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत अधोलिखित पद्य ‖ जो कि ईर्ष्या विप्रलम्भ श्रृंगार का स्थल होने के कारण इन्हीं के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुये निरलंकृत कहा ही नहीं जा सकता ‖

कथमपि कृतप्रत्यासत्तौ प्रिये स्खलितोत्तरे
निरहङ्कुशया कृत्वा व्याजप्रकल्पितमश्रुतम् ।
असहनसखी श्रोत्रप्राप्तिप्रमादससंभ्रमम्
विगलितदशाशून्ये गेहे समुच्छ्वसितं ततः ।।

" न खलु काव्यस्य रसानां चालंकार्यालंकारभावः किंत्वात्मशरीर भावः "

अर्थात् काव्य का रस के साथ अलंकार्य अलंकारक भाव नहीं है अपितु आत्म शरीर भाव है इस प्रकार स्पष्ट है वे यहां पर रस का आत्मत्व स्वीकार करते और रस के अलंकारत्व का निषेध करते हुये दिखाई देते हैं । अन्यत्र वे स्पष्ट शब्दों में रसादि के आत्मत्व का प्रतिपादन इन शब्दों में करते हैं –

रसाद्यधिष्ठितं काव्यं जीवद्रूपतया मतः ।
कथ्यते तद्रसादीनां काव्यात्मत्वं व्यवस्थितं ।।

और एक अन्य स्थल पर रस और भाव काव्य के "अलंकरणरूप हैं अथवा आत्मभूतरूप" इस प्रश्न को उत्थापित करके भी ग्रन्थ गौरवभयात् अपने

1– ‖अ‖ तत्र च पूर्वं रसवत्वलक्षणोऽलंकारः प्रतिपादितः रसवद्दर्शितेत्यादिना । एवं रसान्तरेष्वपि वाच्यम् ।

‖ब‖ एवञ्च त्रिविधेऽपि प्रतीयमानेऽर्थे यच्छब्दानां व्यञ्जकत्वमनन्तरोपव – र्णितेषूदाहरणेषु षट्प्रकारतयोपदर्शितं तस्योक्तेष्वेवालंकारेष्वन्तर्भावात् व्याप्तिः ।
– लघुवृत्ति टीका पृ० 58

विचार नहीं व्यक्त करते ।[1]

इस प्रकार रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए भी ‡जो कि ध्वनिवादी को अभीष्ट है‡ उसको कहीं अलंकार रूप मानकर अलंकारवादी होने के नाते रस की स्थिति में स्वयं भी सन्दिग्ध हैं ।

इन विरोधी आचार्यों की व्यञ्जना विरोधी युक्तियों के निरूपण के पश्चात् उन युक्तियों पर भी विचार अपरिहार्य हो जाता है जो आनन्दवर्धन द्वारा स्वयं उद्भावित हैं ।

ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत की प्रथम कारिका में ही आचार्य आनन्दवर्धन ने विरोधियों के तीन वर्गों का उल्लेख किया है ।[2]

1. अभाववादी
2. भाक्तवादी
3. अनिर्वचनीयतावादी

यहाँ पर यह तथ्य उल्लेखनीय है कि वस्तुतः अभाववादियों के ध्वनि-विरोधी विकल्प सुने नहीं गये हैं किन्तु सम्भावना करके उन्हें उपन्यस्त किया गया है । इसीलिये परोक्षभूत लिट् लकार का प्रयोग कर " जगदुः " का प्रयोग किया है ।[3]

1- रसानां भावानां च काव्यशोभातिशयहेतुत्वात् किं काव्यालंकारत्वमुत काव्यजीवितत्वमिति न तावद्विचार्यते ग्रन्थगौरवभयात् । - लघुवृत्ति टीका

2- काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वं -
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम् ।।

- ध्व. पृ. 8

3- न चास्माभिरभाववादिनां विकल्पाः श्रुताः , किन्तु सम्भाव्य दूषयिष्यन्ते, अतः परोक्षत्वम् । न च भविष्यद्वस्तु दूषयितुं युक्तम् अनुत्पन्नत्वादेव । तदपि बुद्ध्यारोपितं दूष्यत इति चेत्, बुद्ध्यारोपितत्वादेव भविष्यत्वहानिः । अतो भूतकालोन्मेषात् परोक्ष्याद्विशिष्टाद्यतनत्वप्रतिभानाभावाच लिटा प्रयोगः कृतः -जगदुरिति

- ध्व. पृ. 12

ध्वनिकार ने अभाववादियों के तीन विकल्प प्रस्तुत किये हैं ।

<u>प्रथम विकल्प</u> – कुछ अभाववादी आचार्यों का मत है कि "काव्य का शरीर शब्द और अर्थ है" यह तो सर्वमान्य है । शब्द को चमत्कृत करने वाले अलंकार तथा गुण में ही समस्त चारुत्व निहित हैं। ऐसी स्थिति में इन सबसे पृथक् ध्वनि कोई वस्तु नहीं है । शब्द के माध्यम से सौन्दर्य बढ़ाने वाले चारुत्व हेतु अनुप्रासादि प्रसिद्ध है । अर्थगत चारुत्व हेतु उपमादि भी प्रसिद्ध है । वर्णों की विशिष्ट संघटना से चारुत्व निष्पन्न करने वाले माधुर्य आदि गुण भी प्रतीत होते हैं । वृत्तियां, रीतियां भी गुणालंकारों में अन्तर्भूत हो जाती हैं । उद्‌भट के द्वारा प्रतिपादित उपनागरिका आदि वृत्तियां अनुप्रास की जाति रूप होने के कारण अनुप्रास अलंकार से भिन्न नहीं हैं । वामन द्वारा निरूपित रीतियां गुण–विशिष्ट पदरचनारूप होने के कारण गुणों से भिन्न नहीं हैं । इस प्रकार काव्य के चारुत्व हेतु सभी तत्व प्रस्तुत कर दिये गये तो इससे व्यतिरिक्त इस ध्वनि का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता । यदि ध्वनिवादी कहें कि जिस प्रकार वृत्ति, रीति को चारुत्व हेतु माना गया है उसी प्रकार ध्वनि को भी मान लेना चाहिये, किन्तु अभाववादी गुणालंकार में ही वृत्ति रीति का अन्तर्भाव मानते हैं और इससे व्यतिरिक्त कोई चारुत्व हेतु उनकी दृष्टि में है ही नहीं अतएव ध्वनि इनको मान्य नहीं है ।[1]

<u>द्वितीय विकल्प</u> – अभाववादियों के दूसरे वर्ग का मत यह है कि ध्वनि है ही नहीं, क्योंकि काव्य की सीमा में परम्परागतमार्ग से व्यतिरिक्त काव्य का कोई प्रकार समाहित नहीं हो सकता । प्रसिद्ध प्रस्थान है – शब्द, अर्थ, गुण, अलंकार । उपर्युक्त प्रस्थान से भिन्न कोई मार्ग नहीं है जिसमें काव्य का लक्षण घटित हो। अतएव प्रसिद्ध प्रस्थान से व्यतिरिक्त ध्वनि में काव्यत्व स्वीकार करने पर काव्यत्व की हानि होगी । काव्य का लक्षण है – सहृदयों को आनन्द देने वाले शब्द और अर्थ से युक्त होना

1– तत्र केचिदाचक्षीरन् – शब्दार्थशरीरन्तावत्काव्यम् । तत्र च शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव । अर्थगताश्चोपमादयः । वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते । तदनतिरिक्तवृत्तयो ऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः , ता अपि गताः श्रवणगोचरम् । रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः । तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति ।

– ध्व. प्र. उ. पृ. 17

अर्थात् शब्द और अर्थ का ऐसा सुन्दर समायोजन जिससे सहृदयों के हृदय को आनन्द मिले । यदि ध्वनि सिद्धान्त के अनुभवी कतिपय सहृदयों की कल्पना करके ध्वनि में काव्य-व्यवहार प्रवर्तित हो जाये तो भी यह ध्वनि समस्त विद्वानों का मनोग्राह्य नहीं बन सकती । क्योंकि यह तो उसी प्रकार हुआ जैसे कोई विद्वान् "खड्ग लक्षण करूंगा" यह प्रतिज्ञा करके कहने लगे कि "जो लम्बा चौड़ा है, तह किया हो, देह को ढकने वाला हो, सकुमार हो, रंग बिरंगे तन्तुओ वाला हो, फैलाया, समेटा जा सके, उसे खड्ग कहते हैं और दूसरे व्यक्ति के यह कहने पर कि ऐसा खड्ग नहीं होता, ऐसा तो वस्त्र होता है" वह अपनी ही बात पर अटल रहे और कहे कि मुझे ऐसा ही खड्ग अभिप्रेत है । अतएव कहने का तात्पर्य है कि कुछ लोगों की उन्मत्तता ही प्रकट होगी, कुछ सिद्ध नहीं हो सकता । 1

तृतीय विकल्प - ध्वन्यभाववादियों के तृतीय वर्ग का मत यह है कि ध्वनि नाम की कोई अपूर्व वस्तु सम्भव नही हैं। यह ध्वनि रमणीयता का अतिक्रमण तो करता नहीं जो इसे पृथक् रूप में उपन्यस्त किया जाये । अतएव उसका रमणीयताहेतुओ (शब्द, अर्थ, गुण, अलंकारादि) में अन्तर्भाव हो जाता है और यदि पूर्वोक्त चारूत्व हेतुओ में से ही किसी का नाम ध्वनि रखा है तो यह अति तुच्छ कथन है । इस प्रकार अभाववादी ध्वनि को अपूर्व, विलक्षण वस्तु मानने के लिये बिल्कुल तैयार नहीं है । यदि ध्वनिवादी कहें कि वाणी के अनन्त विकल्प होने से, कथन शैली के अनन्त होने से ध्वनिसंज्ञक वाग्विच्छित्तिरूप कोई भेद सम्भव भी हो सकता है

1-(क) अन्ये ब्रूयुः - नास्त्येव ध्वनिः । प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यत्वहानेः सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम् । न चोक्तप्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य तत्सम्भवति । न च तत्समयान्तःपातिनः सहृदयान् कांश्चित्परिकल्प्य तत्प्रसिद्धया ध्वनौ काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते ।

- ध्व. पृ. 23

(ख) यथाहि खड्गलक्षणं करोमीत्युक्त्वा आतानवितानात्मा प्रावियमाणः सकलदेहाच्छादकः सुकुमारश्चित्रतन्तुविरचितः संवर्तनविवर्तनसहिष्णु-रच्छेदकः सुच्छेद्य उत्कृष्टःखड्ग इति ब्रुवाणःपरैःपटः खल्वेवंविधो भवति न खड्ग इत्युक्ततया पर्यनुपयुज्यमान एवं ब्रूयात् - ईदृश एव खड्गो ममाभिमत इति तादृगेवैतत् ।

- ध्व. लोचन पृ. 25

इसका उत्तर अभावादियों की ओर से यह है कि जिसे प्रसिद्ध काव्यलक्षणकारों भामह आदि आचार्यों ने परिगणित नहीं किया है उस छोटे से प्रकार को "ध्वनि" कह कर असत्य सहृदयता से नेत्र बन्दकर नाचने में कोई औचित्य नहीं है । ध्वनि का स्वाभाविक रूप से ही गुण, अलंकार में ग्रहण हो जाता है क्योंकि आचार्य वामन का मत है – "काव्यशोभाया: कर्तारो गुणा: तदतिशयहेतवस्त्वलंकारा:" ऐसी स्थिति में शोभाकारक होने पर ध्वनि का अन्तर्भाव गुण में तथा उसके अतिशय का हेतु मानने पर अलंकार में हो जायेगा ।

इस प्रकार अभाववादियों के मत में ध्वनि केवल प्रवादमात्र है ।[1]

<u>भाक्तवाद</u> – ध्वनिविरोधकों में कुछ लोग व्यञ्जना को लक्षणा में अन्तर्भूत मानते हैं, ऐसी धारणा वाले एक समूह को भाक्तवादी कहा गया है । लोचनकार के अनुसार "भक्ति" शब्द का अर्थ लक्षणा है ।[2] भक्ति शब्द से आलंकारिकों द्वारा स्वीकृत शुद्धा तथा गौणी दोनों प्रकार की लक्षणा का बोध होता है । अतएव जो भक्ति अर्थात् लक्षणा को ही मुख्य रूप से स्वीकार कर उसका ही एक मात्र प्रभुत्व स्वीकार करते हैं ऐसे लोग भाक्त कहलाते हैं ।

इन विरोधी आचार्यों के लिये ही आनन्दवर्धन ने "भाक्तमाहुस्तमन्ये" कहकर भाक्तवाद का उल्लेख किया है । यद्यपि व्यञ्जना की आधारशिला सुदृढ़ करने के लिये ध्वन्यालोककार ने पूर्वपक्ष के रूप में सम्भावित आलोचनायें की हैं किन्तु भाक्तवाद के सन्दर्भ में "आहु:" यह लट् प्रयोग किया है, उसका अर्थ है कि व्यञ्जना का कट्टर विरोध करने वालों में भाक्तवाद केवल कल्पना मात्र ही नहीं अपितु व्यञ्जना को निर्मूल करने में

1– पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयु: – न सम्भवत्येव ध्वनिर्नामापूर्व: कश्चित् । कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तेष्वेव चारुत्व हेतुष्वन्तर्भावात् तेषामन्यतमस्यैव वा अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे यत्किञ्चन कथनं स्यात् ।
– ध्व. पृ. 26

2– भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यत इति भक्तिधर्मोऽभिधेयेन समीप्यादि:, तत आगतो भाक्तो लाक्षणिकोऽर्थ: ।
– ध्व. पृ. 30–31

सर्वाधिक क्रियाशील था ।[1]

ध्वन्यालोककार के पूर्ववर्ती आचार्य उद्‌भट, वामन आदि ने अपने ग्रन्थों में लक्षणा का महत्व स्वीकार किया है ।[2] किन्तु उपर्युक्त आचार्यों ने कहीं भी व्यञ्जना का विरोध स्पष्ट शब्दों में नहीं किया है । वे लक्षणा से उत्पन्न लक्ष्यार्थ के प्रयोजन की प्रतीति के लिये व्यञ्जना को स्वीकार नहीं करते । वे मुख्य और अमुख्य इन दो अर्थों को ही स्वीकार करते हैं और इसी अमुख्य अर्थ में व्यङ्‌ग्यार्थ आदि का भी अन्तर्भाव कर लेते थे । इस प्रकार वे लक्ष्यार्थ में ही व्यङ्‌ग्यार्थ का अन्तर्भाव मानते हैं ।

परवर्ती भाक्तवादों में सर्वप्रथम मुकुलभट्ट का नाम गणनीय है । इनकी "भक्ति" पक्ष में अटूट श्रद्धा थी और इन्होंने बलात् व्यङग्यार्थ में लक्षणा के हेतुओ को ढूंढ़-ढूंढ़ कर व्यञ्जना को निष्फल करने का प्रयत्न किया है । यद्यपि आचार्य आनन्दवर्धन ने भाक्तवादी आचार्यों में किसी का नाम्ना उल्लेख नहीं किया है किन्तु "अन्ये" कह कर उन सभी आचार्यों को समाहित कर दिया है । एकावलीकार विद्याधर ने अपने ग्रन्थ में भाक्तवादी कुन्तक का भी उल्लेख किया है ।[3]

ध्वनि शब्द की पांच व्युत्पत्तियां बतायी गई हैं । भाक्तवादी आचार्यों की धारणा है कि "ध्वनतीति ध्वनिः", ध्वन्यते इति ध्वनिः अथवा "ध्वननम् ध्वनिः" ये व्युत्पत्ति मानी जाये तब भी यह लक्षणा व्यापार के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है । "गङ्‌गायां घोषः" इस उदाहरण में तट रूप लक्ष्यार्थ साक्षात् गङ्‌गा शब्द से नहीं कहा गया है, किन्तु गङ्‌गा शब्द से अभिहित प्रवाहरूप मुख्यार्थ से सामीप्यादि सम्बन्ध से युक्त तट रूप लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है । जिस प्रकार व्यञ्जना व्यापार में शब्द, अर्थ का आश्रयत्व होता है और उससे व्यङ्‌ग्यार्थ की प्रतीति होती है उसी प्रकार लक्षणा भी शब्द और अर्थ का आश्रय लेकर तटरूप अर्थ की प्रतीति

1- भाक्तवादस्त्वविच्छिन्नः पुस्तकेष्वभिप्रायेण भाक्तमाहुरिति । नित्यप्रवृत्तवर्तमानापेक्षयाभिधानम् ।

- ध्व. लो. पृ. 30

2- "शब्दानामभिधानमभिधा व्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च" इति । वामनोऽपि "सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः" इति ।

- ध्व. लो. पृ. 34

3- एतेन यत् कुन्तकेन - - - प्रत्याख्यातम् । - एकावली

कराती है । "ध्वनतीति ध्वनिः" इस व्युत्पत्ति के आधार पर जो शब्द की व्यञ्जकता दिखाई गई है वह लाक्षणिक ﴾गङ्.गा﴿ शब्द के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। "ध्वन्यते इति ध्वनिः" के आधार पर जो व्यङ्.ग्यार्थ की व्यञ्जकता दिखाई है वह तट रूप लक्ष्यार्थ से बढ़कर कुछ नहीं है । "ध्वननमिति ध्वनिः" के आधार पर जो चतुर्थ कक्ष्यानिवेशी व्यञ्जनाव्यापार माना गया है वह भी लक्षणा से अतिरिक्त नहीं है वरन् उसका अन्तर्भाव उसी लक्षणा में हो जाता है । मुख्यार्थ का बोध तो अभिधा द्वारा सर्वमान्य है किन्तु अमुख्यार्थ का बोध लक्षणामात्र से ही होता है, उससे व्यतिरिक्त व्यञ्जना व्यापार की कल्पना करना संगत नहीं है ।[1] इस प्रकार भाक्तवादियों ने कई प्रकार के तर्क देकर लक्षणा और व्यञ्जना को एक ही कक्षा में निविष्ट करने की चेष्टा की है । उनके विचार से जब लक्षणा ही सारे अमुख्य अर्थों की प्रतीति कराने में सक्षम है तो व्यञ्जना व्यापार की क्या आवश्यकता ?

अभिधामात्र के क्षेत्र से हटकर तथा अर्थान्तर की सत्ता को स्वीकार कर भाक्तवादियों ने ध्वनिदिशा का कुछ उन्मीलन अवश्य किया किन्तु ध्वन्यर्थ का अन्तर्भाव भक्ति में ही कर दिया ।[2]

<u>अनिर्वचनीयतावाद</u> – अनिर्वचनीयतावादियों के अनुसार ध्वनि का लक्षण बन ही नहीं सकता, वे ध्वनि को वाणी की शक्ति से परे अर्थात् अनिर्वचनीय एवं सहृदयसंवेद्यमात्र मानते हैं ।[3] अतएव जिसका लक्षण ही नहीं हो सकता उसे स्वीकार भी कैसे किया जा सकता है ।

1– एतदुक्तं भवति – ध्वनतीति वा ध्वन्यत इति वा, ध्वननमिति वा यदि ध्वनिः, तथाप्युपचरितशब्दार्थव्यापारातिरिक्तो नासौ कश्चित् । मुख्यार्थे ह्यभिधैवेति पारिशेष्यादमुख्य एव ध्वनिः, तृतीयराश्यभावात् ।

– ध्व. लो. पृ. 33–34

2– यद्यपि च ध्वनिशब्दसंकीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित्प्रकारः प्रकाशितः, तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति ।

– ध्व. पृ. 34

3– केचित्पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः ।

– ध्व. पृ. 35

लोचनकार ध्वनिवाद के तीन पूर्वपक्षियों को उत्तरोत्तर भव्य बुद्धिवाला कहते हैं । अभाववादी में सबसे अधिक निकृष्ट कोटि के वे लोग हैं जो ध्वनि को सर्वथा अस्वीकार करते हैं । उनसे श्रेष्ठ वे हैं जो ध्वनि को मानते तो हैं किन्तु काव्य से असम्बद्ध मानते हैं । उनसे भी श्रेष्ठ वे हैं जो ध्वनि को काव्य से सम्बद्ध मानकर भी उसका अन्तर्भाव अन्यत्र करते हैं । ये समस्त अभाववादी विपर्ययमूलक होने के कारण निम्नकोटि के हैं । भाक्तवादी मध्यमश्रेणी के हैं क्योंकि वे ध्वनि को समझते हैं किन्तु उसका अन्तर्भाव ऐसे स्थान पर कर देते है जहां उसका अन्तर्भाव सम्भव नहीं है । अनिर्वचनीयतावादी उसका अन्तर्भाव कहीं नहीं करना चाहते किन्तु वे लक्षण बनाना नहीं जानते अतएव ये सर्वश्रेष्ठ हैं ।[1]

1- एते च त्रय उत्तरोत्तरं भव्यबुद्धयः । प्राच्या हि विपर्यस्ता एव सर्वथा । मध्यमास्तु तद्रूपं जानाना अपि सन्देहेनापह्नुवते । अन्यास्त्वनपह्नुवाना अपि लक्षयितुं न जानत इति क्रमेण विपर्याससन्देहाज्ञानप्राधान्यमेतेषाम् ।

— ध्व. लो. पृ. 36

पंचम अध्याय

समर्थकों द्वारा व्यञ्जना रक्षार्थ प्रयुक्त युक्तियों का आलोचनात्मक अध्ययन

भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा में आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता और व्यञ्जना वृत्ति की निर्भ्रान्त स्थापना महती उपलब्धि है। शब्द और अर्थ के शाश्वत सम्बन्ध के विषय में सभी विद्वान एकमत हैं। व्यञ्जना वृत्ति शब्द के सभी सम्भावित अर्थों के आयाम उन्मीलित करती है। मुख्य तथा गुण-वृत्ति की मर्यादा का अतिक्रमण करके व्यञ्जना ही व्यङ्ग्यार्थ का द्योतन करने में सक्षम है। आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा संस्थापित ध्वनि - सिद्धान्त का आधार व्यञ्जना व्यापार की धारणा है। ध्वन्यालोक इस विषय का सर्वप्रथम ग्रन्थ रत्न है इस ग्रन्थ में व्यङ्ग्यार्थ और व्यञ्जना की सिद्धि के उद्धेश्य में आचार्य आनन्दवर्धन पूर्ण रूप से सफल हुये हैं। यद्यपि व्यञ्जना का आधार व्याकरण से प्राप्त हो गया था किन्तु उसकी स्थापना करना एक दुर्लभ कार्य था। अतएव आनन्दवर्धन को व्यञ्जनालभ्यप्रतीयमानार्थ की निर्विवाद सिद्धि के लिये पर्याप्त तर्कों को आश्रय लेना पड़ा। चूंकि अब तक केवल अभिधा, लक्षणा और तात्पर्या वृत्तियां ही शक्ति के रूप में मान्य थीं अतएव व्यङ्ग्यार्थ को वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा तात्पर्यार्थ से व्यतिरिक्त सिद्ध कर उसके स्वरूप का सम्यक् निरूपण भी आचार्य आनन्दवर्धन को करना था।

वस्तुतः ध्वनि - सिद्धान्त का आधार व्यञ्जना है, अतएव व्यञ्जना की सिद्धि ध्वनि की सिद्धि है इसलिये विरोधियों ने भी व्यञ्जना का ही विरोध किया। चूंकि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का प्रमुख विचारणीय विषय है - व्यञ्जना रक्षार्थ प्रयुक्त युक्तियों का आलोचनात्मक अध्ययन। अतएव व्यञ्जना - खण्डनात्मक युक्तियों के पर्यवेक्षण के पश्चात् प्रस्तुत अध्याय में विविध आचार्यों द्वारा व्यञ्जना - रक्षार्थ प्रयुक्त युक्तियों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

आनन्दवर्धन -

आचार्य आनन्दवर्धन काव्य - जगत के एक क्रान्तिकारी किन्तु तत्वदर्शी मनीषी थे। सामान्यतः यह देखा जाता है कि सम्प्रदाय - प्रवर्तक क्रान्तिकारी के प्रति यह लोक उदासीन ही नहीं अपितु द्वेषदर्शी

होता है, अतएव ध्वनिकार को भी ऐसे द्वेषदर्शियों का सामना करना पड़ा होगा । इसका प्रमाण मनोरथ की निम्न पंक्तियां हैं :-

यस्मिन्नास्ति न वस्तु किन्चन मनःप्रह्लादि सालड्.कृति
व्युत्पन्नैः रचितं च नैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यम् च यत् ।
काव्यं तद्ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसञ्जडो
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः ।। [1]

विरोधियों की इस तरह की ललकार के कारण ही आनन्दवर्धन ने व्यड्.ग्यार्थ एवं व्यञ्जना को निर्विवाद सिद्ध करने का बीड़ा उठाया और ध्वनि - सिद्धान्त को सुव्यवस्थित रूप दिया ।

जैसा कि पूर्व अध्याय में देखा जा चुका है कि ध्वनिकार ने कल्पित पूर्व पक्ष में सर्वप्रथम अभाववादियों के तीन विकल्प प्रस्तुत किये हैं, अतएव आचार्य कटिबद्ध होकर सर्वप्रथम अभाववादी आचार्यों की विरोधपूर्ण युक्तियों का ही खण्डन करते हैं ।

अभाववादियों का प्रथम वर्ग मूलतः अभिधावादी है, अतएव आचार्य ने सर्वप्रथम वाच्यार्थ और व्यड्.ग्यार्थ का पार्थक्य प्रदर्शित किया है । आचार्य के अनुसार प्रतीयमान अर्थ वाच्य - सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर वस्तु, अलड्.कार और रसादि अनेक भेदों में विभक्त होता है । इन समस्त भेदों में प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न होता है ।[2]

उदाहरण कहीं जब वाच्यार्थ विधिरूप होता है तो व्यड्.ग्यार्थ निषेधरूप होता है -

भ्रम धार्मिक विश्रब्ध स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदावरीनदीकूललतागहनवासिना दृप्तसिंहेन ।। [3]

---

1. ध्व. प्र. उ. पृ. 29
2. स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रमलड्.काररसादयश्चेत्यनेक - प्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते । सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु वाच्यादन्यत्वम् ।
ध्व. पृ. 73
3. ध्व. पृ. 77

यह किसी पुंश्चली का कथन है - जिसे अपने सङ्केत स्थान पर नित्य एक धार्मिक का भ्रमण स्वीकार्य नहीं है क्योंकि वह उसकी प्रेम - लीला में बाधक है । वह धार्मिक प्रायः एक कुत्ते से भयभीत रहता है । नायिका चाहती है कि यदि वह धार्मिक गोदावरी तट पर भ्रमणार्थ न आये तो अच्छा है । अतएव वह व्यञ्जना के माध्यम से इस प्रकार कहती है - "हे धार्मिक । तुम निश्चिन्त होकर भ्रमण करो, जिस कुत्ते से तुम डरते थे, उसे तो गोदावरीनदीतट के कुञ्ज में निवास करने वाले दृप्त सिंह ने मार डाला है।" इस प्रकार वाच्यार्थ "भ्रमण करो" विधिरूप है, किन्तु प्रकरण ज्ञात होने पर सहृदयों को इससे संतुष्टि नहीं होती । उन्हें एक और ही अर्थ की प्रतीति होती है जो कि निषेधरूप (भ्रमण मत करो) है । इस प्रकार वाच्यार्थ, व्यङ्ग्यार्थ का पार्थक्य स्पष्ट है ।

कहीं व्यङ्ग्यार्थ निषेधरूप होता है तो वाच्यार्थ विधिरूप होता है । यथा -

श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय ।
मा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायामावयोः शयिष्ठाः ।।

कोई पथिक रात्रि - निवास के लिये रुकना चाहता है । अकस्मात् उसकी दृष्टि नवयुवती पर पड़ती है जो प्रोषितपतिका है । अतएव वह कामोन्मुख हो जाता है । उसकी कामना को समझकर युवती कह रही है - " हे रात्र्यन्ध पथिक । दिन में ही देख लो । मैं यहाँ सोती हूं और मेरी सास यहाँ । ऐसा न हो कि मेरी शय्या पर आ गिरो।" इस प्रकार वाच्यार्थ तो निषेधरूप है किन्तु प्रतीयमान अर्थ विधिरूप (दिन में शय्या देख लो और आ जाना) है । आचार्य ने इसी प्रकार अन्य उदाहरण देकर (जहाँ वाच्यार्थ विधिरूप होता है और व्यङ्ग्यार्थ न तो विधिरूप और न ही निषेधरूप होता है, तथा कहीं वाच्यार्थ निषेधरूप और व्यङ्ग्यार्थ अनुभयरूप होता है) व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता सिद्ध की है । तत्पश्चात् वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के विषयगत भेद का प्रतिपादन करते हुये निम्न उदाहरण प्रस्तुत किया है -

कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम् ।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम् ।।

प्रस्तुत पद्य में वाच्यार्थ नायिका विषयक है । " अपनी प्रिया के

सव्रण अधर को देखकर किसे रोष न होगा । मना करने पर भी भ्रमरसहित पद्म को सूंघने वाली । अब सहो । "

किसी नायिका के अधर पर पुरुषोपभोगजनित व्रण है । अतएव उसकी सखी उस नायिका के पति को कहीं निकट जानकर उस नायिका के अपराध के परिहार के लिये कह रही है । अतएव व्यङ्.ग्यार्थ का विषय नायक हुआ । पति विषयक व्यङ्.ग्यार्थ हुआ कि " इस नायिका का कोई अपराध नहीं है, क्रोध सहन करो (नायिका ने अपराध नहीं किया, यह अधरक्षत भ्रमर के काटने से हुआ है, अतएव तुम अपने क्रोध को सहन करो ।) पड़ोसियों के विषय में व्यङ्.ग्य है कि वास्तव में यह अपराधिनी नहीं है, जैसा कि तुम सब नायक के उपालम्भ देने के कारण आशङ्.कित हो रही होगी । यह तो भ्रमरदंश देखकर नायक क्रोधित हो गया है । अब नायिका के अपराध को देखकर सपत्नी हर्षित हैं अतएव उनके विषय में व्यङ्.ग्य है – नायिका क्योंकि प्रियतमा है अतएव अधरक्षत को देखकर पति का क्रोधित हो उठना स्वाभाविक है । अतएव तुम अधिक प्रसन्न न हो, प्रियतमा वही रहेगी । नायिका के प्रति व्यङ्.ग्यार्थ है कि तुम्हारे अधरव्रण को देखकर नायक क्रोधित हो उठा है क्योंकि तुम उसकी प्रियतमा हो । अतएव तुम अपमानित न हो, अपितु यह सौभाग्याधिक्य है । मैंने बात सम्भाल ली है, अब शीघ्र ही नायक प्रसन्न हो जायेगा । इस प्रकार नायिका का सौभाग्य प्रख्यापन यहां व्यङ्.ग्यार्थ है उपपतिविषयक व्यङ्.ग्यार्थ होगा – तुम्हारी प्रच्छन्नानुरागिणी हृदयवल्लभा इस प्रकार बचा ली गई किन्तु भविष्य में इस प्रकार का प्रकट दन्तक्षत मत करना । सहृदय समाज के प्रति यह व्यङ्.ग्य होगा कि देखो मैं कितनी चतुर हूं । ऐसा वाक्चातुर्य तो मेरे लिये बहुत सरल है । इस प्रकार रसिक – समाज के लिये सखी के वैदग्ध्य का ख्यापन यहां व्यङ्.ग्य है ।

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों का सम्यक् निरीक्षण करने पर वाच्यार्थ व्यङ्.ग्यार्थ का भेद स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है तथा अभाववादियों का प्रथम विकल्प कि " वाच्यार्थ तक ही काव्य है " स्वतः खण्डित हो जाता है और उसके अतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ की सत्ता भी सिद्ध होती है जो कि एकमात्र व्यञ्जना द्वारा ही ग्राह्य है । यहां पर तथ्य उल्लेखनीय है कि आचार्य आनन्दवर्धन ने व्यङ्.ग्यार्थमुखेन और व्यञ्जकमुखेन व्यञ्जना व्यापार को सिद्ध किया है । अतः प्रस्तुत युक्तियां व्यङ्.ग्यार्थमुखेन व्यञ्जना की सिद्धि करती हैं । यहां तक आचार्य ने वस्तुरूप व्यङ्.ग्यार्थ का वाच्यार्थ से भेद दिखाया है । इसी प्रकार

अलंकाररूप व्यड्.ग्यार्थ भी वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त होकर भी उससे पूर्णतः पृथक् होता है, और रसरूप व्यड्.ग्यार्थ की तो बात ही क्या । वह तो कभी वाच्य हो ही नहीं सकता । आनन्दवर्धन ने बड़े ही स्पष्ट रूप से रसरूप व्यड्.ग्यार्थ को अवाच्य सिद्ध किया है । रस इत्यादि की वाच्यता दो प्रकार से सम्भव हो सकती है । एक तो श्रृड्.गारादि रस शब्द के द्वारा कहे गये हो और रस - प्रतीति हो जावे । दूसरे विभावादि प्रतिपादन द्वारा ।

यदि प्रथम पक्ष स्वीकार करे तो जहां रस आदि शब्द का प्रयोग नहीं होगा वहां रस - प्रतीति नहीं होगी और इसके विपरीत जहां रस की प्रतीति होती है वहां सर्वत्र श्रृंगारादि रसों का शब्दतः कथन होना चाहिये । उदाहरणार्थ -

§1§ जाता लज्जावती मुग्धा प्रियस्य परिचुम्बने ।

§2§ अजायत रतिस्तस्यास्त्वयि लोचनगोचरे ।

उपर्युक्त वाक्यों में रति, लज्जा आदि शब्दों के विद्यमान होने पर भी अलौकिक चमत्कारजनक रसादि की प्रतीति नहीं होती । जहां कहीं श्रृड्.गारादि शब्दों का प्रयोग होता भी है वहां रस - प्रतीति विभावादिप्रतिपादन से ही होती है । शब्दतः तो केवल वह अनूदित होती है । केवल श्रृड्.गारादि शब्द के कथन से और विभावादिप्रतिपादन से रहित काव्य में थोड़ी सी भी रस - प्रतीति नहीं होती और बिना श्रृड्.गारादि शब्द के प्रयोग के केवल विभावादि के प्रतिपादन से ही रसादिकों की प्रतीति अवश्यम्भावी है । इस प्रकार अन्वय - व्यतिरेक से यह सिद्ध हो गया कि रसादि कभी वाच्य नहीं हो सकते ।

इस प्रकार रसरूप व्यड्.ग्यार्थ भी वाच्यार्थ से सर्वथा पृथक् होता है एवं वाच्य - सामर्थ्य से आक्षिप्त व्यड्.ग्य ही होता है, स्वयं वाच्य नहीं । [1]

---

1. तथा हि वाच्यत्वं स्वशब्दनिवेदितत्वेन वा स्यात् । विभावादिप्रतिपादनमुखेन वा । पूर्वस्मिन् पक्षे स्वशब्दनिवेदितत्वाभावे रसादीनामप्रतीतिप्रसड्.गः । न च सर्वत्र तेषां स्वशब्दनिवेदितत्वम् । यत्राप्यस्ति तत्, तत्रापि विशिष्टविभावादिप्रतिपादनमुखेनैवेषां प्रतीतिः । स्वशब्देन सा केवलमनूद्यते, न तु तत्कृता विषयान्तरे तथा तस्या अदर्शनात् । न हि केवलश्रृड्.गारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्वप्रतीतिरस्ति यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः । केवलाच्च स्वाभिधानादप्रतीतिः । तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम् । न त्वभिधेयत्वं कथञ्चित् ।

अभाववादियों के द्वितीय विकल्प के विषय में आचार्य का उत्तर है कि अभाववादियों का यह कथन सर्वथा अनुचित है कि " प्रसिद्ध प्रस्थानों से भिन्न होने के कारण ध्वनि काव्य का अस्तित्व सिद्ध ही नहीं होता " क्योंकि लक्ष्य ग्रन्थों यथा रामायणादि की परीक्षा करने पर तो वह ध्वनि ही सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने वाला तत्व सिद्ध होता है ।[1] इससे भिन्न अर्थात् जिसमें ध्वनि नहीं है वह चित्रकाव्य है । ध्वनि को सकलकविकाव्योपनिषद्भूता कह कर आचार्य ने यह उल्लेख किया है कि कतिपय व्यक्तियों को सहृदय मानकर काव्य में ध्वनि का व्यपदेश नहीं किया गया है अपितु यह समस्तसत्कवियों के काव्य में उपनिषद्भूत प्रधानतत्व है तथा रामायण, महाभारत आदि काव्यों में इसका आदर किया गया है ।

> काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
> क्रौञ्चद्वन्दवियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ।।

अतएव ध्वनि केवल कतिपय व्यक्तियों को मान्य नहीं है अपितु प्राचीनकाल से ही इसका महत्व है ।

अभाववादियों का तीसरा विकल्प है कि यदि ध्वनि रमणीयता का अतिक्रमण नहीं करता तो पूर्वोक्त चारुत्व हेतु यथा अलङ्.कारादि में उसका अन्तर्भाव हो सकता है ।

आचार्य इस युक्ति को भी उचित नहीं मानते और यह सिद्ध करते हैं कि वाच्य - वाचक भाव पर आश्रित अलङ्.कार में व्यङ्.ग्य-व्यञ्जक भाव पर आश्रित ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं सम्भव हो सकता है । अलङ्.कार आदि तो इस ध्वनि के अङ्.ग हैं, ध्वनि तो अङ्.गी है ।

---

1. "प्रसिद्धप्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य काव्यत्वहानेर्ध्वनिर्नास्ति" इति तदप्युक्तम् यतो लक्षणकृतामेव स केवलं न प्रसिद्धः लक्ष्ये तु परीक्ष्यमाणे स एव सहृदयाह्लादकारिकाव्यतत्वम् ततो अन्यच्चित्रम् ।
ध्व. पृ. 105

ऐसी स्थिति में अलङ्.कार में ध्वनि का अन्तर्भाव कैसे सम्भव है । [2]

इस प्रकार अभाववादियों की मान्यताओं के खण्डनपूर्वक आचार्य आनन्दवर्धन ध्वनि की परिभाषा इस प्रकार करते हैं –

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्.क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ।।

जहां अर्थ स्वयं को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत कर उस व्यङ्.ग्यार्थ को अभिव्यक्त करते हैं, वह काव्य – विशेष विद्वानों के द्वारा " ध्वनि " इस नाम से अभिहित किया गया है ।

अलङ्.कार में ध्वनि का अन्तर्भाव करने वाले अभाववादियों का कथन है कि जहां प्रतीयमानार्थ की विशदता से प्रतीति नहीं होती, वहां भले ही ध्वनि न माना जाय, किन्तु जिन अलङ्.कारों में प्रतीयमान अर्थ की विशद प्रतीति होती है उनमें तो ध्वनि का अन्तर्भाव हो ही सकता है इस शङ्.का का निराकरण करते हुये आनन्दवर्धन कहते हैं कि जहां अर्थ अपने स्वरूप को और शब्द अपने वाच्यार्थ को गौण बनाकर अन्य अर्थ को अभिव्यक्त करता है, वहां ध्वनि है । इसलिये समासोक्ति आदि अलङ्.कारों में प्रतीयमानार्थ के रहते हुये भी प्रधानता वाच्यार्थ की ही होती है, अतएव उसमें ध्वनि का अन्तर्भाव असम्भव है । इसके बाद आचार्य आनन्दवर्धन एकैकशः यह सिद्ध करते हैं कि अलङ्.कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता और इस प्रकार अपने कथन को प्रमाणित करते हैं ।

---

1. (क) यदप्युक्तम् – "कामनीयकमनतिवर्तमानस्यतस्योक्तालंकारादिप्रकारेष्वेवान्तर्भावः" इति, तदप्यसमीचीनम्, वाच्यवाचकमात्राश्रयिणि प्रस्थाने व्यङ्.ग्यव्यञ्जकसमाश्रयेण व्यवस्थितस्य ध्वनेः कथमन्तर्भावः, वाच्यवाचकचारुत्वहेतवो हि तस्याङ्.गभूताः स त्वङ्.गिरूप एवेति ।

ध्व. पृ. 107

2. (ख) व्यङ्.ग्यव्यञ्जकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वनेः ।
वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वन्तःपतिता कुतः ।।

ध्व. पृ. 108

सर्वप्रथम समासोक्ति अलङ्.कार का उदाहरण द्रष्टव्य है -

उपोढरागेण विलोलतारकं, तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया, पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम् ।।

परिवृद्ध राग ‡लाली अथवा प्रेम‡ से परिपूर्ण चन्द्र ने "विलोल तारागणों ‡नक्षत्रों अथवा पुतलियों‡ वाले रजनी के मुख को ‡प्रारम्भ अर्थात् प्रदोष अथवा मुख‡ इस प्रकार पकड़ लिया कि रागवश ‡लाली के कारण अथवा प्रेम के कारण‡ उसका ‡नायिका रूपी रात्रि का‡ तिमिर रूपी अंशुक सामने ही गिर गया किन्तु वह जान भी न सकी ।

समासोक्ति का लक्षण आचार्य भामह ने इस प्रकार किया है -

यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानैर्विशेषणैः ।
सा समासोक्तिरुदिता संक्षिप्तार्थतया बुधैः ।।

पूर्वोक्त उद्धरण में "उपोढरागेण" , "विलोलतारकं ", "रागात्" , "गलितं" , "तिमिरांशुकं" , "पुरतः" , " निशामुखम् " आदि श्लिष्ट विशेषणों द्वारा रात्रि और नायिकारूपी दो अर्थों की प्रतीति हो रही है, किन्तु नायक - नायिका रूप व्यङ्.ग्यार्थ प्रधान न होकर वाच्यार्थ का उपस्कारक है । विवक्षित होने के कारण वाच्यार्थ ही प्रधान है । यहां वाच्यार्थ रात्रि तथा चन्द्रपरक है । नायक - नायिका का व्यवहार समारोपित होकर उसका चारुत्व बढ़ा रहा है । अतः चारुत्वाधायक होने के कारण उपस्कारकत्वात् गौण है । अतः जब वह प्रतीयमान प्रधान ही नहीं रहा तो यह पद्य " ध्वनि " संज्ञाभाजन कैसे बन सकता है । क्योंकि " ध्वनि " ‡ प्रतीयमान अर्थ ‡ का प्राधान्य होने पर ही ध्वनि काव्य होता है । इस प्रकार समासोक्ति अलङ्.कार में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता ।

अथ आक्षेप अलङ्.कार का उदाहरण द्रष्टव्य है--

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः ।
अहो दैवगतिः कीदृक्तथापि न समागमः ।।

यहां पर यद्यपि वाच्यार्थ से नायिका रूप व्यङ्.ग्यार्थ विशेष का आक्षेप किया गया है फिर भी चारुत्व वाच्यार्थ में ही है क्योंकि प्रधान

वाक्यार्थ की पूर्ति आक्षेपोक्ति की शक्ति से ही होती है । वाच्यार्थ और व्यड्.ग्यार्थ में प्रधानता उसी की मानी जाती है जो सौन्दर्य में कारण हो । इस प्रकार आक्षेप अलड्.कार भी ध्वनि नहीं हो सकता ।[1]

दीपक और अपहनुति अलड्.कार में उपमा की व्यड्.ग्य रूप में प्रतीति होती है किन्तु यहां भी उसकी प्राधान्येन विवक्षा नहीं है । यदि उपमा अलड्.कार का ही प्राधान्य होता तो फिर इसे उपमा अलड्.कार ही क्यों न कहा जाता । चारुत्व का पर्यवसान उपमा में न होकर दीपन और अपह्नव में होता है । यथा दीपक अलड्.कार के अधोलिखित उदाहरण में –

मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिदलितः
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालललना ।
मदक्षीणो नागः शरदि सरितः श्यानपुलिनाः
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु जनाः ।।

यद्यपि उपमानोपमेयभाव व्यड्.ग्य है किन्तु चारुत्व दीपन में ही है । " दीपक " इस नाम से कहा जाना ही उपमा के अप्राधान्य का प्रमाण है ।

अपहनुति के भामहोक्त उदाहरण –

नेयं विरौति भृड्.गाली मदेन मुखरा मुहुः ।
अयमाकृष्यमाणस्य कन्दर्पधनुषो ध्वनिः ।।

में " भ्रमरपंक्ति कामदेव के धनुष की प्रत्यञ्चा के समान है " यह उपमा व्यड्.ग्य है किन्तु सौन्दर्य उपमा में न होकर अपहनुति में है । इस प्रकार दीपक, अपहनुति में भी ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता क्योंकि यहां व्यड्.ग्य उपमा प्रधान नहीं है अपितु वाच्य दीपन तथा अपह्नव ही प्रधान है ।

---

1. आक्षेपेऽपि व्यड्.ग्यविशेषाक्षेपिणोऽपि वाच्यस्यैव चारुत्वं प्राधान्येन वाक्यार्थं आक्षेपोक्तिसामर्थ्यादेव ज्ञायते । तथाहि–तत्र शब्दोपारूढो विशेषाभिधानेच्छया प्रतिषेधरूपो य आक्षेपः स एव व्यड्.ग्यविषेषमाक्षिपन्मुख्यं काव्यशरीरम् । चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यड्.ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा ।

– ध्व. पृ. 111–114

पर्यायोक्त कहा जाता है । यह लक्षण - वाक्य है । लक्षण में अभिधीयते " पद से यह सिद्ध होता है कि व्यड्.ग्यार्थ की प्रधानता पर्यायोक्त में नहीं है । इसके अतिरिक्त पर्यायोक्त एक अलड्.कार है । अलड्.कार का सामान्य लक्षण है " जो दूसरे को अलड्.कृत करे । " यदि उसमें व्यड्.ग्य प्रधान होगा तो वह अलड्.कार्य हो जायेगा अतएव उसमें ध्वनि का अन्तर्भाव मानना सर्वथा असंगत होगा ।

यदि पूर्वपक्षी दुराग्रहवश यह कहे कि अभिधीयते का अर्थ "प्रधानरूप से प्रतीत होता है अतएव प्राधान्येन प्रतीत होने वाले अर्थ को पर्यायोक्त कहा जाये तथा "भ्रम धार्मिक" को पर्यायोक्त का उदाहरण मान लें तो इस अलड्.कार की अलड्.कारिता नष्ट हो जायेगी तथा ध्वनि का स्थल होने के कारण "आत्मरूप" हो जायेगा । पुनः इसकी अलड्.कार के मध्य गणना नहीं होगी ।" अतएव आचार्य आनन्दवर्धन ने यह पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि यदि पर्यायोक्त में व्यड्.ग्यार्थ प्रधान होगा तो उसका अन्तर्भाव ध्वनि में हो जायेगा और उसकी अलड्.काररूप में सत्ता नष्ट हो जायेगी, किन्तु ध्वनि का पर्यायोक्त में अन्तर्भाव नहीं हो सकता क्योंकि ध्वनि का क्षेत्र अतिविस्तृत एवं व्यापक है तथा अलड्.कार, गुण, रीति आदि सभी की प्रतिष्ठा का स्थान है । अलड्.कार कदापि व्यापक एवं अड्.गी नहीं हो सकता, अपितु वह जिसे अलड्.कृत करता है वह अड्.गी बनता है । अतएव अलड्.कार अड्.ग ही है । यदि पूर्वपक्षी फिर भी पर्यायोक्त में प्रतीयमानार्थ की व्यापकता और अलंकार्यता स्वीकार करता है तब तो उसने ध्वनि स्वीकार ही कर लिया, भले ही उसे ध्वनि न कह कर पर्यायोक्त कह रहा है । अलड्.कार प्रस्थान के संस्थापक आचार्य द्वारा दिये गये लक्षण के अनुसार पर्यायोक्त के अन्य उदाहरणों की कल्पना करनी पड़ेगी, क्योंकि भामह के उदाहरण में व्यड्.ग्यार्थ की प्रधानता नहीं है ।

भामह ने पर्यायोक्त का यह उदाहरण दिया है -

"गृहेष्वध्वसु वा नान्नं भुञ्ज्महे यदधीतिनः ।
विप्रा न भुञ्जते ।"

रत्नाहरण का प्रसड्.ग है - जब भगवान कृष्ण शिशुपाल के यहाँ जाते हैं तो शिशुपाल ने उनके लिये भोजन की व्यवस्था की है किन्तु भगवान शत्रु के यहाँ भोजन में कहीं विष न हो, ऐसी शड्.का कर कहते

हैं कि "हम लोग जो अन्न अभीति ब्राह्मण नहीं खाते उसे घरों में या मार्गों में नहीं खाते ।" स्वयं भामह ने लिखा है कि " तच्चरस-दाननिवृत्तये " अर्थात् ये वचन विषदान की निवृत्ति के उद्देश्य से कहे गये हैं, किन्तु इसमें कोई चारुत्व न होने के कारण इसमें प्राधान्य की शङ्.का करना निर्मूल है । सौन्दर्य की प्रतीति तो उस वाच्यार्थ में ही है कि विषयुक्तभोजन की आशङ्.का के कारण भगवान किस तरह अन्य प्रकार से वचन भंगिमा से उसका निषेध कर रहे हैं । इस प्रकार पर्यायोक्त को अलङ्.कार मानना ही अभीष्ट है ।

आचार्य ने सङ्.कर अलङ्.कार के प्रसङ्.ग में भी बड़ी तर्कपूर्ण युक्ति से ध्वनि का अङ्.गत्व बनाये रखने का प्रयास किया है । सङ्.कर अलङ्.कार में जहां एक अलङ्.कार दूसरे अलङ्.कार की छाया को ग्रहण करता है वहां प्रतीयमानार्थ की प्रधानता निरवकाश है । अतएव वह ध्वनि का विषय नहीं बन सकता । सङ्.कर अलङ्.कार के प्रथम भेद संदेह सङ्.कर में वाच्य और व्यङ्.ग्य का निश्चय नहीं हो पाता और दो अलङ्.कारों में किसे स्वीकार करें तथा किसका परित्याग करें, इस विषय में कोई साधक अथवा बाधक प्रमाण नहीं है, अतएव वाच्य और व्यङ्.ग्य की प्रधानता समान होने से यहां पर तो ध्वनि का प्रश्न ही नहीं उठता । द्वितीय भेद एकविषयानुप्रवेश सङ्.कर में व्यङ्.ग्यार्थ की सम्भावना ही नहीं क्योंकि इसमें दोनों अलङ्.कार वाच्य हैं अतएव ध्वनि का स्थल नहीं हो सकता । तृतीय भेद अर्थालङ्.कारों के एकविषयानुप्रवेश सङ्.कर में भी व्यङ्.ग्यालङ्.कार की सम्भावना नहीं । अतएव यह भी ध्वनि का विषय नहीं है । चतुर्थ भेद अङ्.गाङ्.गिभाव सङ्.कर में दो अलङ्.कारों के एक दूसरे पर आश्रित होने के कारण व्यङ्.ग्यार्थ की प्रधानता स्थापित नहीं की जा सकती । अतएव यह भी ध्वनि का विषय नहीं है ।

दूसरा तर्क आचार्य आनन्दवर्धन यह देते हैं कि सङ्.कर अलङ्.कार में तो " सङ्.कर " नामकरण ही ध्वनि पद को प्राप्त करने में अयोग्य सिद्ध होता है । सङ्.कर का अर्थ है मिश्रित होना । जहां मिश्रण होगा वहां प्रधान और गौण का पृथक्करण कैसे सम्भव है । अतएव इसे भी ध्वनि नहीं कहा जाना चाहिये ।[1]

---

1. (क) सङ्.करालङ्.कारेऽपि यदालंकारोऽलंकारान्तरच्छायामनुगृह्णाति, तदा व्यङ्.ग्यस्य प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न ध्वनिविषयत्वम् ।

ध्व. पृ. 122

(ख) अपि च सङ्.करालङ्.कारेऽपि च क्वचित् सङ्.करोक्तिरेव ध्वनिसम्भावनां निराकरोति ।

ध्व. प्र. उ. पृ. 126

अप्रस्तुतप्रशंसा में भी ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता है । [1] भामह के अनुसार प्रकरण से व्यतिरिक्त अन्य वस्तु की जो प्रशंसा की जाती है वह अप्रस्तुतप्रशंसा है । प्रस्तुत का आक्षेप तीन प्रकार से होता है । (1) सामान्य विशेष भाव से (2) निमित्त नैमित्तिक भाव से (3) स्वरूप के सादृश्य होने से। इनमें से प्रथम दो प्रकारों में वाच्य और व्यड्.ग्य (प्रस्तुत, अप्रस्तुत) की समान रूप से प्रधानता होती है अतएव ध्वनि का अन्तर्भाव इनमें नहीं हो सकता। जब वाच्य अप्रस्तुत सामान्य का प्रतीयमान प्रस्तुत विशेष के साथ सम्बन्ध होता है तो विशेष की प्रतीति होने पर भी उस विशेष से अविनाभाव से सम्बन्धित सामान्य की भी उतनी ही प्रधानता से प्रतीति होती है (क्योंकि बिना विशेष के सामान्य नहीं रह सकता इसलिये विशेष के सामान्यनिष्ठ होने पर सामान्य के साथ विशेष की भी समानरूपेण प्रतीति होती है ।) [2] इसी प्रकार दूसरे निमित्तनैमित्तिकभावमूलक भेद में भी समझना चाहिये । इस प्रकार प्रधानता और गौणता का प्रश्न ही यहाँ नहीं उठता तो ध्वनि कैसे हो सकता है। तीसरा भेद जो सादृश्यमूलक है उसके विषय में आनन्दवर्धन कहते हैं कि जब अप्रस्तुत और प्रस्तुत का सादृश्य के कारण सम्बन्ध होता है तब यदि समानरूप वाले अप्रस्तुत वाच्य की प्रधानता विवक्षित न हो तो वहाँ प्रस्तुत प्रतीयमान के प्राधान्य के कारण उसका ध्वनि में अन्तर्भाव हो जायेगा। अर्थात् अलड्.कार ध्वनि के अन्तर्गत आ जायेगा किन्तु जब यह गौण नहीं होगा तब वह अलड्.कार ही होगा। [3]

इतने विस्तृत विवेचन के बाद आचार्य ध्वनि का क्षेत्र संक्षेप में कुछ कारिकाओं में प्रस्तुत करते हैं ।

---

1. अप्रस्तुतप्रशंसायामपि यदा सामान्यविशेषभावान्निमित्तनिमित्तिभावाद्वा अभिधीयमानस्याप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनाभिसम्बन्धस्तदाभिधीय - मानप्रतीयमानयोः सममेव प्राधान्यम् । यदा तावत्सामान्यस्याप्रस्तुतस्या- भिधीयमानस्य प्राकरणिकेन विशेषेण प्रतीयमानेन सम्बन्धस्तदा विशेषप्रतीतौ सत्यामपि प्राधान्येन तत्सामान्येनाविनाभावात् सामान्यस्यापि प्रधान्यम् ।

ध्व. पृ. 128

2. यदापि विशेषस्य सामान्यनिष्ठत्वं तदापि सामान्यस्य प्राधान्ये सामान्ये सर्वविशेषाणामन्तर्भावाद्विशेषस्यापि प्राधान्यम् ।

व्यड्.ग्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः ।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालड्.कृतयः स्फुटाः ।।
व्यड्.ग्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा ।
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते ।।
तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यड्.ग्यं प्रति स्थितौ ।
ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः सड्.करोज्झितः ।।

ध्वनि अड्.गी के अभाव में गुण, रीति और अलड्.कार उसी प्रकार निरर्थक हैं जैसे आत्मा से रहित पंचतत्व शरीर। यह समस्त चारुत्व हेतु ॥ गुण, अलड्.कारादि ॥ ध्वनि की महत्ता को प्रकट करने के कारण ही सार्थक होते हैं । आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में इनकी स्थिति और कार्य – क्षेत्र स्पष्ट कर दिया है। जो अड्.गी, प्रधानभूत ध्वनि के आश्रित रहते हैं वे गुण हैं जो अंग ॥ शब्द और अर्थ ॥ के आश्रित रहते हैं वे कटकादि की भांति अलड्.कार होते हैं।[1] अतएव माधुर्यादि गुण ध्वनि के साथ अन्तरंग रूप से सम्बन्धित होते हैं जैसे शौर्यादि गुण आत्मा के गुण माने जाते हैं । अलड्.कारों की स्थिति यह है कि वे काव्य के शरीरभूत शब्द अर्थ से सम्बन्धित हैं। "अलड्.कारो हि बाहयालड्.कारसाम्यादड्गिनाश्चारुत्वहेतु-रुच्यते।[2] अलड्.कार गुण की भांति नित्य धर्म नहीं है अपितु अस्थिर धर्म है क्योंकि जहां शब्दालंकार, अर्थालंकार न हो वहां भी शब्द और अर्थ देखे जाते हैं। इसी प्रकार रीति भी अलड्.कारों के समान मुख्यतया काव्य के शरीर भूत शब्द और अर्थ की उपकारक होकर ध्वनि की उत्कर्षक बनती है। इस प्रकार ध्वनि की महाविषयता सिद्ध होती है । आनन्दवर्धन के अनुसार कल्पित काव्य-पुरुष को अगले पृष्ठ पर अंकित किया जा रहा है ।

---

1. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
   अड्.गाश्रितस्त्वलड्.काराः मन्तव्याः कटकादिवत् ।
   ध्व. 2 । 6 पृ. 216
2. ध्व. द्वि. उ. कारिका 17 की वृत्ति
   पृ. 235

काव्य-पुरुष

आत्मा – ध्वनि – (काव्यस्यात्माध्वनिः)
- –वस्तु ध्वनि.
- –अलंकार ध्वनि.
- –रस ध्वनि.

अर्थ– (सूक्ष्म शरीर)

अलंकार–
- अर्थालंकार– (शरीर के अस्थिर धर्म)
- शब्दालंकार– (शरीर के अस्थिर धर्म)

रीति– (शैली) (रचना की पद्धति विशेष)
- –वैदर्भी.
- –गौड़ी.
- –पांचाली.

शरीर– (शब्दार्थ शरीरं तावत् काव्यम्)

संघटना– (पदों के प्रयोग की दृष्टि से रचना के विभाग)
- –असमासा.
- –मध्यमसमासा.
- –दीर्घसमासा.

शब्द– (दृश्यमान शरीर)

वृत्ति– (वर्णों के प्रयोग की दृष्टि से रचना के विभाग)
- (1) पुरुषा. (पुरुषानुप्रासा) (नागरिका)
- (2) उपनागरिका. (मसृणानुप्रासा)
- (3) कोमला. (मध्यमानुप्रासा) (ग्राम्या)

गुण–
- माधुर्य (आह्लादकत्वम् माधुर्यम्)
- ओज (दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजः)
- प्रसाद (व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादः)

(चित्त की द्रुति आदि से सम्बन्धित होने के कारण ध्वन्यर्थरूप आत्मा से अन्तरंग रूपेण ही सम्बन्धित है । अतएव शौर्यादिवत् आत्मा के गुण हैं ।)

दोष– श्रुति कटुत्वादि दोष काणत्वादिवत्.

इस प्रकार अभाववादियों का तृतीय विकल्प जिसमें उनका कहना था कि "वाग्विकल्पों के अनन्त होने के कारण उन्हीं का कोई अलङ्.कार प्रकार ध्वनि है" यह मत खण्डित हो जाता है क्योंकि ध्वनि का क्षेत्र बहुत व्यापक है और वह अङ्.गी है तथा गुण, अलङ्.कार, वृत्ति, रीति आदि सबकी प्रतिष्ठा का भाजन यही ध्वनि है। इससे प्रतिहारेन्दुराज अलङ्.कारवादी आचार्यों का मत स्वतः निरस्त हो जाता है जो यह कहते हैं कि जहां प्रतीयमानार्थ वाच्योपस्कारक होता है वहां तो वह अलङ्.कार है ही जहां वह प्रधानरूपेण अवस्थित होता है वहां भी गुणों के सौन्दर्य में कारण होने के कारण अलङ्.कार ही है । इस प्रकार सभी प्रतीयमान अर्थ अलङ्.कार की श्रेणी में आते हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि व्यङ्.ग्यार्थ का स्वतन्त्र अस्तित्व है , जिसका कहीं भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता और इसी कारण व्यञ्जना की सत्ता भी निस्संन्देह रूप से स्वीकार की जानी चाहिये क्योंकि व्यङ्.ग्यार्थ की प्रतीति व्यञ्जना द्वारा ही सम्भव है ।

आचार्य आनन्दवर्धन भाक्तवादियों के मत का खण्डन करते हुये कहते हैं कि भक्ति और ध्वनि एक दूसरे के पर्याय नहीं हो सकते क्योंकि दोनों में स्वरूप भेद हैं अतएव एकरूपता को नहीं प्राप्त कर सकते ।[1] जहां वाच्य और वाचक द्वारा व्यङ्.ग्यार्थ का प्राधान्येन प्रकाशन हो वहां ध्वनि होता है । भक्ति तो उपचार मात्र है ।[2]

पुनश्च तृतीय उद्योत में लक्षणा और व्यञ्जना का भेद विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया गया है । -

जहां व्यञ्जना व्यापार शब्द का मुख्य व्यापार है वहीं लक्षणा अमुख्य व्यापार है । शङ्.का हो सकती है कि मुख्य व्यापार तो अभिधा को माना जाता है । तब व्यञ्जना मुख्य व्यापार कैसे हो सकता है ?

---

1. यदप्युक्तं भक्तिर्ध्वनिरिति, तत्प्रतिसमाधीयते - भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः ।

ध्व. प्र. उ. पृ. 148-149

2. मात्रशब्देनेदमाह- यत्र लक्षणाव्यापारात्तृतीयादन्यश्चतुर्थः प्रयोजनद्योतनात्मा व्यापारो वस्तुस्थित्या सम्भवन्नप्यनुपयुज्यमानत्वेनाद्रियमाणत्वादसत्कल्पः ।

ध्व. लो. पृ. 150

इसका उत्तर आचार्य के अनुसार यह है कि वैसे तो अभिधा ही मुख्य व्यापार है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ का काव्य में सर्वप्राधान्य बताया गया है अतः उसको अभिव्यक्त कराने वाला व्यापार भी सर्वप्रमुख कहा जाता है । लक्षणा को अमुख्य इसलिये कहा गया है क्योंकि लाक्षणिक शब्द स्खलद्गति होता है । गङ्गा शब्द जिस प्रकार तट रूप अर्थ को बिना लक्षणा के देने में असमर्थ है उस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ के प्रत्यायन में असमर्थ नहीं ।[1]

लक्षणा और व्यन्जना में दूसरा भेद यह है कि लक्षणा अमुख्य रूप की अभिधा ही है । इसलिये वह अभिधापुच्छभूता कही गई है । अभिधा से व्यन्जना नितान्त भिन्न है क्योंकि व्यन्जना में सङ्केतग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं है जो कि अभिधा का प्राणतत्व है ।[2]

तृतीय भेद यह है कि जहां पर लक्षणा होती है वहां वाच्यार्थ स्वयं लक्ष्यार्थ के रूप में प्रकट होता है जैसे दूध जब दही बन जाता है तब दूध का कहीं अस्तित्व नहीं रहता, और इसके विपरीत व्यन्जना के स्थल में घटप्रदीपन्यायेन वाच्यार्थ व्यङ्ग्यार्थ से सर्वथा पृथक् भासित होता है । जैसे दीपक स्वयं को प्रकाशित करता हुआ ही घट को भी प्रकाशित करता है । उसी प्रकार वाच्यार्थ स्वयं को प्रकाशित करता हुआ ही अन्य अर्थ का प्रकाशन करता है । उदाहरणार्थ –

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ।।

पद्य में पहले वाच्यार्थ (कमलपत्र गिनना) का बोध होता है तत्पश्चात् लज्जारूप व्यङ्ग्य की प्रतीति होती है ।

---

1. गुणवृत्तिस्तूपचारेण लक्षणया चोभयाश्रयापि भवति । किन्तु ततोऽपि व्यञ्जकत्वं स्वरूपतो विषयतश्च भिद्यते । रूपभेदस्तावदयम्–यदमुख्यतया व्यापारो गुणवृत्तिः प्रसिद्धा । व्यञ्जकत्वं तु मुख्यतयैव शब्दस्य व्यापारः ।

ध्व. तृ. उ. पृ. 464

2. अयं चान्यः स्वरूपभेदः – यद्गुणवृत्तिरमुख्यत्वेन व्यवस्थितं वाचकत्वमेवोच्यते । व्यञ्जकत्वं तु वाचकत्वादत्यन्तं विभिन्नमेव ।

ध्व. तृ. उ. पृ. 464

इस प्रकार अस्खलद्गतित्व, समयानुपयोगित्व, पृथगवभासित्व ये तीनों विशेषतायें व्यञ्जना को लक्षणा से पृथक् सिद्ध करती हैं ।[1]

अब विषय – भेद दर्शनीय है ।

लक्षणा और व्यञ्जना में विषय – भेद भी है । लक्षणा का विषय तो केवल लक्ष्यार्थ रूप वस्तु होता है । जबकि व्यञ्जना का विषय वस्तुरूप, अलङ्.काररूप एवं रसरूप होता है । यदि कहा जाये कि रस, अलङ्.कार, वस्तु व्यङ्.ग्य लक्षणागम्य हो सकते हैं तो ऐसा सम्भव नहीं क्योंकि रस तो कभी वाच्य हो नहीं सकता । अतः लक्षणा का अवकाश ही नहीं है ।[2] अलङ्.कार – व्यङ्.ग्य के स्थल में भी कहीं मुख्यार्थ बाध नहीं होता है अतः लक्षणा का यहां भी प्रवेश निषिद्ध है । यदि वस्तु व्यङ्.ग्य को लक्षणा से बोधा माना जाये तो भी व्यङ्.ग्यार्थ और लक्ष्यार्थ में बहुत अन्तर है क्योंकि व्यङ्.ग्यार्थ की यदि वाच्यता हो तो फिर उसमें वैदग्ध्य और चमत्कारिता नहीं हो सकती । कुमारिलभट्ट प्रोक्त "अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते" के अनुसार तो रसादिकों को भी लक्षणागम्य माना जाना चाहिये । क्योंकि रस अभिधेयरूप विभावादि से अविनाभूत रूप से सम्बद्ध ही प्रतीत होते हैं । अविनाभावलभ्य अर्थ को ही लक्ष्यार्थ मानने पर तो धूम शब्द तथा धूम अर्थ की प्रतीति होने पर अग्नि की स्मृति भी लक्षणागम्य मानी जानी चाहिये क्योंकि धूम का अग्नि से

---

1. अयं चापरो रूपभेदो यद्गुणवृत्तौ यदार्थोऽर्थान्तरमुपलक्षयति तदोपलक्षणीयार्थात्मना परिणत एवासौ सम्पद्यते । यथा "गङ्.गायां घोषः" इत्यादौ । व्यञ्जकत्वमार्गे तु यदार्थोऽर्थान्तरं द्योतयति तदा स्वरूपं प्रकाशयन्नेवासावन्यस्य प्रकाशकः प्रतीयते प्रदीपवत् । यथा–"लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती" इत्यादौ ।
   ध्व. पृ. 465

2. विषयभेदोऽपि गुणवृत्ति व्यञ्जकत्वयोः स्पष्ट एव ।
   यतो व्यञ्जकत्वस्य रसादयोऽलंकारविशेषा व्यङ्.ग्यरूपावच्छिन्नं वस्तु चेति त्रयं विषयः । तत्र रसादिप्रतीतिर्गुणवृत्तिरिति न केनचिदुच्यते न च शक्यते वक्तुम् । व्यङ्.ग्यालंकारप्रतीतिरपि तथैव" वस्तुचारुत्वप्रतीयते स्वशब्दानभिधेयत्वेन यत्प्रतिपिपादयितुमिष्यते तद्व्यङ्.ग्यम् । तच्च न सर्वं गुणवृत्तेर्विषयः प्रसिद्ध्यनुरोधाभ्यामपि गौणानां प्रयोगदर्शनात् । यदपि च गुणवृत्तेर्विषयस्तदपि च व्यञ्जकत्वानुप्रवेशेन । तस्माद्गुणवृत्तेरपि व्यञ्जकत्वस्यात्यन्तविलक्षणत्वम् । ध्व. पृ. 466-467

अविनाभाव सम्बन्ध है और इतना ही नहीं अपितु अग्निस्मृति के अनन्तर अविनाभावरूप से प्रतीत होने वाली शीतापनोदन आदि की स्मृति भी लक्षणा का विषय बननी चाहिये । इस अनवस्था के समाधानार्थ यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि धूम शब्द का स्वार्थ में पर्यवसान हो जाने के कारण अग्नि आदि अर्थ में व्यापार नहीं हो सकता तब तो पूर्वपक्षी ने मुख्यार्थबाध रूप लक्षणा के बीज को स्वीकार कर लिया क्योंकि मुख्यार्थ बाध होने पर स्वार्थ में विश्रान्ति नहीं हो सकती ।[1]

लक्षणा और व्यञ्जना के सहकारी कारण भी भिन्न होने से दोनों का विषयभेद और स्पष्ट हो जाता है । लक्षणा के सहकारी कारण हैं - मुख्यार्थ बाध, मुख्यार्थ-योग, रूढ़ि अथवा प्रयोजन । व्यन्जना के सहकारी कारण हैं - वक्ता, बोद्धव्य, काकु, प्रस्ताव, देश, काल आदि ।

दोनों व्यापारों में आश्रय भेद भी दिखाई देता है । लक्षणा केवल अभिधाश्रित होती है उसे अभिधापुच्छभूता कहा जाता है । किन्तु व्यन्जना अभिधाश्रित भी हो सकती है और लक्षणाश्रित भी । व्यन्जना तो कभी-कभी ऐसे शब्दों में भी होती है जो न वाच्य है और न लक्ष्य यथा गीत आदि में । व्यन्जना चेष्टा आदि में भी रहती है अतः व्यन्जना में शब्दधर्मता है भी और नहीं भी है । लक्षणा तथा व्यन्जना का भेद यह भी है कि लक्ष्यार्थ तो सैदव वाच्यार्थ का नियत सम्बन्धी होता है और व्यङ्ग्यार्थ का वाच्यार्थ के साथ नियत सम्बन्ध भी हो सकता है, अनियतसम्बन्ध भी और सम्बद्धसम्बन्ध भी । इस प्रकार अभिधा और गुणवृत्ति से पृथक् व्यन्जना व्यापार है।[2] पुनः एक शङ्का यह उठती है कि विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में तो गुणवृत्ति न होगी यह सिद्ध हुआ किन्तु अविवक्षितवाच्यध्वनि में तो लक्षणा माननी चाहिये वहां तो गुणवृत्ति की प्रवृत्ति स्पष्ट है । इसका निवारण करते हुये आनन्दवर्धन कहते हैं कि अविवक्षित वाच्य ध्वनि गुणवृत्ति पर आश्रित होते हुये भी गुणवृत्ति स्वरूप नहीं हैं। गुणवृत्ति व्यन्जकत्व से रहित भी होती है किन्तु व्यन्जकत्व बिना व्यङ्ग्यार्थ के नहीं हो सकता । गुणवृत्ति तो अभिधा के आश्रय से और व्यङ्ग्य के आश्रय से अभेदोपचाररूप सम्भव होती है । जैसे तीक्ष्ण होने

---

1. ध्वनि विरोधी सम्प्रदाय और उनकी मान्यताएं
2. वाचकत्वगुणवृत्तिविलक्षणस्यापि च तस्य तदुभयाश्रयत्वेन व्यवस्थानम् । ध्व. पृ. 467

से माणवक अग्नि है इत्यादि में जो लक्ष्यरूप गुणवृत्ति है वह भी उपलक्षणीय अर्थ के साथ सम्बन्ध मात्र के आश्रय से चारूरूप व्यङ्.ग्य की प्रतीति के बिना भी सम्भव होती है यथा मन्चाः क्रोशन्ति आदि में। परन्तु जहां गुणवृत्ति चारूरूपव्यङ्.ग्य की प्रतीति का हेतु है वहां भी वाचकत्व की भांति व्यञ्जकत्व के अनुप्रवेश से ही सम्भव है। असम्भवी अर्थ के साथ जहां व्यवहार है वहां चारूरूप व्यङ्.ग्य की प्रतीति ही प्रयोजिका है यथा " सुवर्णपुष्पां पृथ्वीं " अतएव ऐसे स्थलों में गुणवृत्ति के होने पर भी ध्वनि व्यवहार ही युक्तिसंगत है ।[1] भक्ति कभी भी व्यञ्जना का लक्षण नहीं बन सकती । क्योंकि इसमें अतिव्याप्ति और अव्याप्ति नामक दोष आ जाते हैं ।

लक्षण की परिभाषा है– "यावल्लक्ष्यवृत्तित्वं लक्षणम्" अर्थात् जैसे गन्धयुक्त होना पृथ्वी का लक्षण है और जो गन्धयुक्त नहीं है वह पृथ्वी नहीं है जैसे जल आदि। अतः वही लक्षण शुद्ध होता है जिसमें पक्ष में सद्भाव, विपक्ष में अभाव, सपक्ष में सद्भाव हो । जैसे – "कृशाङ्.ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम्" में वदति पद लाक्षणिक है यद्यपि "वदति" इस पद के प्रयोग से कवि स्फुटीकरणकरण रूप प्रयोजन की प्रतीति कराना चाहता है किन्तु इतना अनिगूढ है कि सहृदय – ग्राह्य नहीं है अतएव "विसिनीपत्रशयनम्" का "वदति" इस क्रिया में असमर्थता के कारण मुख्यार्थ बाध होने पर लक्षणा है किन्तु प्रयोजन न होने के कारण व्यन्जना का अभाव है। क्योंकि रूढ़ शब्द लाक्षणिक ही होते हैं व्यञ्जक नहीं ।[2]

---

1. यस्मादविवक्षितवाच्यो ध्वनिर्गुणवृत्तिमार्गाश्रयोऽपि भवति न तु गुणवृत्ति रूप एव । गुणवृत्तिर्हि व्यञ्जकत्वशून्यापिदृश्यते । व्यञ्जकत्वं च यथोक्तचारुत्वहेतुं व्यङ्.ग्यं बिना न व्यवतिष्ठते । गुणवृत्तिस्तु वाच्यधर्मा–श्रयेणैव व्यङ्.ग्यमात्राश्रयेण चाभेदोपचाररूपा सम्भवति । यथा – तीक्ष्ण त्वादग्निर्माणवकः –– । यथा च प्रिये जने नास्ति पुनरुक्तम् इत्यादौ । यापि लक्षणरूप गुणवृत्तिः साप्युपलक्षणीयार्थसम्बन्धमात्राश्रयेण चारुरूप–व्यङ्.ग्यप्रतीतिं विनापि सम्भवत्येव यथा मन्चाः क्रोशन्तीत्यादौ विषये । ––यत्र तु सा चारुरूपव्यङ्.ग्यप्रतीतिहेतुस्तत्रापि व्यञ्जकत्वानुप्रवेशेनैव वाचकत्ववत् । असम्भविना चार्थेन यत्र व्यवहारः यथा – "सुवर्णपुष्पां पृथिवीम्" इत्यादौ तत्र चारुरूपव्यङ्.ग्यप्रतीतिरेव प्रयोजिकेति तथाविधेऽपि विषये गुणवृत्तौ सत्यामपि ध्वनिव्यवहार एव युक्त्यनुरोधी ।
ध्व. पृ. 472–474

2. रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि।
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदध्वनेः ।। ध्व.प्र.3.पृ.156

कविजन कभी-कभी लाक्षणिक शब्द का प्रयोग परम्परा के अनुरोध से ही कर देते हैं व्यङ्ग्यार्थ रूप प्रयोजन की प्रतीति की दृष्टि से नहीं । चूंकि लक्षणा ध्वनि से व्यतिरिक्त स्थल में भी होती है अतएव लक्षणा को ध्वनि का लक्षण मानने पर अतिव्याप्ति दोष हो जायेगा ।[1]

अब अव्याप्ति दोष भी सिद्ध करते हैं ।

अव्याप्ति - लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वमव्याप्तिः- जैसे "गौ का कपिल होना" यह लक्षण स्वीकार करने पर श्वेत और श्याम गायों में इसका अभाव होगा। अतएव यह लक्षण अव्याप्ति दोष से युक्त है। उसी प्रकार अभिधामूला व्यञ्जना में मुख्यार्थ बाधादि हेतु न होने के कारण लक्षणा का प्रवेश निषिद्ध है अतः वहां तो लक्षणा का बाध हो जायेगा और विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में ध्वनित्व बाधित होने लगेगा यदि भक्ति को ध्वनि का लक्षण माना जाये । इस प्रकार यह सर्वथा अव्याप्ति दोष से दुष्ट है और भक्ति को ध्वनि का उपलक्षण भी नहीं माना जा सकता। " काकवद्देवदत्तस्य गृहम् " में वर्तमान प्रयोग में देवदत्त के घर में कौआ विद्यमान नहीं है किन्तु पहले काक से युक्त गृह का परिचय बोद्धव्य को कराया गया था अतः प्रयोगकाल में उसकी स्मृतिमात्र से ही देवदत्त-गृह का ज्ञान करा देता है । इस प्रकार अविवक्षित वाच्यध्वनि में लक्षणा है किन्तु प्रयोजन की प्रतीति व्यन्जना द्वारा ही सम्भव है लक्षणा का वहां प्रसरण निषिद्ध है और यदि पूर्वपक्षी कहे कि उपलक्षण के बिना भी उपलक्षणीय की जिस प्रकार सिद्धि हो जाती है उसी प्रकार भक्ति के बिना भी विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि में व्यञ्जना की सिद्धि होती है तो इससे ध्वनिवादी के सिद्धान्त में कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि ऐसे अनेक ध्वनि के भेद हैं जिनमें लक्षणा की गन्ध तक नहीं । यथा - अभिधामूलध्वनि में लक्षणा से व्यतिरिक्त अन्य व्यापार स्वीकार करना पड़ता है । असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में तो लक्षणा की सम्भावना भी नहीं है । अतएव भक्ति ध्वनि का उपलक्षण कदापि नहीं बन सकती क्योंकि ध्वनि में उसका कोई महत्व नहीं है औ न वैसा चमत्कार, सौष्ठव और कमनीयता यथा व्यञ्जना में है। तभी तो आचार्य आनन्दवर्धन कहते हैं -

"उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन्
शब्दव्यञ्जकतां बिभ्रद्ध्वन्युक्तेर्विषयी भवेत्"

---

1. अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया ।
ध्व. प्र.उ. पृ. 150

भक्ति में ध्वनि का अन्तर्भाव न होने का एक कारण यह बता रहे हैं कि लक्षणा से जिस फल की अभिव्यक्ति के लिये अर्थ का प्रत्यायन किया जाता है उस फल को द्योतित करने में शब्द स्खलद्गति नहीं होता । क्योंकि यदि शब्द स्खलद्गति होगा तब तो दूसरे निमित्त तथा दूसरे प्रयोजन के अन्वेषण से अनवस्था दोष हो जायेगा और क्योंकि शब्द स्खलद्गति नहीं अतएव लक्षणा के हेतु न होने के कारण लक्षणा का विषय नहीं है । प्रयोजन का लक्ष्य है चारुत्वातिशयविशिष्टार्थ का प्रकाशन और यदि उसकी प्रतीति में लक्षणा वृत्ति का आश्रय लिया जाये तो वह प्रयोग दुष्ट होगा । इस प्रकार उपसंहाररूप में यह कहा जा सकता है कि वाचक के आश्रय से जो गुणवृत्ति व्यवस्थित है वह व्यञ्जकत्व पर आधारित ध्वनि का लक्षण कैसे हो सकती है ?[1] इस विवेचन से भाक्तवादी मुकुलभट्ट का भी मत निरस्त हो जाता है । मुकुलभट्ट प्रयोजन-प्रतीति कराने के लिये दूसरा व्यापार मानना चाहिये यह तो स्वीकार करते हैं किन्तु व्यञ्जना से उस प्रयोजन की प्रतीति को उपयुक्त नहीं मानते हैं । उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध किया जा चुका कि प्रयोजन प्रतीति के लिये व्यञ्जना व्यापार ही समर्थ है । लक्षणा तो बस लक्ष्यार्थ देकर विरत हो जाती है और अभिधा पहले ही अपना कार्य समाप्त कर चुकी है । अतः मुकुलभट्ट को भी व्यञ्जना व्यापार स्वीकार करना ही पड़ेगा ।

व्यञ्जना विरोधियों का तीसरा समुदाय अनिर्वचनीयतावादियों का है जो ध्वनि को सर्वथा अनिर्वचनीय मानते हैं । उनके उत्तर में ध्वन्यालोककार कहते हैं कि सहृदयों के हृदय को आनन्द देने वाली ध्वनि अवर्णनीय है यह कथन भी परीक्षा करके नहीं कहा गया है । जब ध्वनि का सामान्य और विशेष लक्षण कर दिया गया उसके भेद, प्रभेद का उल्लेख कर दिया गया और तब भी उसे अनाख्येय कहें तो फिर संसार की सभी वस्तुएं अनाख्येय हो जायेंगी । जबकि संसार की सभी वस्तुएं वर्णनीय होती हैं । जो वस्तु सर्वोत्कृष्ट होती है उसे अनाख्येय या अनिर्वचनीय कहा जाता है जैसे वेदान्ती सर्वातिशायी होने के कारण ब्रह्म को अनिवर्चनीय कहते हैं यदि उस दृष्टि से कहा है तब तो ध्वनि की सर्वोत्कृष्टता ही सिद्ध होती है और जो वे अनिर्वचनीयतावादी अतिशयोक्ति

---

1. वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता ।
   व्यञ्जकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम् ।।

   ध्व. प्र. उ. पृ. 159

के द्वारा ध्वनि का स्वरूप दूसरे काव्यों का अतिक्रमण करने वाला कहते हैं उनका भी कथन अनुचित नहीं जान पड़ता क्योंकि यहां पर अतिशयोक्ति का अर्थ अतिशयोक्ति अलङ्कार नहीं अपितु अतिक्रान्त करने वाला विवक्षित है । इस प्रकार ध्वनि समस्त काव्यतत्वों का अतिक्रमण करने वाला होता है । फलस्वरूप ध्वनिकार कहते हैं – " यस्मादनाख्येयत्वं सर्वशब्दागोचरत्वेन न कस्यचित्संभवति " ।[1] भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में इसी तरह के विचार प्रस्तुत किये हैं सम्भवतः ध्वनिकार ने उन्हीं से प्रेरणा ली हो –

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ।।

(वा. प. 1 । 123)

अनिर्वचनीयतावाद तो क्षणभंगवादी बौद्धों से प्रेरित है क्योंकि वे सब वस्तुओं की एक क्षणमात्र की सत्ता मानते हैं। क्षणिक होने के कारण वह वस्तु दर्शनीय नहीं होती फिर भी प्रत्यक्ष प्रमाण आदि का लक्षण किया गया है। उसी प्रकार से ध्वनि को भी मानते हैं। जिस काव्य में अनाख्येय अंश भासित हो उसे ध्वनि कहते हैं[2] इस सिद्धान्त का मूल्यांकन आनन्दवर्धन ने विनिश्चय नामक बौद्ध ग्रन्थ की धर्मोत्तरी टीका में किया है ।

इस प्रकार अनिर्वचनीयतावाद का खण्डन भी सहज रूप में कर दिया गया है ।

उपर्युक्त खण्डन और मण्डन की प्रक्रिया का आलोचनात्मक दृष्टि से परीक्षण करने पर यह सिद्ध होता है कि आनन्दवर्धनाचार्य क्रान्तिकारी होने के साथ साथ दूरदर्शी भी थे, तभी तो उन्होनें एक एक विकल्प सोच कर उसका खण्डन कर व्यञ्जना वृत्ति के अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाने का प्रयास किया । यद्यपि आचार्य के समक्ष कुछ विरोधी आचार्य थे, कुछ की उन्होंने कल्पना की, किन्तु परवर्ती विरोधी आचार्यों का भी सिद्धान्त इनकी वैदुष्यपूर्ण युक्तियों से स्वतः विध्वस्त हो जाता है । संक्षेप में पुनः कुछ युक्तियों का मूल्यांकन प्रस्तुत है – उदाहरणार्थ सर्वप्रथम अभाववाद की ही युक्तियों को लीजिये जो कि गुण, अलङ्कारों में ही ध्वनि को

---

1. ध्व. तृ. उ. पृ. 554
2. अनाख्येयांशभासित्वं निर्वाच्यार्थतयाध्वनेः ।
   न लक्षणं, लक्षणं तु साधीयोऽस्य यथोदितम् ।।

अन्तर्भूत मानते हैं । उनके अनुसार शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम्" और शब्दगत चारुत्वहेतु अनुप्रासादि तथा अर्थगतोपमादि में इस ध्वनि का अन्तर्भाव किया जाना चाहिये । अतएव सर्वप्रथम तो आचार्य ने ध्वनि को वाच्यार्थ से पृथक् करने के लिये दोनों का भेद " प्रतीयमानं पुनरन्यदेव " कह कर सुस्पष्ट कर दिया तत्पश्चात् गुण और अलङ्कारों से भी ध्वनि को सर्वथा पृथक् सिद्ध किया है जो कि तर्कसंगत भी है । आचार्य की युक्ति भी समीचीन प्रतीत होती है कि ध्वनि तो आत्मरूप एवं अङ्गी है उसका इन •अलङ्कारादिकों जो कि अङ्गरूप एवं देहरूप हैं में अन्तर्भाव कैसे हो सकता है। इसका सबसे प्रभावपूर्ण तर्क तो यह है कि गुण और अलङ्कार का प्राण वाच्यवाचक भाव है और ध्वनि का प्राण व्यङ्ग्यव्यन्जकभाव होने के कारण उसका अन्तर्भाव सम्भव नहीं है। अलङ्कारवादी प्रतिहारेन्दुराज ने वस्तु, अलङ्कार और रस रूप ध्वनि को अलङ्कार में अन्तर्भूत करने का दुष्प्रयास किया है किन्तु उनके तर्कों का कोई महत्व नहीं रह जाता यदि हम ध्वन्यालोक का भलीभाँति परिशीलन करें । आलङ्कारिक अभिधा, लक्षणा से व्यतिरिक्त व्यन्जना व्यापार को स्वीकार नहीं करते हैं अतएव व्यञ्जना के स्वीकार न करने पर ध्वनि सिद्ध हो ही नहीं सकती उस ध्वनि का अलङ्कारों में अन्तर्भाव खपुष्पतुल्य ही है । [1] प्रतिहारेन्दुराज ध्वनि की चर्चा करते हुये जहाँ पर्यायोक्त अलङ्कार में वस्तु ध्वनि को (समाहित) अन्तर्भूत करते हैं । वहीं स्वतः शङ्का करते हैं कि यहाँ प्रतीयमान प्रधान होने के कारण अलङ्कार्य मानना चाहिये अथवा अलङ्कार । उसका समाधान इस प्रकार करते हैं कि जैसे लोक में कभी कभी स्वामी भी भृत्य के अलङ्कारक हो जाते हैं उसी प्रकार प्रतीयमान के यहाँ प्रधान होने पर भी अप्रधानभूतवाच्य अर्थ के सौन्दर्य का साधक होने के कारण उसे अलङ्कार कहा जायेगा । आनन्दवर्धन ने जहाँ अलङ्कारों से भिन्न ध्वनि की सत्ता सिद्ध की है वहाँ स्पष्ट शब्दों में उन्होंने पर्यायोक्त अलङ्कार से भी ध्वनि की सत्ता सिद्ध करते हुये बताया है कि ध्वनि वहीं हो सकती है जहाँ प्रतीयमानार्थ प्रधान हो, यदि वाच्योपस्कारक है तब तो वह अलङ्कार ही होगा । इसकी पुष्टि ध्वनि लक्षण - कारिका से भी होती है ।

---

1. व्यङ्ग्यव्यञ्जकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वनेः ।
   वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वन्तः पातिता कुतः ।।

   ध्व. प्र. उ. पृ. 108

यत्रार्थः शब्दो व तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्.क्त : काव्य-विशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ।।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि अलङ्.कार्य कभी अलङ्.कार नहीं हो सकता न ही गुणी गुण हो सकता है । अतएव अलङ्.कार में ध्वनि का अन्तर्भाव व्यर्थ का प्रवादमात्र ही है । जो भाक्तवादी भक्ति और ध्वनि में अभेद मानते हैं उनका भी खण्डन आचार्य ने बहुत ही सहज रूप में कर दिया । दोनों में स्वरूप भेद तथा विषय भेद सुस्पष्ट ही है । भक्ति ध्वनि का लक्षण एवं उपलक्षण भी नहीं बन सकती जैसा कि पहले विस्तारपूर्वक उल्लेख किया जा चुका है । एक ॥ पक्षपातरहित ॥ दृष्टा की दृष्टि से अगर हम इस विषय पर विचार करें तो लक्षणा, व्यञ्जना कभी एक नहीं हो सकती। ॥ यहाँ पर लक्षणा, व्यञ्जना का उल्लेख इसलिये किया गया है क्योंकि भक्ति की आधारशिला लक्षणा है और ध्वनि की आधारशिला व्यञ्जना है ॥ जिस प्रकार व्यञ्जना अभिधा, तात्पर्य-वृत्ति से भिन्न है उसी प्रकार लक्षणा से भी भिन्न है । लक्षणा के हेतुओं में तृतीय हेतु जो प्रयोजन है वह बिना व्यञ्जना के सिद्ध नहीं हो सकता जिसका विस्तृत विवेचन पूर्व पृष्ठों में हो चुका है। अभिनवगुप्त ने इसे बड़े ही स्पष्ट रूप में समझाया है । प्रयोजन की प्रतीति में यदि लक्षणा मानी जाये तो फिर वहाँ भी मुख्यार्थ बाध आदि हेतुओं की आवश्यकता पड़ेगी जो कि वहाँ है नहीं । और यदि लक्षणा में प्रयोजन न माना जाये तो फिर काव्य में उसका चारुत्व ही कैसा ?[1] प्रयोजन की प्रतीति वाच्य नहीं है व्यङ्.ग्य है अतएव उसके लिये अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा से भिन्न कोई व्यापार अवश्य स्वीकार करना ही पड़ेगा और वही है व्यञ्जना व्यापार । इस प्रकार उपचारमात्रं भक्तिः और ध्वननस्वरूपा व्यक्तिः में अभेद नहीं हो सकता । अथ पूर्वोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुकुलभट्ट ने दुराग्रहवश ध्वनि को लक्षणा में अन्तर्भूत करने की चेष्टा की है । क्योंकि ॥ व्यञ्जना और लक्षणा ॥ इनका क्षेत्र तो एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न है । मुकुलभट्ट ने जो वक्तृ, वाच्य, वाक्य निबन्धना लक्षणा के उदाहरण किये हैं उन सब में आनन्दवर्धन के अनुसार व्यङ्.ग्यार्थ निहित है । और यदि वस्तुतः देखा जाये तो इन उदाहरणों में

---

1. निरूढाः लक्षणा काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत् ।
क्रियन्ते साम्प्रते काश्चित काश्चिन्नैव त्वशक्तितः ।।

मुख्यार्थबाधादि हेतु भी विद्यमान नहीं है जिनके बिना लक्षणा उदित ही नहीं हो सकती बलात् इन्होंने उसे अनुपपन्न माना है जो वक्तृ, वाक्य, वाच्य निबन्धना लक्षणा के भेद किये हैं वे तो ध्वनिवादी को मान्य ही हैं क्योंकि आर्थी व्यञ्जना में भी वक्ता, बोद्धव्य आदि सहकारियों की अपेक्षा से ही व्यङ्ग्यार्थावबोध होता है तो मुकुलभट्ट इसे व्यञ्जना व्यापार ही क्यों नहीं मान लेते । ऐसा प्रतीत होता है कि वक्तृ, वाक्यमूला लक्षणा के ब्याज से व्यञ्जना का ही उल्लेख किया है क्योंकि मुकुलभट्ट की लक्षणा मुख्यार्थ से भिन्न सभी अर्थों को देने में समर्थ है किन्तु उस प्रकार उसका शास्त्र-सिद्ध स्वरूप नहीं है । उन्होंने इस व्यापार का अतिदेश किया है तभी तो जो स्थल ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धन ने रूपक-ध्वनि का बताया है उसे इन्होंने वाक्य निबन्धना लक्षणा में अन्तर्भूत करने की चेष्टा की है और अनिर्वचनीयतावाद का तो एक वाक्य से ही खण्डन हो जाता है कि जब आप प्रत्यक्ष ध्वनि का इतना विवेचन देख रहे हैं तो ये अनिर्वचनीय कैसे होगा ? [1] इन पुनरुक्तियों के पश्चात् आनन्दवर्धन की अन्य तर्कपूर्ण युक्तियों पर भी विचार अपेक्षित है । आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि को तो सिद्ध कर दिया और व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता ही ध्वनि है अतएव प्रथम उद्योत में उसी व्यङ्ग्यार्थ के अस्तित्व को प्रतिष्ठापित किया । क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जना वृत्ति द्वारा ही अभिव्यक्त होता है। अतएव व्यञ्जना की सत्ता सिद्ध हो जाती है किन्तु आचार्य इतने से ही संतुष्ट नहीं हैं वे व्यञ्जक की दृष्टि से भी व्यञ्जना की सिद्धि करने के लिये प्रवृत्त होते हैं । आचार्य आनन्दवर्धन ने व्यङ्ग्यार्थ के व्यञ्जक वर्ण, शब्द, शब्दांश, संघटना आदि को माना है [2] तथा सुप्, तिङ्, वचन, सम्बन्ध, कारक-शक्ति, कृत् तद्धित और समास से भी कहीं कहीं पर असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि द्योत्य होता है । इस प्रकार

---

1. तौ च विशेषौ व्याख्यातुं शक्येते व्याख्यातौ च बहुप्रकारम् ।
   तद्व्यतिरिक्तानाख्येयविशेष सम्भावना तु विवेकावसादभावमूलैव ।
   ध्व. तृ. उ. पृ. 554

2. ‹क› यस्त्वलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिवर्णपदादिषु ।
   वाक्ये सङ्घटनायां च स प्रबन्धेऽपि दीप्यते ।।
   ध्व. तृ. उ. पृ. 327

3. ‹ख› सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः ।
   कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित् ।।
   ध्व. तृ. उ., पृ. 379

व्यञ्जकमुखेन ध्वनि-भेदों के निरूपण को देखने के बाद व्यञ्जना विरोधी मीमांसक आदि का यह कथन कि " यह व्यञ्जकत्व क्या है । क्या यह व्यड्.ग्य अर्थ का प्रकाशन रूप है । अर्थ का व्यञ्जकत्व और व्यड्.ग्यत्व हो ही नहीं सकता क्योंकि व्यड्.ग्यत्व की सिद्धि व्यञ्जक के आधीन है और व्यञ्जक की सिद्धि व्यड्.ग्य के आधीन है इसलिये दोनों में अन्योन्याश्रय दोष है । अतएव एक के असिद्ध होने पर दूसरा भी असिद्ध हो जायेगा §अन्योन्याश्रयापि कार्यासि न प्रकल्प्यन्ते§ क्योंकि आनन्दवर्धनाचार्यप्रतिपादित प्रतीयमानार्थ का प्रकाशन होता है व्यञ्जना से । क्योंकि अर्थ का व्यड्.ग्यत्व सिद्ध नहीं है इसलिये व्यड्.ग्य की सिद्धि नहीं हुई और व्यड्.ग्य और व्यञ्जक क्योंकि परस्पर सापेक्ष है अतएव व्यञ्जक भी सिद्ध नहीं हुआ । और व्यञ्जक जब सिद्ध नहीं है इसलिये व्यञ्जना नहीं है "[1] इस आक्षेप का उत्तर आचार्य आनन्दवर्धन ने पहले ही दे दिया है अर्थात् प्रथम उद्योत में जहां वाच्य से व्यतिरिक्त व्यड्.ग्यार्थ की सत्ता सिद्ध की है। चूँकि व्यड्.ग्यत्व की सिद्धि के आधीन व्यञ्जक की सिद्धि है अतः यह दोनों पूर्व प्रतिष्ठापित है इनमें शड्.का का कोई अवसर नहीं । किन्तु एक शड्.का विरोधी मीमांसकों की ओर से और होती है कि आपने वाच्य से पृथक् जिस वस्तु की सिद्धि की है उस अर्थ को व्यड्.ग्यार्थ ही क्यों नाम देते हैं । विरोधियों के अनुसार जहां व्यड्.ग्यार्थ प्रधानरूपेण व्यवस्थित है उसे वाच्यार्थ कहना ही उचित होगा क्योंकि वाक्य उस अर्थ के प्रति ही प्रयुक्त है । इसलिये उस अर्थ को प्रकाशन करने में अभिधा व्यापार सक्षम है, अन्य व्यापार की कल्पना से क्या लाभ ? क्योंकि तात्पर्य रूप जो अर्थ है वह मुख्य होने से वाच्य है । इस मुख्य तात्पर्य रूप अर्थ के बीच में जो अन्य वाच्यार्थ की प्रतीति होती है वह उस मुख्य तात्पर्य रूप अर्थ की प्रतीति में उपायमात्र है जैसे तात्पर्य रूप वाक्यार्थ की प्रतीति से पूर्व प्रतीत होने वाला पदार्थ - प्रतीति के

---

1. किमिदं व्यञ्जकत्वं नाम व्यड्.ग्यार्थप्रकाशनाम्,
न हि व्यञ्जकत्वं व्यड्.ग्यत्वं चार्थस्य व्यञ्जकसिद्ध्यधीनं,
व्यड्.ग्यत्वम्, व्यड्.ग्यापेक्षया च व्यञ्जकत्वसिद्धिरित्यन्योन्यसंश्रयादव्यव - स्थानम् ।

ध्व. तृ. उ. पृ. 455

उपायमात्र है । [1]

इस पूर्वपक्ष में भाट्ट तथा प्राभाकर सम्प्रदाय एवं वैयाकरणों का मत उपन्यस्त किया गया है ।

आचार्य आनन्दवर्धन यहां भी अपने अपूर्व, विलक्षण बुद्धि - कौशल से मीमांसक के मत का खण्डन करने हेतु व्यञ्जना और अभिधा का पार्थक्य सूचित करने के लिये नितान्त तर्क-संगत युक्तियां देते हैं जिनसे अभिधा और व्यञ्जना का स्वरूप भेद और विषय-भेद का ज्ञान हो जाने पर व्यड्.ग्यार्थ का अस्तित्व प्रतिष्ठापित हो जाता है । विषयभेद को आचार्य ने इस प्रकार समझाया है - जहां पर शब्द अपने अर्थ को कहता हुआ अर्थान्तर का भी बोध कराता है वहां पर उसके स्वार्थाभिधायित्व अर्थात् अभिधा और अर्थान्तर अवगमहेतुत्व (व्यञ्जना) दोनों में अभेद माना जाये या भेद । अभेद तो मान नहीं सकते क्योंकि अभिधा व्यापार का विषय है स्वार्थाभिधायित्व और व्यञ्जना का विषय है अर्थान्तरावगम। वाच्यार्थ और व्यड्.ग्यार्थ के विषय में "स्व" और "पर" को छिपाया नहीं जा सकता । वाच्यार्थ की प्रतीति साक्षात् सम्बन्ध से होती है जबकि व्यड्.ग्यार्थ सम्बन्धी का सम्बन्धी है अतएव वाच्यार्थ शब्द का साक्षात् सम्बन्धी है । व्यड्.ग्यार्थ वाच्यार्थ की सामर्थ्य से आक्षिप्त होने के कारण सम्बन्धी का सम्बन्धी है । यदि व्यड्.ग्यार्थ भी शब्द का साक्षात् सम्बन्धी होता तो उसमें " अर्थान्तर " (पर) यह व्यवहार न

---

1. प्रागुक्तयुक्तिभिर्वाच्यव्यतिरिक्तस्य वस्तुनः सिद्धिः कृता, स त्वर्थो व्यड्.ग्यतयैव कस्माद्व्यपदिश्यते यत्र च प्राधान्येनानवस्थानं तत्र वाच्यतयैवासौ व्यपदेष्टुं युक्तः, तत्परत्वाद्वाक्यस्य । अतश्च तत्प्रकाशिनो वाक्यस्य वाचकत्वमेव व्यापारः । किं तस्य व्यापारान्तरकल्पनया ? तस्मात्तात्पर्यविषयो योऽर्थः स तावन्मुख्यतया वाच्यः । या त्वन्तरा तथाविधे विषये वाच्यान्तरप्रतीति : सा तत्प्रतीतेरुपायमात्रं पदार्थप्रतीतिरिव वाक्यार्थप्रतीते : ।

ध्व. तृ. उ. पृ. 456

होता इस प्रकार दोनों व्यापारों का विषयभेद सुस्पष्ट ही है । [1]

व्यञ्जना और अभिधा में परस्पर रूपभेद भी है जो अभिधाशक्ति है वही अवगमन शक्ति नहीं है । यदि दोनों एक रूप होते तो जहां वाचकत्व व्यापार होता है वहां व्यञ्जकत्व व्यापार भी होता और जहां व्यञ्जकत्व होता वहां वाचकत्व भी होता । उदाहरणार्थ गीत को ही लीजिये उससे किसी अभिधेयार्थ की प्रतीति नहीं होती फिर भी रसादि रूप अर्थ की प्रतीति होती है । अतः अभिधा का व्यापार न होने पर भी वहां व्यञ्जना व्यापार है । गीतादि ही नहीं शब्दरहित चेष्टाओ में भी विशेष अर्थ का प्रकाशन प्रसिद्ध है। चेष्टाओ में अभिधा व्यापार तो हो नहीं सकता अतएव चेष्टाओ से विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये कोई व्यापार तो स्वीकार करना ही पड़ेगा वह व्यापार व्यञ्जना ही मानना चाहिये । [2] निम्नलिखित पद्य में –

व्रीडायोगान्नतवदनया सन्निधाने गुरूणां
बद्धोत्कम्पं कुचकलशयोर्मन्युमन्तर्निगृह्य ।
तिष्ठेत्युक्तं किमिव न तया यत् समुत्सृज्य वाष्पं
मय्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभागः ॥

---

1. यत्र शब्दः स्वार्थमभिदधानोऽर्थान्तरमवगमयति तत्र यत्तस्य स्वार्थाभिधायित्वं यच्च तदर्थान्तरावगमहेतुत्वं तयोरविशेषो विशेषो वा । न तावदविशेषः, यस्मात्तौ द्वौ व्यापारौ भिन्नविषयौ भिन्नरूपौ च प्रतीयेते एव । तथाहि वाचकत्वलक्षणो व्यापारःशब्दस्य स्वार्थविषयः गमकत्वलक्षस्त्वर्थान्तरविषयः । न च स्वपरव्यवहारो वाच्यव्यङ्ग्ययोरपह्नोतुं ...शक्यः, एकस्य सम्बन्धित्वेन प्रतीतेरपरस्य सम्बन्धिसम्बन्धित्वेन । वाच्यो ह्यर्थः साक्षाच्छब्दस्य सम्बन्धी तदितरस्त्वभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तः सम्बन्धिसम्बन्धी । यदि च स्वसम्बन्धित्वं साक्षात्तस्य स्यात् तदार्थान्तरत्वव्यवहार एव न स्यात् । तस्माद्विषयभेदस्तावत्तयोर्व्यापारयोः सुप्रसिद्धः ।

ध्व. तृ. उ. पृ. 457 458

2. रूपभेदोऽपि प्रसिद्ध एव। न हि यैवाभिधानशक्तिः सैवावगमनशक्तिः। अवाचकस्यापि गीतशब्दादे रसादिलक्षणार्थावगमदर्शनात् । अशब्दस्यापि चेष्टादेरर्थविशेषप्रकाशनप्रसिद्धे: ।

ध्व. तृ. उ. पृ. 458

गुरूजनों के समीप होने के कारण लज्जा से सिर झुकायें, कुच कलशों को कंपित करने वाले दुःख को अन्दर ही दबाकर अश्रु पात करते हुये चकित हरिणी के समान हृदयाकर्षक जो नेत्रत्रिभाग मुझ पर फेंका उसके द्वारा ठहरो, मत जाओ, क्या यह नहीं कहा। इस पद्य में कवि ने चेष्टा विशेष से व्यङ्.ग्य अर्थ का प्रकाशन दिखाया है । इसलिये शब्द का स्वार्थाभिधायित्व और अर्थान्तरावगमहेतुत्व दोनों ही भिन्न विषय और भिन्न रूप होने से उनका भेद स्पष्ट ही है । क्योंकि भेद है इसलिये वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तव्यङ्.ग्य को वाच्य नहीं कहा जा सकता । व्यङ्.ग्यार्थ शब्द व्यापार का विषय तो है किन्तु अभिधा द्वारा गम्य नहीं अपितु व्यञ्जनाव्यापारगम्य है । आनन्दवर्धन व्यङ्.ग्यार्थ के लिये प्रकाशन कहना ही युक्तियुक्त मानते हैं । [1] प्रसिद्ध अभिधा के पश्चात् होने वाले सम्बन्ध की योग्यता से उस अर्थान्तर की प्रतीति होने के कारण, स्वार्थ का बोध कराने वाले शब्द से भिन्न शब्द से जिस अर्थ की प्रतीति होती है उसके विषय में प्रकाशन कहना ही युक्तियुक्त है । इस प्रकार वाच्यवाचकत्व व्यापार से यह व्यञ्जना व्यापार विलक्षण है । जो तात्पर्यवादी व्यङ्.ग्यार्थ को तात्पर्य का ही विषय समझते हैं उनका भी निषेध करते हुये आचार्य कहते हैं कि वाच्यार्थ और व्यङ्.ग्यार्थ में पदार्थ और वाक्यार्थ न्यायसंगत नहीं है । [2] क्योंकि कुछ विद्वानों द्वारा पदार्थ प्रतीति असत्य मानी गई है । आचार्य ने जिन विद्वानों की ओर सङ्.केत किया है वे वैयाकरण हैं वैयाकरण पद-पदार्थ भेद को स्वीकार नहीं करते । जैसा कि पूर्व अध्याय में उल्लेख किया जा चुका है कि अखंडार्थतावादी वैयाकरणों के अनुसार पदार्थ वाक्यार्थ-न्याय बनता ही नहीं, [3] तात्पर्यवादी जिस वाच्यार्थ और व्यङ्.ग्यार्थ में पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय मानते हैं नैयायिक आदि इस पद पदार्थ की प्रतीति को असत्य नहीं मानते उन्हें घटतदुपादानकारणन्यायेन मानना

---

1. तस्माद्भिन्नविषयत्वाद्भिन्नरूपत्वाच्च स्वार्थाभिधायित्वमर्थान्तरावगमहेतुत्वं च शब्दस्य यत्तयोः स्पष्ट एव भेदः । विशेषश्चेन्न तर्हीदानीमवगमनस्याभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तस्यार्थान्तरस्य वाच्यत्वव्यपदेश्यता । शब्दव्यापारगोचरत्वं तु तस्यास्माभिरिष्यत एव, तत्तु व्यङ्.ग्यत्वेनैव न वाच्यत्वेन । प्रसिद्धाभिधानान्तरसम्बन्धयोग्यत्वेन च तस्यार्थान्तरस्य प्रतीतेः शब्दान्तरेण स्वार्थाभिधायिना यद्विषयीकरणं तत्र प्रकाशनोक्तिरेव युक्ता । ध्व. तृ. उ. पृ. 459
2. न च पदार्थवाक्यार्थन्यायो वाच्यव्यङ्.ग्ययोः । ध्व. तृ. उ. पृ. 460

पड़ेगा । घट और उसके उपादान कारण में नैयायिक समवाय सम्बन्ध मानते हैं ।[1] जिस प्रकार घट के बन जाने पर उसके कपालद्वय की पृथक् प्रतीति नहीं होती उसी प्रकार वाक्यार्थ प्रतीति के समय पदार्थों की पृथक् रूप से प्रतीति नहीं होती । यदि वाक्यार्थप्रतीति के समय भी पदार्थों की प्रतीति मानी जाये तो वाक्यार्थ-बुद्धि भी दूर हो जायेगी क्योंकि वाक्यार्थ में तो अर्थ की एकता की प्रतीति होती है न कि पृथक् पृथक् पदों के पृथक् पृथक् अर्थों की। किन्तु यह न्याय वाच्यार्थ और व्यङ्.ग्यार्थ में संगत नहीं होता । व्यङ्.ग्य के प्रतीयमान होने पर वाच्य की बुद्धि दूर नहीं होती ।[2] वाच्य की छाया से अविनाभाव से सम्बन्धित व्यङ्.ग्यार्थ प्रकाशित होता है । जैसे वस्तुरूपव्यङ्.ग्य में व्यङ्.ग्यार्थ की प्रतीति के समय भी वाच्य की प्रतीति होती रहती है इसलिये वाच्य-व्यङ्.ग्य के सन्दर्भ में घट प्रदीपन्याय संगत होता है । अतः निष्कर्षतः यह सिद्ध कर दिया कि गया जो तात्पर्यवादी व्यङ्.ग्यार्थ को तात्पर्यविषयीभूत अर्थ मानकर उसे वाच्यार्थ कहते हैं वह अनुचित है । क्योंकि वाक्यार्थ-ज्ञान के समय पद-पदार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती, जबकि व्यङ्.ग्यार्थ में वाच्य-बुद्धि का रहना आवश्यक है इस प्रकार अभिधा, व्यञ्जना दोनों स्वरूपतः और विषयतः भिन्न भिन्न हैं इस प्रकार यहाँ तक मीमांसकों का मत निरस्त कर दिया गया। अब वाच्यार्थ और व्यङ्.ग्यार्थ में घट-प्रदीप न्याय की संगति बताते हुये कहते हैं कि यदि वाच्यार्थ और व्यङ्.ग्यार्थ में कोई न्याय घटित होता है तो वह घट-प्रदीप न्याय ही है।[3] जिस प्रकार घट को प्रकाशित कर दीपक का प्रकाश स्वयं भी विद्यमान रहता है उसी प्रकार व्यङ्.ग्यार्थ को प्रकाशित कर वाच्यार्थ स्वयं भी भासित होता रहता है। इस प्रकार

---

1. तत्रायुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः ।

तर्कभाषा - पृ. 26

2. यैरप्यसत्यत्वमस्या नाभ्युपेयते तैर्वाक्यार्थपदार्थयोर्घटतदुपादानकारणन्यायोऽभ्युपगन्तव्यः । यथाहि घटे निष्पन्ने तदुपादानकारणानां न पृथगुपलम्भस्तथैव वाक्ये तदर्थे वा प्रतीते पदतदर्थानां तेषां तदा विभक्ततयोपलम्भे वाक्यार्थबुद्धिरेव दूरीभवेत् । न त्वेष वाच्यव्यङ्.ग्ययोर्न्यायः, न हि व्यङ्.ग्ये प्रतीयमाने वाच्यबुद्धिर्दूरीभवति, वाच्यावभासाविनाभावेन तस्य प्रकाशनात् ।

ध्व. पृ. 460-61

3. तस्माद् घटप्रदीपन्यायस्तयोः, यथैव हि प्रदीपद्वारेण घटप्रतीतावुत्पन्नायां न प्रदीपप्रकाशो निवर्तते तद्वद्व्यङ्.ग्यप्रतीतौ वाच्यावभासः ।

ध्व. पृ. 461

दोनों की साथ-साथ प्रतीति होती है किन्तु प्रकाशक की सत्ता प्रकाश्य से पहले भी रहती है । ठीक उसी प्रकार वाच्यार्थ की सत्ता व्यड्.ग्यार्थ के पहले भी रहती है । प्रथम उद्योत में आचार्य ने वाच्यार्थ और व्यड्.ग्यार्थ का सम्बन्ध इस प्रकार बताया है -

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जनः ।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः ।।
यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते ।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः ।।
स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रतिपादयन् ।
यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते ।।

यथा पदार्थद्वारेण .... वस्तुनः इस कारिका में भी बाह्य रूप से यह प्रतीत होता है कि वाच्यार्थ और व्यड्.ग्यार्थ में पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय घटित हो रहा है किन्तु ऐसा नहीं है, और ऐसा होने पर तो तात्पर्यवादियों का ध्वनिवादियों से मतैक्य हो जायेगा, अतएव आचार्य ने इसका समाधान करते हुये वहां यह स्पष्ट कर दिया है कि जैसे पदार्थ वाक्यार्थ का उपाय है उसी प्रकार वाच्यार्थ व्यड्.ग्यार्थ का उपाय है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं ।

अब मीमांसक यदि यह शड्.का करे कि घट - प्रदीप न्याय मानने पर तो फिर दोनों अर्थों की एक साथ प्रतीति होगी तो वाक्य की वाक्यता ही विघटित हो जायेगी क्योंकि एकार्थत्व ही उसका लक्षण है । आचार्य इसका भी निषेध करते हुये कहते हैं कि यह दोष सम्भव नहीं है क्योंकि वाच्यार्थ और व्यड्.ग्यार्थ गौण-प्रधान रूप से अवस्थित रहते हैं। व्यड्.ग्यार्थ के प्रधान, वाच्यार्थ के गौण होने पर ध्वनि एवं वाच्यार्थ के प्राधान्य होने पर और व्यड्.ग्यार्थ के गौण होने पर गुणीभूत व्यड्.ग्य होगा । मीमांसक भी विधि अनुवाद, उद्देश्य, उपादेय अथवा गुणप्रधानरूप से युगपद् अर्थद्वय की प्रतीति होने पर भी वाक्य-भेद नहीं मानते हैं, अपितु वाक्यैकत्व ही मानते हैं। इस प्रकार व्यड्.ग्यार्थ अभिधेय नहीं है । व्यञ्जना व्यापार द्वारा गम्य ही है ।

" यत्परः शब्दः स शब्दार्थः " इस सिद्धान्त को मानने वाला मीमांसक यदि व्यड्.ग्यार्थ को तात्पर्यरूप माने तो उसके लिये एक और तर्क

देते हैं कि गुणीभूतव्यङ्ग्य में जहां व्यङ्ग्यार्थ गौण होता है वहां व्यञ्जना-विरोधी भी उसे वाच्य तो नहीं मानेंगे क्योंकि वहां पर तो वाक्य वाच्यार्थपरक होता है, व्यङ्ग्यार्थपरक नहीं। किन्तु इस गुणीभूतव्यङ्ग्य की स्थिति से व्यङ्ग्य का अस्तित्व तो सिद्ध होता ही है और जब एक स्थल में व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता स्वीकार करते हैं तो ध्वनि में जहां कि वह प्राधान्येन अवस्थित है उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है । अतः व्यञ्जकत्व वाचकत्व से भिन्न ही है । व्यञ्जना और अभिधा में आश्रय-भेद भी है । अभिधा केवल शब्दाश्रित होती है, व्यञ्जना शाब्दी और आर्थी दोनों होती है । अतएव अभिधा और तात्पर्य वृत्ति से भिन्न व्यञ्जना वृत्ति है और यदि शब्दार्थाश्रित होने के कारण व्यञ्जना का अस्तित्व माने तो मीमांसक कहेंगे तब तो यह गुण वृत्ति ही है क्योंकि वह भी उभयाश्रित होती है। किन्तु उसका खण्डन भाक्तवाद के प्रसंग में किया जा चुका है । अतः पुनरुक्ति नहीं की जा रही है ।

अभिधा तथा व्यञ्जना में एक और प्रकार से भेद सिद्ध किया जा सकता है शब्द का " वाचकत्व " नियत धर्म है । किन्तु शब्द और अर्थ का जो व्यङ्ग्यार्थ के साथ " व्यञ्जकत्व " सम्बन्ध है वह औपाधिक ही है । यह प्रकरण, वक्ता, बोद्धव्य आदि के वैशिष्ट्य से व्यक्त होता है और यदि वह बोद्धव्य न रहे तो फिर वाच्यार्थमात्र में ही समाप्त हो जायेगा। जैसे "कस्य वा न भवति रोषः" इस वस्तु व्यङ्ग्य के उदाहरण में अन्यसन्निधि वैशिष्ट्य से ही व्यङ्ग्यार्थ निकल रहा है । यदि समीपवर्ती नायक, पड़ोसिन आदि सुनने वाली न हो तो फिर वह वाच्यार्थ में ही पर्यवसित हो जायेगा । किन्तु व्यञ्जकत्व को शब्द का अनियत अर्थात् औपाधिक सम्बन्ध मानने से मीमांसक कहेंगे कि जब यह एक औपाधिक अर्थात् काल्पनिक व्यापार है तो उसके स्वरूप की परीक्षा करने से क्या लाभ । इसका उत्तर देते हुये आचार्य कहते हैं कि व्यञ्जकत्व स्वयं में औपाधिक नहीं है, उसकी प्रतीति भी प्रामाणिक है और व्यङ्ग्यार्थ के साथ तो उसका उसी प्रकार नियत सम्बन्ध है जिस प्रकार अभिधेयार्थ का वाचक शब्द के साथ । अन्तर इतना है कि शब्द के साथ व्यञ्जकत्व का सम्बन्ध वैसा नियत नहीं है जैसा वाचकत्व का सम्बन्ध है । इस प्रकार शब्द के व्यापार के रूप में व्यञ्जना को औपाधिक कहा गया है किन्तु स्वयं में वह औपाधिक अथवा आरोपित नहीं है । उसका स्वरूप निश्चित है । इसको लिंगत्व न्याय से भी समझा जा सकता है । अनुमान प्रमाण में लिंग के द्वारा साध्य का अनुमान किया जाता है जैसे

"पर्वतो वह्निमान धूमवत्वात्" में पर्वत पक्ष है, अग्नि साध्य है तथा धूम लिंग है। {यत्र -यत्र धूमः तत्र-तत्र वहनिः} पर्वत पक्ष में धूम रूप लिंग को देखने से अग्नि का अनुमान होता है, किन्तु यह पक्ष, लिंग आदि का व्यवहार तभी किया जाता है जब अनुमान करने की इच्छा हो किन्तु लिंगभूत धूमका अग्नि के साथ नियत सम्बन्ध सदैव होगा, रसोई में प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती अग्नि में कोई अनुमान नहीं करता । उसी प्रकार शब्द का व्यञ्जकत्व भी प्रयोक्ता के ऊपर निर्भर है । प्रयोक्ता कभी साक्षात् शब्दतः अपने विवक्षितार्थ को कहता है और कभी अनभिधेय रखता है । किन्तु व्यञ्जना होने पर व्यङ्ग्यार्थ भी निश्चित रूप से होगा और जिस प्रकार अग्नि का अनुमान करने के लिये व्याप्ति आदि की अपेक्षा होती है उसी प्रकार व्यञ्जना में वक्ता, प्रकरणादि की अपेक्षा होती है। यही व्यञ्जना और लिंगत्व का साम्य. है। यहां यह तथ्य उल्लेखनीय है कि नैयायिकों का लिंगत्व औपाधिक न होकर स्वाभाविक साहचर्य का नियम है और व्यञ्जकत्व शब्द का औपाधिक धर्म है अतएव व्यञ्जकत्व और लिंगत्व में पूर्णतया साम्य नहीं है अपितु आंशिक एकता है ।[1] लिंगत्व जैसे अपने स्वरूप में नियत है वैसे ही व्यञ्जकत्व भी अपने स्वरूप में नियत है और लिंगत्व अनुमान की इच्छा के आधीन होने के कारण जैसे अनियत है वैसे ही व्यञ्जकत्व प्रयोक्ता की इच्छा के आधीन होने के कारण अनियत है। इस प्रकार व्यञ्जकत्व वाचकत्व का प्रकार नहीं है यदि वह वाचकत्व का प्रकार होता तो शब्द में वाचक के समान नियत होता। आनन्दवर्धन ने मीमांसकों के मत में भी व्यञ्जकत्व रूप औपाधिक शब्द-धर्म की अपरिहार्यता सिद्ध करने का प्रयास किया है । मीमांसा- दर्शन में कहा गया है - औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः [2], शबर स्वामी ने इसकी व्याख्या में लिखा है कि औत्पत्तिक का अर्थ नित्य है " औत्पत्तिक इति नित्यं ब्रूमः " इस प्रकार कोई औपाधिक धर्म हो ही नहीं सकता इसलिये व्यञ्जना भी सम्भव नहीं है । मीमांसकों के अनुसार दो प्रकार के वाक्य होते हैं- एक तो अपौरुषेय, उदाहरणार्थ वेद। इनके प्रामाण्य की आवश्यकता नहीं होती

---

1. तस्माल्लिङ्गप्रतीतिरेव सर्वत्र व्यङ्ग्य प्रतीतिरिति न शक्यते वक्तुम् ।
ध्व. तृ. उ. पृ. 489

2. औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशो व्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् ।
जैमिनिसूत्र 1 1 ।5

क्योंकि ये स्वतः प्रामाण्य हैं। दूसरे प्रकार के वाक्य लौकिक §पोरुषेय§ । इनके प्रामाण्य की आवश्यकता होने के कारण ये परतः प्रामाण्य हैं । पौरुषेय वाक्य में प्रयोक्ता के भ्रम, प्रमादादि दोषों के कारण अप्रामाण्य आ जाता है । मीमांसक शब्द को तो नित्य मानते हैं किन्तु पौरुषेय वाक्य को अनित्य मानते हैं । वस्तुतः यदि शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है तो वाक्य को भी नित्य मानना चाहिये । यदि मीमांसकों के अनुसार लौकिक वाक्य अप्रमाणित माने जायें तो भी इसका बोध अभिधा के द्वारा नहीं हो सकता। क्योंकि चाहे पौरुषेय हो अथवा अपौरुषेय दोनों का समान रूप से अभिधा बोध करायेगा अन्तर केवल उनके तात्पर्य में है चूंकि तात्पर्यार्थ की प्रतीति न अभिधा से हो सकती है न ही लक्षणा से अतएव व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार करना ही पड़ेगा । इसी तर्क को रखते हुये आचार्य आनन्दवर्धन कहते हैं कि शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध मानने वाले, वाक्य के तत्वज्ञाता पौरुषेय और अपौरुषेय वाक्यों में भेद का प्रतिपादन करने वाले, मीमांसकों को भी शब्द का यह व्यञ्जकत्व रूप औपाधिक धर्म स्वीकार करना होगा । अन्यथा शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध मानने से पौरुषेय और अपौरुषेय वाक्यों में समानता होगी । व्यञ्जकत्व को स्वीकार कर लेने पर पौरुषेय वाक्यों में , वाच्यवाचकभाव का परित्याग किये बिना ही, पुरुष की इच्छा का अनुसरण करने वाले व्यञ्जकत्व व्यापार युक्त वाक्यों की मिथ्यार्थता भी प्रतिपादित की जा सकती है । [1]

कुमारिलभट्ट ने लौकिक और वैदिक वाक्यों का भेद स्पष्ट करते हुये लिखा है कि लौकिक वाक्यों में अर्थवश्यता रहती है इसीलिये यदि अर्थैकत्व के कारण वाक्यैकत्व भी होगा । जबकि वैदिक वाक्य में अर्थवश्यता नहीं होती इसलिये वैदिक वाक्य में " अर्थैकत्वात् वाक्यैकत्वम् " न मान कर " वाक्यैकत्वादर्थैकत्वम् " मानना चाहिये । लौकिक वाक्य में वक्ता का अभिप्राय निहित रहता है इसीलिये अर्थवश्य होते हैं जो कि

---

1. स च तथाविध औपाधिको धर्मः शब्दानामौत्पत्तिकशब्दार्थ सम्बन्धवादिना वाक्यतत्वविदा पौरुषापौरुषेययोर्वाक्ययोर्विशेषमभिदधता नियमेनाभ्युपगन्तव्यः, तदनभ्युपगमे हि तस्य शब्दार्थसम्बन्धनित्यत्वे सत्यप्यपौरुषेयपौरुषेययोर्वाक्ययोरर्थप्रतिपादने निर्विशेषत्वं स्यात् । तदभ्युपगमे तु पौरुषेयाणां वाक्यानां पुरुषेच्छानुविधानसमारोपितौपाधिक व्यापारान्तराणां सत्यपि स्वाभिधेयसम्बन्धापरित्यागे मिथ्यार्थतापि भवेत् ।

ध्व॰ पृ॰ 478

ध्वनिकार भी मानते हैं। उनके अनुसार वक्ता का अभिप्राय सर्वदा व्यङ्ग्यरूप होता है अतएव मीमांसकों को भी व्यञ्जना व्यापार स्वीकार करना चाहिये ।

अब एक दूसरा भी तर्क देते हैं उदाहरणार्थ संसार में कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं जो अपने स्वभाव का त्याग किये बिना अन्य सामग्री के सहयोग से औपाधिक व्यापार के द्वारा विपरीत प्रवृत्ति दिखाते हैं । जैसे चन्द्रमा शीतलता प्रदान करने वाला है किन्तु विरह-व्यथित व्यक्ति के लिये संतापकारी हो जाता है । यहां पर चन्द्रमा का स्वभाव है शीतलता किन्तु प्रिया-विरह रूप सामग्री से सहकृत होकर वह अपना स्वभाव न छोड़ते हुये भी संतापकारित्व रूप औपाधिक (विरुद्ध) धर्म करता है। इसी प्रकार शब्द और अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध तो वाच्यवाचक भाव है किन्तु प्रकरणादि सामग्री से सहकृत होकर व्यञ्जकत्व रूप औपाधिक धर्म भी मानना पड़ेगा। ऐसा मानने पर ही लौकिक वाक्यों का मिथ्यात्व प्रतिपादित हो सकेगा और वैदिक वाक्यों से व्यावर्तक सिद्ध हो सकेगा। क्योंकि प्रायः सभी पौरुषेय वाक्य औपाधिक होते हैं क्योंकि उनमें वक्ता का अभिप्राय व्यङ्ग्यरूप निहित रहता है जबकि वैदिक वाक्य में तो उपाधि का प्रश्न ही नहीं उठता । फलतः मीमांसकों के मतानुसार व्यञ्जना व्यापार शब्द-व्यापार विरोधी नहीं अपितु अनुकूल ही है।[1] अविद्यासंस्काररहितशब्दब्रह्म को स्वीकार करने वाले विद्वान् वैयाकरणों के सिद्धान्त में प्रक्रिया दशा में भले ही प्रकृति, प्रत्यय, वर्ण, पद, वाक्य की सत्ता स्वीकार की जाती है किन्तु वहां परमार्थतः पदस्फोट का ही प्राधान्य होता है। इस प्रकार पद-वाक्य की दृष्टि में प्रकृति, प्रत्यय आदि असत्य माने जाते हैं किन्तु वास्तव में वैयाकरणों के प्रति आचार्य का कोई विरोध नहीं है क्योंकि वे व्यञ्जकत्व के लिये वैयाकरणों के ऋणी हैं । इसलिये वैयाकरणों से विरोध-अविरोध

---

1. दृश्यते हि भावानामपरित्यक्तस्वस्वभावानामपि सामग्र्यन्तरसम्पातसम्पादि-तौपाधिकव्यापारान्तराणां विरुद्धक्रियत्वम् । तथा हि हिममयूखप्रभृतीनां निर्वापितसकलजीवलोकं शीतलत्वमुद्वहतामेव प्रियाविरहदहनदह्यमान-मानसैर्जनैरालोक्यमानानां सतां सन्तापकारित्वम् प्रसिद्धमेव । तस्मात्पौरुषेयाणां वाक्यानां सत्यापि नैसर्गिकेऽर्थसम्बन्धे मिथ्यार्थत्वं समर्थयितुमिच्छता वाचकत्वव्यतिरिक्तं किंचिद्रूपमौपाधिकं व्यक्तमेवाभिधानीयम् । तच्च व्यञ्जकत्वादृते नान्यत् । .... तस्माद्वाक्यतत्वविदां मतेन तावद्व्यञ्जकत्वलक्षणः शाब्दो व्यापारो न विरोधी प्रत्युतानुगुण एव लक्ष्यते । ध्व. पृ. 478-481

का प्रश्न ही नहीं उठता । [1]

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को कृत्रिम मानने वाले नैयायिकों के मत में शब्द का अन्य अर्थों के प्रति व्यञ्जकत्व तो दीपक में प्रकाशकत्व की भाँति अनुभवसिद्ध है। अतः विरोध का अवसर ही नहीं है । [2] आचार्य कहते हैं कि नैयायिकों का वाचकत्व के विषय में तो मतभेद हो सकता है कि क्या वाचकत्व नैसर्गिक है अथवा कृत्रिम। किन्तु व्यञ्जकत्व तो लोकप्रसिद्ध तथा अनुभूत है अतएव इसमें मतभेद नहीं हो सकता । नैयायिक "आत्मा" जैसे अप्रत्यक्ष तत्व के सम्बन्ध में विरोध कर सकते हैं किन्तु प्रत्यक्ष जो नील है उसे तो नील ही कहेंगे पीत अथवा अन्य कुछ नहीं। इसी प्रकार वाचक शब्दों का तथा अवाचक शब्दरूप गीतादि ध्वनियों के व्यञ्जकत्व का अपलाप नहीं किया जा सकता [3] क्योंकि यह प्रत्यक्षसिद्ध है । विद्वानों की गोष्ठियों में शब्दतः अनभिधेय रमणीय अर्थ को अभिव्यक्त करने वालें वचन कहे जाते हैं, इस सत्य को कौन अस्वीकार करेगा । [4] आनन्दवर्धन उपर्युक्त पंक्तियों से व्यञ्जना की महत्ता सूचित करते हैं कि विद्वानों की गोष्ठियों में व्यङ्ग्यार्थपूर्ण वचन कहे जाते हैं । अतएव यह सामान्यजन की बात नहीं है । इसका संकेत प्रथम उद्योत में भी आचार्य कर चुके हैं ।

पूर्व पृष्ठ में मीमांसकों के खण्डन में एक बार आचार्य ने व्यञ्जकत्व और लिंगत्व साम्य से भी व्यञ्जना को सिद्ध किया था अतएव अनुमितिवादी नैयायिक यह कह सकते हैं कि जब शब्दों का व्यञ्जकत्व

---

1. परिनिश्चितनिरपभ्रंशशब्दब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहार इति तैः सह किं विरोधाविरोधौ चिन्त्येते ।
– ध्व. पृ. 481
2. कृत्रिमशब्दार्थसम्बन्धवादिनां तु युक्तिविदामनुभवसिद्ध एवायं व्यञ्जकभावः ।
ध्व. पृ. 482
3. अलौकिके ह्यर्थे तार्किकाणां विमतयो निखिलाः प्रवर्तन्ते न तु लौकिके । ..... न हि बाधारहितं नीलं नीलमिति ब्रुवन्नपरेण प्रतिषिध्यते नैतन्नीलं पीतमेतदिति । तथैव व्यञ्जकत्वं वाचकानां शब्दानामवाचकानां च गीतध्वनीनामशब्दरूपाणां च चेष्टादीनां यत्सर्वेषामनुभवसिद्धमेव तत्केनापह्नूयते ।
ध्व. पृ. 483
4. अशब्दमर्थं रमणीयं हि सूचयन्तो व्यवहारास्तथा व्यापारा निबद्धाश्चानिबद्धाश्च विदग्धपरिषत्सु विविधा विभाव्यन्ते ।

लिङ्गत्वरूप है अर्थात् व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव लिङ्गलिङ्गिभाव ही है और वक्ता का भाव अनुमेय होता है अतः व्यञ्जना अनुमिति में अन्तर्भूत है, अतएव पृथक् रूप से विवेचनीय नहीं है। इसका भी खंडन आचार्य प्रौढ़िवाद का सहारा लेते हुये इस प्रकार करते हैं "चलिये आपकी बात ही मान लें तब भी व्यञ्जना अभिधा और लक्षणा से तो पृथक् ही हुई । भले ही व्यञ्जकत्व को लिंगत्व रूप मानिये किन्तु वह प्रसिद्ध सम्बन्ध और लक्षकत्व से सर्वथा भिन्न है।[1] इस प्रकार व्यञ्जना का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध हुआ । पर चूंकि व्यञ्जकत्व सर्वत्र लिंगत्व रूप नहीं होता और व्यङ्ग्य की प्रतीति सर्वत्र लिंगी की प्रतीति के समान नहीं होती अतएव व्यञ्जना अनुमिति में अन्तर्भूत नहीं हो सकती ।"

शब्दों का विषय दो प्रकार का होता है एक अनुमेय और दूसरा प्रतिपाद्य । वक्ता की विवक्षा अनुमेय रूप है और वह विवक्षा भी दो प्रकार की है ।

(1) शब्द के स्वरूप के प्रकाशन की इच्छा

(2) शब्द से अर्थ के प्रकाशन की इच्छा

पहली तो शब्द व्यवहार के योग्य नहीं है किन्तु दूसरी अर्थ प्रकाशन की इच्छा शब्द व्यवहार का अङ्ग है । ये दोनों अनुमेय है ।[2]

प्रयोक्ता की अर्थ प्रतिपादन की इच्छा का विषयीभूत अर्थ शब्द का प्रतिपाद्य है । यह भी दो प्रकार का है वाच्य तथा व्यङ्ग्य । प्रयोक्ता कभी वाचक शब्द से अर्थ को प्रकाशित करना चाहता है और कभी प्रयोजनवश अनभिधेय ही रखता है । दोनों प्रतिपाद्य कभी अनुमेय

---

1. सर्वथा प्रसिद्धशाब्दप्रकारविलक्षणत्वं शब्दव्यापारविषयत्वं च तस्यास्तीति नास्त्येवावयोर्विवादः । ध्व. पृ. 485

2. द्विविधो विषयः शब्दानाम्—अनुमेयः प्रतिपाद्यश्च । तत्रानुमेयो विवक्षालक्षणः । विवक्षा च शब्दस्वरूपप्रकाशनेच्छा शब्देनार्थप्रकाशनेच्छा चेति द्विप्रकारा ।--- ते तु द्वे ऽप्यनुमेयो विषयः शब्दानाम् । प्रतिपाद्यस्तु प्रयोक्तुरर्थप्रतिपादनसमीहाविषयीकृतोऽर्थः । स च द्विविधः—वाच्यो व्यङ्ग्यश्च । प्रयोक्ता हि कदाचित्स्वशब्देनार्थं प्रकाशयितुं समीहते कदाचित्स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रयोजनापेक्षया कयाचित् । स तु द्विविधोऽपि प्रतिपाद्यो विषयः शब्दानां न लिङ्गितया स्वरूपेण प्रकाशते अपितु कृत्रिमेणाकृत्रिमेण वा सम्बन्धान्तरेण ।

नहीं हो सकता है इसलिये शब्द तथा उसके प्रतिपाद्य में परस्पर लिङ्.गलिङ्.गभावसम्बन्ध नहीं है अपितु या तो नियत ≬अकृत्रिम≬ सम्बन्ध होगा अथवा व्यञ्जकत्व रूप औपाधिक ≬कृत्रिम≬ सम्बन्ध होगा । यदि अर्थ का स्वरूप अनुमेय होता तो कभी भी अर्थ के विषय में सम्यकत्व और मिथ्यात्व का विवाद ही न होता जैसा कि धूम के द्वारा अनुमित अग्नि के सम्बन्ध में कभी भी मिथ्यात्व का विवाद नहीं खड़ा होता है ।

" वाच्यार्थ शब्द का साक्षात् सम्बन्धी है किन्तु व्यङ्.ग्यार्थ नहीं फलतः व्यङ्.ग्य शब्द प्रमाण का विषय नहीं होता " यदि यह तर्क दें तो यह भी अनुपयुक्त है क्योंकि व्यङ्.ग्यार्थ वाच्यार्थ की सामर्थ्य से आक्षिप्त है अतएव वह साक्षात् सम्बन्धी न होकर परम्परया सम्बन्धी है ।

दूसरी प्रबल युक्ति यह है कि जिस प्रकार दीपक घट का अनुमापक नहीं बनता क्योंकि घट का प्रत्यक्ष पूर्वसिद्ध है और उसे कोई अप्रामाणिक भी नहीं कह सकता उसी प्रकार व्यङ्.ग्यव्यञ्जकभाव भी चूंकि अनुभवसिद्ध है अतएव उसका अपलाप नहीं किया जा सकता । फलस्वरूप व्यञ्जकत्व लिङ्.गत्वरूप मानना उचित नहीं है ।

इस प्रकार निष्कर्षतः व्यञ्जना वृत्ति अभिधा, लक्षणा आदि से विलक्षण व्यापार है । जिसका अपह्नव करने का दुस्साहस करना स्वयं को उपहास का पात्र बनाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।

> तदेवं गुणवृत्तिवाचकत्वादिभ्य शाब्दप्रकारेभ्यो नियमेनैव तावद्विलक्षणत्वं व्यञ्जकत्वम् । "

इस प्रकार व्यञ्जना-रक्षार्थ आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा प्रयुक्त युक्तियों का समीक्षात्मक विवेचन करने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि काव्य - जगत में ध्वनि - सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त की आधारशिला व्यञ्जना वृत्ति का अनुपम प्रकाश विकीर्ण करके काव्य-शास्त्रियों को स्तम्भित कर दिया है । आनन्दवर्धन को काव्य-शास्त्र के इतिहास में वही स्थान प्राप्त है जो प्रतिष्ठा व्याकरण के क्षेत्र में महर्षि पाणिनि और दर्शन-शास्त्र के क्षेत्र में आचार्य शंकर को प्राप्त हुई है । उन्होंने अपने पूर्व काव्य-शास्त्रीय मान्यताओं एवं आलोचना के सिद्धान्तों को नई दिशा में मोड़कर व्यञ्जनावृत्ति के लिये एक सुव्यवस्थित, निष्कंटक मार्ग

प्रतिष्ठित किया है । पंडितराज जगन्नाथ ने कहा है कि आनन्दवर्धन ने आलंकारिकों के लिये एक नवीन सरणि व्यवस्थित की है।

" ध्वनिकृतामालंकारिकसरणिव्यवस्थापकत्वात् "

भामह शब्द और अर्थ को काव्य-शरीर मानकर अलंकारों को सौन्दर्य का प्रयोजक मानते थे (न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्) वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है किन्तु आनन्दवर्धन ने काव्य के अन्तराल में प्रवेशकर सौन्दर्य के रहस्यमय तत्व " ध्वनि " को खोजा और उसे ही काव्य की आत्मा माना जिसका कि परवर्ती आचार्यों के विरोध करने पर भी उन्मूलन न हो सका और इसी प्रतीयमानार्थ (ध्वनि) को अभिव्यक्त करने वाला व्यापार व्यञ्जना उनकी नवीन उद्भावना है । जिसका विरोध होना स्वाभाविक ही था । व्यञ्जना व्यापार वाचकत्व और गुणवृत्ति से सर्वथा पृथक् व्यापार है यह उनकी तर्कपूर्ण युक्तियों से सिद्ध हो जाता है । वस्तुतः व्यञ्जना की धारणा भारतीय काव्य-शास्त्र की महती उपलब्धि है जो काव्यार्थ के सम्पूर्ण क्षेत्र को आलोकित करती है । उपर्युक्त विशेषताओं के कारण ही परवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने इसे आधार मानकर अपने ग्रन्थों को उपन्यस्त किया है ।

<u>अभिनवगुप्त</u> -

अभिनवगुप्त (ध्वन्यालोक के टीकाकार) ने भी ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में ही चतुर्थ कारिका की व्याख्या करते हुये वाच्यार्थ का व्यङ्ग्यार्थ से भेद स्पष्ट करते हुये व्यञ्जना वृत्ति की स्थापना पर बल दिया है । " भ्रम धार्मिक विश्रब्धः " इस उदाहरण की व्याख्या करते हुये अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद, भट्ट नायक, वेदान्तियों आदि का खण्डन किया है । आनन्दवर्धनाचार्य ने मीमांसकों के दोनों समुदायों अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद का एक साथ ही खण्डन किया है किन्तु अभिनवगुप्त ने दोनों समुदायों के मतों का एकैकशः खण्डन कर व्यञ्जना वृत्ति की अपरिहार्यता पर बल दिया है ।

अभिहितान्वयवादी मीमांसकों की ओर से यह शङ्का है कि निषेधरूप व्यङ्ग्यार्थ ही तात्पर्यार्थ है । तात्पर्यार्थ ही वाक्यार्थ होता है । मीमांसकों के अनुसार धार्मिक और दृप्त आदि पदों के परस्परअन्वय न हो

सकने के कारण विपरीतलक्षणा की सहायता से तात्पर्यशक्ति निषेधरूप वाक्यार्थ का बोध करायेगी, चूंकि तात्पर्य और लक्षणा दोनों अभिधाश्रित होते हैं अतएव व्यञ्जना की कोई आवश्यकता नहीं। सामान्यतः लोक में[1] "इसने ऐसा कहा" यह प्रयोग होता है न कि व्यञ्जित किया ।

उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि अभिहितान्वयवाद में तीन व्यापार हैं । ﴾1﴿ अभिधा ﴾2﴿ तात्पर्य ﴾3﴿ लक्षणा । अभिनवगुप्त कहते हैं कि अभिधा से पदार्थ-बोध होता है, तात्पर्यवृत्ति से आकांक्षा, सन्निधि योग्यतावशात् अन्वयरूप वाक्यार्थ का बोध होता है । वाक्यार्थ बोध के उपयुक्त हेतु न होने पर तात्पर्यवृत्ति समाप्त हो जाती है और लक्षणा के कारण यदि हैं तो लक्षणा का अवसर आता है । उदाहरणार्थ " गङ्.गायां घोषः " " सिंहो वटुः " इन वाक्यों में अभिधा से सर्वप्रथम शब्दों का अर्थ ज्ञात होता है किन्तु जब तात्पर्या वृत्ति का अवसर आता है तो वहां योग्यता का अभाव होने के कारण परस्पर अन्वय बाधित हो जाता है किन्तु ऐसी बात "तब भ्रमणनिषेद्धा स श्वा सिंहेन हतः" में नहीं है चूंकि यहां पर अन्वय में कोई क्षति नहीं है अतएव न तो मुख्यार्थ बाध है न ही विपरीतलक्षणा का अवसर आता है ।[2]

---

1. ननु तात्पर्यशक्तिरपर्यवसिता विवक्षया दृप्तधार्मिकतदादिपदार्थान्वयरूप मुख्यार्थबाधबलेन विरोधनिमित्तया विपरीतलक्षणया च वाक्यार्थीभूतनिषेध प्रतीतिमभिहितान्वयदृशा करोतीति शब्दशक्तिमूल एव सोऽर्थः । एवम- नेनोक्तमिति हि व्यवहारः, तन्न वाच्यातिरिक्तोऽन्योऽर्थ इति ।

ध्व. लो. पृ.54

2. नैतत्, त्रयो ह्यत्र व्यापाराः संवेद्यन्ते पदार्थेषु सामान्यात्मस्वभिधाव्यापारः समयापेक्षयार्थावगमनशक्तिर्ह्यभिधा । समयश्च तावत्येव, न विशेषांशे, आनन्त्याद्व्यभिचाराच्चैकस्य । ततो विशेषरूपे वाक्यार्थे तात्पर्यशक्तिः परस्परान्विते, "सामान्यान्यन्यथासिद्धेर्विशेषं गमयन्ति हि " इति न्यायात् । तत्र च द्वितीयकक्ष्यायां "भ्रमे" ति विध्यतिरिक्तं न किन्चित् प्रतीयते, अन्वयमात्रस्यैव प्रतिपन्नत्वात् । न हि "गङ्.गायां घोषः" "सिंहो वटुः" इत्यत्र यथान्वय एव बुभूषन् प्रतिहन्यते, योग्यताविरहात्, तथा तव भ्रमणनिषेद्धा स श्वा सिंहेन हतः, तदिदानीं भ्रमणनिषेधकारणवैकल्याद् भ्रमणं तवोचितमित्यन्वयस्य काचित्क्षतिः । अत एव मुख्यार्थबाधा नात्र शङ्.कयेति न विपरीतलक्षणाया अवसरः ।

ध्व. लो. पृ.54 - 55

यदि किसी प्रकार मुख्यार्थ बाध मान भी लें तो भी निषेधपरक व्यङ्‌ग्यार्थ तात्पर्यवृत्ति द्वारा सम्भव नहीं है। मीमांसक तात्पर्यार्थ और विपरीत लक्षणा को एक ही कक्षा में संक्रान्त मानता है, इस अनौचित्य का परिहार करते हुये लोचनकार कहते हैं कि यदि तुष्यदुर्जनन्यायेन लक्षणा मान भी लें तो त्रिस्थूणा लक्षणा वहीं पर हो सकती है जहां मुख्यार्थ-बाध हो। बाध का अर्थ है विरोध की प्रतीति। यह दो प्रकार की होती है एक तो शब्दों की अन्तरात्मा का विरोध, दूसरा अन्वय का विरोध। प्रस्तुत "भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन" में शब्दों की अन्तरात्मा का तो विरोध है नहीं यह तो सभी को स्वीकार्य है। रही बात अन्वय के विरोध की प्रतीति तो अन्वय के विरोध की प्रतीति तभी होगी जबकि अन्वय प्रतिपन्न हो जाये । अन्वय की प्रतीति तो अभिधा से हो नहीं सकती क्योंकि वह तो पदों के अर्थ देकर क्षीण हो जाती है, अतएव तात्पर्य वृत्ति से ही अन्वय की प्रतीति होगी । कहने का आशय यह है कि लक्षणा के स्थलों में भी "सिंहो वटुः " में आकांक्षावशात् ही सिंह और बालक के मुख्यार्थ का अन्वय हो सकता है जिसका अर्थ है कि सिंह और बालक के तादात्म्य की प्रतीति । इस अन्वय की प्रतीति के पश्चात् ही विरोध की प्रतीति होती है । आशय यह है कि जब तक अन्वय की प्रतीति नहीं होगी, अन्वय के विरोध की प्रतीति नहीं हो सकती।

पूर्वपक्षी इस पर तर्क देते हैं कि यदि बाधित अन्वय की प्रतीति माने तो "अंगुल्यग्रे करिवरशतम्" में भी अन्वय की प्रतीति माननी पड़ेगी । इसका उत्तर देते हुये लोचनकार कहते हैं कि साकांक्ष पदार्थों के होने पर अन्वय की प्रतिपत्ति अवश्य होगी निराकांक्ष पदों में अन्वय की प्रतीति नहीं होती । उदाहरणार्थ महाभाष्य के निम्नलिखित उदाहरण -

> "दश दाडिमानि, षडपूपाः, कुण्डम्, अजाजिनम्, पललपिण्डः,
> अधरोरुकमेतत्कुमार्याः, स्फैयकृतस्य पिता प्रतिशीनः ।"[1]

इस प्रकार साकांक्ष पदों में अन्वय तो प्रतिपन्न हो जायेगा किन्तु उसका प्रत्यक्षादि प्रमाणों के आधार पर उसी प्रकार बाध होता है जैसे शुक्ति में रजत ज्ञान का । और उसका अवगम कराने वाला वाक्य अप्रामाणिक हो जाता है। पूर्वपक्षी यह कह सकते हैं कि तब तो "सिंहो वटुः" भी अन्वय के विरोध होने पर अप्रामाणिक होगा, किन्तु ऐसा नहीं है। प्रस्तुत "सिंहो वटुः" में सबसे पहले अभिधा से पदार्थ का बोध, तात्पर्यवृत्ति से अन्वय की प्रतीति और अन्वय का बाध होने पर लक्षणा

उपस्थित हो जाती है जो कि वाक्य को प्रामाणिक बनाती है । आचार्य अभिनवगुप्त यहाँ पर लक्षणा और व्यञ्जना का भेद बताते हुये कहते हैं कि दोनों एक नहीं हो सकते क्योंकि लक्षणा तृतीय कक्ष्यानिविष्ट है और व्यञ्जना चतुर्थकक्ष्यानिवेशी है ।[1] अथ प्रयोजन–प्रतिपत्ति के लिये व्यञ्जना की अनिवार्यता पर प्रकाश डालते हुये कहते हैं कि गङ्‌.गाया घोषः में शैत्य, पावनत्वादि प्रयोजन की प्रतीति व्यञ्जनाव्यापारद्वारा गम्य है। अन्य अनुमान प्रमाण या स्मृति द्वारा सम्भव नहीं है । गङ्‌.गायां घोषः में अनुमान की प्रक्रिया इस प्रकार होगी ।

गङ्‌.गातटं गङ्‌.गागतपवित्रत्वादिधर्मवत्
गङ्‌.गासामीप्यात् मुनिजनादिवत्

यहाँ पर व्याप्ति होगी जो गङ्‌.गा के समीप होता है वह पवित्र होता है किन्तु यह व्याप्ति अव्याप्त है क्योंकि गङ्‌.गा के समीप कपाल, अस्थियां आदि भी रहती हैं अतएव हेतु अनैकान्तिक दोष से दुष्ट है। इसी प्रकार सिंहो वटुः में अनुमान की प्रक्रिया इस प्रकार होगी वटु सिंह धर्मवाला है, क्योंकि सिंहशब्द वाच्य है जैसे वास्तविक सिंह । वह भी स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है । अतएव अनुमान प्रमाण प्रयोजन की प्रतीति नहीं करा सकता, यदि हेत्वाभास के निवारणार्थ अनुमान की दूसरी प्रक्रिया बनाई जाये ।

तटं गङ्‌.गागत पवित्रत्वधर्मवत्
लाक्षणिकगङ्‌.गाशब्दविषयत्वात्

"यत्र यत्रैवं लाक्षणिकगङ्‌.गाशब्दप्रयोगः तत्र तत्र तद्धर्मयोगः इत्यनुमानम्" किन्तु इस व्याप्ति के लिये कोई प्रमाण होना चाहिये जिससे वह पूर्व सिद्ध हो किन्तु ऐसा है नहीं अतएव अनुमान प्रमाण प्रयोजन की प्रतीति कराने में असमर्थ है स्मृति भी सर्वथा असमर्थ है क्योंकि स्मृति उसी की हो सकती है जो पूर्वानुभूत हो तथा कोई नियामक भी नहीं कि अमुक स्थल पर अमुक धर्म का स्मरण होवे अतएव प्रयोजन की प्रतीति, अनुमान और स्मृति दोनों से ही परे है । यहाँ पर शाब्दव्यापार ही मानना उचित होगा । अभिधा व्यापार

---

1. न चैवं भक्तिरेव ध्वनिः, भक्तिर्हि लक्षणाव्यापारस्तृतीयकक्ष्यानिवेशी । चतुर्थ्यां तु कक्ष्यायां ध्वननव्यापारः ।

–ध्व. लो. पृ. 57

हो नहीं सकता क्योंकि यहां पर संकेतग्रहण नहीं है। तात्पर्य शक्ति अन्वयप्रतीति में ही क्षीण हो जाती है, लक्षणा का यहां पर हेतु नहीं है अतएव लक्षणा का अवसर नहीं है जैसे गङ्गायां घोषः में गङ्गा शब्द तट रूप अर्थ देने में स्खलद्गति था उस प्रकार "शैत्य पावनत्व" अर्थ देने में नहीं और यदि यहां पर भी मुख्यार्थ-बाध माने तो फिर उसके लिये प्रयोजन और फिर मुख्यार्थ बाध तथा फिर प्रयोजन इस प्रकार अनवस्था दोष से दुष्ट हो जायेगा ।[1] अतएव जो किसी ने यहां पर लक्षितलक्षणा मानी है वह व्यसनमात्र है । यहां पर अभिधा, तात्पर्य, लक्षणाव्यतिरिक्त चतुर्थ ध्वनन व्यापार ही मानना चाहिये ।[2]

इस प्रकार तीनों शक्तियों से उत्पन्न अर्थावगमन रूप मूल से प्रादुर्भूत तथा उस अभिधेय इत्यादि अर्थ के प्रतिभास अर्थात् निरन्तर प्रतीति से पवित्रित परिशीलक की प्रतिभा की सहायता से अर्थ द्योतन की शक्ति को ध्वनन व्यापार कहते हैं जो पहले सम्पन्न हुये तीनों व्यापारों को दबाकर काव्य की आत्मा बनता है ।निषेधअर्थ प्रमुख है और उसी के द्वारा संकेत स्थान की सुरक्षा व्यक्त होती है इसलिये निषेध अर्थ का होना कह दिया गया है यह उत्तर तो इस बात को मानकर दिया गया है कि प्रस्तुत स्थान पर लक्षणा होती है वस्तुतः लक्षणा यहां होती ही नहीं। इस आशय से प्रयोजन विषय होते हुये भी निषेधमुख से प्रवृत्त होने के कारण निषेधविषय होता है यह बात केवल विरोधी की स्वीकृति मात्र के द्वारा कही गई है वस्तुतः यहां "भ्रम धार्मिक" में लक्षणा का अवसर ही नहीं है क्योंकि यहां पर न तो वाच्यार्थ का अत्यन्त तिरस्कार है, न ही अर्थान्तर संक्रमित है । प्रस्तुत उदाहरण तो अर्थशक्तिमूलध्वनि का है इसमें तो लक्षणा हो ही नहीं सकती । सहकारी के भेद से लक्षणा और व्यञ्जना का भेद स्पष्ट ही है जैसे लक्षणा के सहकारी मुख्यार्थबाधादि है उसी

---

1. (क) व्यापारश्च नाभिधात्मा समयाभावात् । न तात्पर्यात्मा, तस्यान्वयप्रतीतावेव परिक्षयात् । न लक्षणात्मा, उक्तादेव हेतोः स्खलद्गतित्वाभावात् । तत्रापि हि स्खलद्गतित्वे पुनर्मुख्यार्थबाधा निमित्तं प्रयोजनमित्यनवस्था स्यात् । —ध्व. लो. पृ. 59-60

(ख) मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम् ।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः ।।
ध्व. लो. पृ. 60

2. तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ---अभ्युपगन्तव्यः ।
— ध्व. लो. पृ. 60

प्रकार व्यन्जना के वक्ता, बोद्धव्य, प्रकरणादि है। इस प्रकार अभिहितान्वयवादी को व्यञ्जना व्यापार स्वीकार करना ही पड़ेगा ।[1]

अन्विताभिधानवादी मीमांसक यत्परः शब्द स शब्दार्थः को मानकर "सोऽयमिषोरिवदीर्घदीर्घतरो व्यापारः" आदि युक्ति देकर व्यञ्जनावृत्ति को अभिधा में अन्तर्भूत करना चाहते हैं । उनका खण्डन करते हुये लोचनकार कहते हैं यदि शब्द का दीर्घ-दीर्घतर व्यापार होता है तो सब व्यापारों को हम एक ही व्यापार कैसे कह सकते हैं जबकि सब व्यापार परस्पर विषयगतभेद से भिन्न-भिन्न हैं । वाच्यार्थ का विषय वाच्य, लक्ष्यार्थ का विषय लक्ष्य, तथा व्यंग्यार्थ का विषय व्यंग्य एक न होकर अनेक हैं, विषय की ही भांति सहकारी भी भिन्न-भिन्न है, अथार्त जितने रूप के अभिधा व्यापार हैं वे भी भिन्न जातीय होंगे । यदि वे सजातीय माने जाये तो ऐसा सम्भव नहीं । "शब्द-बुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभाव" के शब्दतत्ववेत्ता अनुसार विद्वानों ने यह नियम बना दिया है कि सजातीय कार्य में शब्द, बुद्धि और कार्यों का रूक-रूक कर व्यापार नहीं होता । इस नियम के अनुसार एक प्रकार का व्यापार एक अर्थ देकर क्षीण हो जाता है, अर्थान्तर की प्रतीति के लिये उसका पुनरुत्थान सम्भव नहीं है। यदि व्यंग्य रूप अर्थान्तर को भी मीमांसकों के अनुसार अभिधाग्राह्य मान लिया जाये तो फिर वाच्यरूप अर्थ देने के लिए अभिधा से भिन्न व्यापार मानना ही पड़ेगा। और जब आपने व्यापारों की असजातीयता मान ही ली तो फिर अन्तर केवल नाम का ही है, क्योंकि व्यन्जनावादी भी व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के लिये भिन्न व्यापार व्यञ्जना को स्वीकार करता है अतएव हमारा ही सिद्धान्त गतार्थ हुआ ।[2]

यदि पूर्वपक्षी के दीर्घदीर्घतर व्यापार का अभिप्राय यह है कि अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या का अतिक्रमण करके चतुर्थकक्ष्यानिवेशी जो यह व्यङ्ग्यार्थ है वह शीघ्र ही वाक्य के द्वारा अभिहित हो जाता है तो

1- एवमभिहितान्वयवादिनामियदनपह्नवीयम् । - ध्व. लो. पृ. 62

2- भिन्नविषयत्वात् । अथानेकोऽसौ तद्विषयसहकारिभेदादसजातीय एव युक्तः । सजातीये च कार्ये विरम्यव्यापारः शब्दकर्मबुद्ध्यादीनां पदार्थविद्भिर्निषिद्धः । असजातीये चास्मन्नय एव ।

- ध्व. लो. पृ. 62

अभिनवगुप्त कहते हैं कि यह उचित नहीं क्योंकि अभिधा से उसी की प्रतीति होती है जिसमें संकेत ग्रहण होता है क्योंकि व्यड्.ग्यार्थ में तो संकेतग्रह है नहीं अतएव उसकी साक्षात् प्रतिपत्ति कैसे सम्भव है अर्थात् अभिधा व्यड्.ग्यार्थावबोध में असमर्थ है ।

यदि अन्विताभिधानवादी यह कहें कि निमित्त में सड्.केत होता है और नैमित्तिक अर्थ को सड्.केत की अपेक्षा नहीं होती। इनका तात्पर्य यह है कि वाक्य को सुनते ही उसका अन्तिम अर्थ अर्थात् व्यड्.ग्यार्थ सर्वप्रथम भासित होता है। इसका खण्डन करते हुये अभिनवगुप्त कहते हैं कि जरा श्रोतिय की उक्तिकुशलता तो देखिये इन मीमांसकों के यहां कार्य पहले होता है कारण बाद में अर्थात् मीमांसक का प्रपौत्र मीमांसक को जन्म देता है। यदि पूर्वपक्षी यह कहें कि क्योंकि पहले संकेत ग्रहण हो चुका है इसलिये बुद्धि में वह संकेतग्रह स्थित रहता है और बाद में जब वाक्य सुना तो तुरन्त व्यड्.ग्यार्थबोध हो जाता है अतः पदार्थों के निमित्तत्व और पार्यन्तिक वाक्यार्थ में कोई विरोध नहीं है। इसका उत्तर यह है कि चूंकि व्यड्.ग्यार्थ में संकेतग्रह हुआ नहीं तो अभिधावृत्ति के आधार पर उसकी प्रतीति कैसे मान सकते हैं । और लोचनकार का दूसरा तर्क यह है कि अन्विताभिधानवादी तो पदार्थों में संकेतग्रह कैसे मान सकता है । क्योंकि आपके मतानुसार तो सदैव अन्वित दशा में अर्थात् गवादि पदों में ही संकेतग्रहण होता है । और यदि आप यह कहें कि वैसे तो संकेतग्रह अन्वित में ही होता है किन्तु शब्दों के अवाप और उद्‌वाप ﴾ शब्दों के प्रवेश और निर्गम ﴿ के द्वारा संकेतग्रह पदार्थमात्र में भी हो सकता है तब तो फिर संकेतग्रह के पश्चात् ही व्यड्.ग्यार्थ का बोध होगा अर्थात् व्यड्.ग्यार्थ वाच्यार्थ से परवर्ती ही होगा और जो आपने व्यड्.ग्यार्थ की झटिति प्रतीति मानी तो वह तो हम भी स्वीकार करते हैं। आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रथम उद्योत की 12 वीं कारिका में इसी तथ्य का उल्लेख किया है –

तद्‌वत्सचेतसां योऽर्थो वाक्यार्थविमुखात्मनाम् ।
बुद्धौ तत्वावभासिन्यां झटित्येवावभासते ।।

यहां पर लोचनकार ने स्पष्ट किया है कि वस्तुतः वाच्य और व्यड्.ग्य में क्रम तो है किन्तु सहृदयों को अभ्यासवश झटिति व्यड्.ग्यार्थप्रतीति के पूर्ववर्ती पदार्थबोध

आदि की प्रतीति नहीं होती जिस प्रकार धूम को देखकर तुरन्त अग्नि का अनुमान होता है व्याप्तिग्रह, लिंगपरामर्श इत्यादि क्रम की संभावना होते हुये भी प्रतीति नहीं होती । अथवा इस प्रकार समझ लीजिये गो आदि पद को देखते ही उनके पदार्थ का बोध हो जाता है जबकि अर्थबोध की इस प्रक्रिया में संकेतग्रह, संकेतस्मृति आदि का क्रम विद्यमान है किन्तु प्रतीत नहीं होता ।

इसलिये वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में निमित्त–नैमित्तिक भाव मानना पड़ेगा । वाच्यार्थ निमित्त है और व्यङ्ग्यार्थ हुआ नैमित्तिक । कभी भी कार्य और कारण एक नहीं हो सकते । अतएव ये दोनों एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं । अभिनवगुप्त निमित्त – नैमित्तिक भाव मानने में एक और युक्ति देते हैं कि निमित्त नैमित्तिक भाव नहीं मानेंगे तो मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में भी भेद सिद्ध नहीं हो पायेगा । क्योंकि मुख्यार्थ–बाध होने पर लक्षणा होती है अतः मुख्यार्थ निमित्त है और लक्ष्यार्थ नैमित्तिक ।

पूर्वमीमांसा में जैमिनि के सूत्र "श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्" की संगति भी निमित्त–नैमित्तिक भाव को मानकर ही सिद्ध होती है। इन प्रमाणों में श्रुति की अपेक्षा लिंग, लिंग की अपेक्षा वाक्य दुर्बल हो, वाक्य की अपेक्षा समाख्या से प्राप्त अर्थ दुर्बल होगा । अर्थात् पर, पूर्व की अपेक्षा दुर्बल माना गया है । यदि शब्द श्रुति के बाद लिंग, प्रकरण आदि सभी में अभिधा व्यापार ही मान लेंगे तो पौर्वापर्य और एक की अपेक्षा दूसरा बलवान कैसे सिद्ध हो सकता है? अतएव वाच्यार्थ, व्यङ्ग्यार्थ में भेद मानना आवश्यक है और व्यङ्ग्यार्थ का बोध व्यञ्जना से ही मानना पड़ेगा।[1] इस प्रकार लोचनकार ने

---

1. निमित्तेषु सङ्केतः, नैमित्तिकस्त्ववसावर्यस्संकेतानपेक्ष एवेति चेत् पश्यत श्रोत्रियस्योक्तिकौशलम् । यो ह्यसौ पर्यन्तकक्षाभागर्थः प्रथमं प्रतीतिपथमवतीर्णः तस्य पश्चात्तनाः पदार्थावगमाः निमित्तभावं गच्छन्तीति नूनं मीमांसकस्य प्रपौत्रं प्रति नैमित्तिकत्वमभिमतम् ।------ अवापोद्वापाभ्यां तथाभाव इति चेत्–सङ्केतः पदार्थमात्र एवेत्यभ्युपगमे पाश्चात्यैव विशेषप्रतीतिः । .... किन्तु सातिशयानुशीलनाभ्यासात्तत्र सम्भाव्यमानोऽपि क्रमः सजातीयतद्विकल्पपरम्परानुबवाबभ्यस्तविषय व्याप्तिसमयस्मृतिक्रमवन्न संवेद्यत इति । निमित्तनैमित्तिक भावश्चावश्याश्रयणीयः अन्यथा गौणलाक्षणिकयोर्मुख्याद् भेदः श्रुतिलिङ्गादिप्रमाणषट्कस्य पारदौर्बल्यम् इत्यादि प्रक्रिया विघातः ।

ध्व.लो.पृ. 63-65

की कल्पना इस प्रकार की जाती है । [1] इस प्रकार व्यवहार प्रक्रिया में वैयाकरणों को भी व्यञ्जना-वृत्ति स्वीकार करनी ही पड़ेगी भले ही परमार्थतः वे न स्वीकार करें ।

भट्टनायक जो कि अभिधा, भावना तथा भोग के द्वारा ही रस-प्रतीति मानते हैं, वे व्यञ्जना की कोई आवश्यकता नहीं समझते । जबकि भट्टनायक रस रूप व्यङ्ग्यार्थ को मानते हैं किन्तु वस्तुरूप और अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ उनके अनुसार रस के कारण ही है उनका पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है । इसका खण्डन करते हुये लोचनकार कहते हैं प्रस्तुत " भ्रम धार्मिक " पद्य में वक्ता तथा बोद्धव्य के वैशिष्ट्य के आधार पर ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है और भयानक रस को स्वीकार करते हुये कहते हैं कि भयानक रस की प्रतीति तो धार्मिक को होगी । रस सदैव व्यङ्ग्य ही है वह कभी वाच्य नहीं हो सकता यह तो आप भी मानते हैं । भयानक रस - प्रतीति को निश्चय ही नहीं कहा जा सकता है कि वह सहृदय को हो या न हो क्योंकि पता नहीं वह भी धार्मिक के समान भीरु प्रकृति का है या नहीं, यदि नहीं तो वर्णनीय से तन्मयीभवन कैसे सम्भव है और नहीं तो रस प्रतीति भी असम्भव है ।

आगे अभिनवगुप्त कहते हैं कि यदि भट्टनायक के अनुसार वक्तृबोद्धव्यवैशिष्ट्य ही भयानक रस का सहकारी कारण है तो फिर वक्तृबोद्धव्यवैशिष्ट्य के आधार पर होने वाले व्यञ्जनाव्यापार को मानने में कोई हानि नहीं है । अभिनवगुप्त इन युक्तियों से भट्टनायक के साथ समझौता करते हैं किन्तु अन्य मीमांसकों की तरह उनका पूर्णतया खण्डन नहीं करते हैं । इसका कारण यह भी हो सकता है कि अन्य मीमांसक तो (वस्तु, अलङ्कार, रस रूप) किसी भी व्यङ्ग्यार्थ को नहीं मानते थे। उनके शुष्क, नीरस बुद्धि में सरस व्यङ्ग्यार्थ का स्थान कहां, जबकि भट्टनायक रस का अस्तित्व निर्विवाद स्वीकार करते हैं [2] भट्टनायक द्वारा प्रस्तावित साधारणीकरण के लिये तो अभिनवगुप्त भी ऋणी है । आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने रस - सिद्धान्त में इस साधारणीकरण की प्रक्रिया को स्थान दिया है ।

---

1. येऽप्यविभक्तं स्फोटं वाक्यं तदर्थं चाहुः, तैरप्यविद्यापदपतितैः सर्वेयमनु-सरणीया प्रक्रिया ।

अन्त में लोचनकार ने यह सिद्ध किया है कि भयानक रस सहृदयहृदय में नहीं उत्पन्न होगा अपितु सम्भोगाभिलाष रूप विभाव, सङ्•केतस्थान के योग्य विशिष्टकाकु आदि अनुभाव के सम्मिश्रण से श्रृंगार रस सहृदयों के आस्वाद्य का विषय हो सकता है। रस अलौकिक होता है और केवल उन शब्दों से उसकी प्रतीति नहीं हो सकती अतएव यह वस्तुध्वनि का ही उदाहरण है । [1]

आचार्य अभिनवगुप्त ने "गङ्•गायां घोषः" तथा "सिंहो वटुः" आदि स्थलों में प्रयोजन प्रतीति कराने में अनुमान प्रमाण को भी व्यर्थ सिद्ध किया है। उदाहरणार्थ वटु की पराक्रमशीलता सिद्ध करने के लिये व्याप्ति इस प्रकार बनेगी वटु सिंहधर्मवाला है क्योंकि सिंह शब्द वाच्य है। जो सिंहशब्द वाच्य होते हैं वे सिंह धर्म वाले होते हैं जैसे सिंह। उसी प्रकार वटु भी है। अतः वह भी सिंहधर्म वाला है। यहां पर वटु पक्ष है और सिंहशब्दवाच्यता हेतु है । अनुमान प्रमाण में हेतु का पक्ष और सपक्ष में होना और विपक्ष में व्यावृत्ति होनी आवश्यक है। किन्तु यहां पर वटु का सिंहशब्द वाच्य होना असिद्ध हो जाता है क्योंकि वह तो भीरु है। अतएव यहां स्वरूपासिद्धहेत्वाभास है।[2]

---

1. यदि तु रसानुवेधेन बिना न तुष्यति, तत् भयानकरसानुवेधो नात्र सहृदयहृदयदर्पणमध्यास्ते, अपितु उक्तनीत्या सम्भोगाभिलाषविभावसङ्•केतस्थानोचितविशिष्टकाक्वाद्यनुभावशबलनोदितश्रृंगाररसानुवेधः । रसस्यालौकिकत्वात्तावन्मात्रादेव निर्विवादसिद्धविविक्तविधिनिषेध प्रदर्शनाभिप्रायेण चैतद्वस्तुध्वनेरुदाहरणं दत्तम् । -ध्व.लो.पृ. 69-70
2. यत्त्विदं .... बटोर्वा पराक्रमातिशयशालित्वं तत्र शब्दस्य न तावन्न व्यापारः । यथा हि तत्सामीप्यात् तद्धर्मत्वानुमानमनैकान्तिकम्, सिंहशब्दवाच्यत्वं च बटोरसिद्धम् । अथ यत्र यत्रैवंशब्दप्रयोगस्तत्र तत्र तद्धर्मयोग इत्यनुमानम् तस्यापि व्याप्तिग्राहकाले मौलिकं प्रमाणान्तरं वाच्यम्, न चास्ति । न च स्मृतिरियम्, अननुभूते तदयोगात् नियमाप्रतिपत्तेर्वक्तुरेतद्विवक्षितमित्यध्यवसायाभावप्रसंगाच्चेत्यस्ति तावदत्र शब्दस्यैव व्यापारः । व्यापारश्च नाभिधात्मा समयाभावात् न तात्पर्यात्मा तस्यान्वयप्रतीतावेव परिक्षयाद्। नलक्षणात्मा। उक्तादेव हेतोः स्खलद्गतित्वाभावात्। तत्रापि हि स्खलद्गतित्वे पुनर्मुख्यार्थबाधा निमित्तं प्रयोजनमित्यनवस्था स्यात् । अतएव यत् केनचिल्लसितलक्षणेति नाम कृतं तद्व्यसनमात्रम् । तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यञ्जनप्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः ।

और यदि यह मानें कि जहां " लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग है वहां " उनके धर्म का योग अवश्य हो जाता है। इसके लिये किन्तु कोई प्रमाण होना चाहिये ऐसा है नहीं, पहले कभी अनुभूत भी नहीं है कि इस स्थल पर इस विशेष धर्म का ग्रहण होगा । इस प्रकार प्रयोजन की प्रतीति न ही अनुमान के वश की है न ही स्मृति के। अतएव कोई शब्द व्यापार ही मानना पड़ेगा । जैसा कि पहले भी उल्लेख किया जा चुका है कि वह व्यापार संङ्‌केत ग्रहण न होने के कारण अभिधा नहीं हो सकती। तात्पर्या वृत्ति भी अन्वयप्रतीतिकाल में ही क्षीण हो जाती है। मुख्यार्थ-बाधादि हेतुओ के अभाव में लक्षणा भी नहीं मानी जा सकती। अतएव अभिधा, तात्पर्या, लक्षणा व्यतिरेकी चतुर्थ व्यापार व्यञ्जना जिसके ध्वनन, द्योतन, व्यञ्जन, प्रत्यायन आदि पर्याय है अवश्य स्वीकरणीय है ।

लोचनकार ने पूरे ध्वन्यालोक की बड़ी विशद् टीका की है किन्तु किन्हीं-किन्हीं स्थलों में लोचनकार ने स्वोद्‌भावित तर्कपूर्ण युक्तियों को व्यञ्जना-रक्षार्थ प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत अध्याय में उनके निजी तर्कों का ही उल्लेख किया गया है ।

आचार्य मम्मट द्वारा व्यञ्जना-रक्षार्थ प्रयुक्त युक्तियों का आलोचनात्मक अध्ययन

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में व्यञ्जना वृत्ति की स्थापना की, उसी आधार पर लोचनकार ने भी प्रतिपादन किया । उसके पश्चात् विरोधियों ने व्यञ्जना का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया ≬ जिनमें से कुछ का उल्लेख तो ध्वन्यालोक में ही है ≬ आनन्दवर्धन के परवर्ती आचार्यों में राजानक कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही काव्य का प्राण माना । धनञ्जय, धनिक ने तात्पर्यावृत्ति के होते हुये व्यञ्जना को अस्वीकार किया।महिमभट्ट ने अनुमान प्रमाण से प्रतीयमानार्थ की प्रतीति बताई।आचार्य मम्मट ने व्यञ्जनावादी परम्परा के पक्षधर होने के नाते आनन्दवर्धन की ही सरणि पर व्यञ्जना के अस्तित्व को अपनी प्रतिभा एवं वैदुष्यपूर्ण युक्तियों से सुरक्षित कर काव्य - प्रकाश रूपी रत्नमंजूषा में प्रतिष्ठापित किया । काव्य प्रकाश के द्वितीय तथा पंचम उल्लास में आचार्य मम्मट ने व्यञ्जना - विरोधियों को निरुत्तर करके व्यञ्जना के मार्ग को इस प्रकार प्रशस्त किया कि उनके तीव्र समालोचक जगन्नाथ ने भी सादर के साथ यत्र तत्र इनका अनुकरण किया है ।

आचार्य मम्मट ने द्वितीय उल्लास में लक्षणा विवेचन के बाद व्यन्जना का प्रतिपादन किया है । व्यन्जना की कोई पृथक् परिभाषा आचार्य ने नहीं दी है अपितु लक्षणा से भिन्न व्यन्जना का स्वरूप प्रदर्शित करने के लिये सर्वप्रथम लक्षणामूला व्यन्जना का उल्लेख किया है ।[1] लक्षणा के तीन हेतुओ में से प्रयोजन की प्रतीति किस व्यापार से मानी जाये ? आचार्य मम्मट उसका उत्तर देते हुये कहते हैं कि व्यन्जना के अतिरिक्त कोई अन्य व्यापार प्रयोजन–प्रतीति में सक्षम नहीं है । अपने कथन की पुष्टि के लिये आचार्य मम्मट ने अत्यन्त युक्ति पूर्वक प्रयोजन की प्रतीति में लक्षणा का निषेध किया है । आचार्य के अनुसार "गड्.गायां घोषः" उदाहरण में प्रयोजन– प्रतीति कराने में अभिधा भी समर्थ नहीं है क्योंकि गड्.गायां शब्द का शैत्यपावनत्व में संकेतग्रहण नहीं है । मुख्यार्थ–बाधादि हेतुओ में न रहने से लक्षणा भी नहीं है ।[2] इस विवेचन में परीक्षा हेतु तीनों हेतुओ का आकलन किया गया है । प्रथम हेतु मुख्यार्थ बाध है। उपर्युक्त उदाहरण में लक्ष्यार्थ तट मुख्यार्थ नहीं है और यदि तट को मुख्यार्थ मान भी लें तो तट में घोष का आधार सम्भव है अतएव मुख्यार्थ–बाध भी नहीं है । दूसरा हेतु मुख्यार्थ सम्बन्ध है । यदि शैत्य–पावनत्व रूप अर्थ को लक्ष्य मानें तो गड्.गा शब्द के कल्पित मुख्यार्थ तट से उसका साक्षात् सम्बन्ध होना चाहिये जो कि है नहीं । तीसरा हेतु प्रयोजन है । यहां पर शैत्य पावनत्व का कोई प्रयोजन भी नहीं है क्योंकि यह तो स्वयं प्रयोजन है, तथा गड्.गा शब्द स्वयं शैत्य–पावनत्व रूप प्रयोजन के प्रतिपादन में समर्थ है ।[3]

यदि विरोधी आचार्य कहें कि शैत्यपावनत्व रूप प्रयोजन भी लक्ष्यार्थ है तो इसके लिये दूसरे प्रयोजन की कल्पना करनी पड़ेगी और उसके लिये दूसरे प्रयोजन की । इस प्रकार अनेकों प्रयोजनों की कल्पना करनी पड़ेगी, फलस्वरूप अनवस्था हो जायेगी, जो कि मूल का ही क्षय करने वाली है ।[4] इस प्रकार लक्ष्यार्थ के प्रयोजन के लिये व्यन्जना व्यापार को ही मानना पड़ेगा ।

1– यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यन्जनान्नापरा क्रिया ।। – का.प्र.द्वि.उ.पृ.81

2– नाभिधा समयाभावात्, हेत्वभावान्न लक्षणा ।। – का.प्र.पृ. 82–83

3– लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधः योगः फलेन नो ।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः ।। – का. प्र. पृ. 82

4– स्याद् या मूलक्षयकारिणी । – का. प्र. पृ. 84

इस प्रकार द्वितीय लक्षणावादी के मत का खण्डन करने के लिये आचार्य मम्मट ने मुख्यार्थ-बाधादि हेतुत्रय का अभाव और अनवस्था दोष रूप तर्कों का आश्रय लिया है । मम्मट इतने से ही सन्तुष्ट नहीं है, वे विशिष्टलक्षणावादी के मत को प्रस्तुत करके उसका खण्डन करते हैं ।

विशिष्ट लक्षणावादी यदि यह कहें कि लक्षणा के आधारभूत प्रयोजन की प्रतीति विशिष्ट लक्षणा से ही हो जाती है तो उससे पृथक् व्यञ्जना व्यापार मानने की क्या आवश्यकता है "गंगायां घोषः" उदाहरण में शब्द का लक्ष्यार्थ गंगातट है, और इस गंगातट की अपेक्षा अधिक अर्थ की प्रतीति कराना ही प्रयोजन है तो क्यों न हम पावनत्वादि विशिष्ट तट में ही लक्षणा मानें जिससे हमें व्यञ्जना व्यापार की आवश्यकता ही न पड़े ।[1] इस प्रकार पावनत्व रूप प्रयोजन और तट दोनों एक ही लक्षणा से लक्षणीय हैं । आचार्य मम्मट इसका खण्डन करते हुये कहते हैं कि प्रयोजनविशिष्ट तट में लक्षणा मानना उचित नहीं है[2] क्योंकि यह ज्ञान की प्रक्रिया के अनुकूल नहीं है । मीमांसकों के अनुसार ज्ञान का विषय और फल भिन्न-भिन्न होते हैं । क्योंकि लक्षणाजन्य ज्ञान का विषय तट है और उसका फल शैत्यपावनत्व है । अतएव दोनों की प्रतीति भी भिन्न-भिन्न व्यापार से होगी । अतएव व्यञ्जना अवश्य स्वीकरणीय है ।

मीमांसकों के अनुसार "अयं घटः" इस ज्ञान से घट में ज्ञातता नामक धर्म की उत्पत्ति होती है। ज्ञातो मया घटः इस रूप में ज्ञातता की प्रतीति होती है । जब अयं घटः यह ज्ञानरूप कारण होता है तभी ज्ञातता रूप फल का ग्रहण होता है । मीमांसक चूंकि स्वतः प्रमाण्यवादी हैं ।[3] अतएव जिस सामग्री से ज्ञान का ग्रहण होता है वही प्रमाण्यग्राहक भी होता है और यह सामग्री "ज्ञाततान्यथानुपपत्ति प्रसूता अर्थापत्तिः" है । इस प्रकार मीमांसकों के मत में भी ज्ञान का विषय और फल दोनों भिन्न-भिन्न हैं। नैयामिकों के अनुसार प्रथमतः अयं घटः से यह ज्ञान होता है, तत्पश्चात् घटज्ञानवानहम् इस रूप मे अनुव्यवसाय होता है। इस प्रकार नैयायिक भी ज्ञान का फल और विषय दोनों पृथक् मानते हैं । नैयायिक परतः प्रामाण्यवादी हैं । इसमें मीमांसकों की तरह ज्ञानग्रहण और प्रामाण्यग्राहक सामग्री एक ही नहीं है अपितु भिन्न-भिन्न है ज्ञान ग्राहक

1- ननु पावनत्वादिधर्मयुक्तमेव तटं लक्ष्यते, गंगायास्तटे घोष इत्यतोऽधिकस्यार्थस्य प्रतीतिश्च प्रयोजनं इति विशिष्टे लक्षणा, तत्किं व्यञ्जनयेत्याह । - का. प्र. पृ. 85

सामग्री अनुव्यवसाय है और प्रमाण्य का ग्रहण प्रवृत्ति के साफल्य मूलक अनुमान से होता है ।[1]

इस प्रकार मीमांसकों और नैयामिकों के अनुसार भी ज्ञान का विषय और फल भिन्न-भिन्न होता है[2] चूंकि प्रस्तुत उदाहरण में ज्ञान का विषय है गंगा का तट और फल है शैत्यपावनत्व । अतः उस प्रयोजन की प्रतीति अभिधा, लक्षणा, तात्पर्यादि से व्यतिरिक्त ध्वनन, व्यञ्जन द्योतनपर्याय व्यञ्जना व्यापार से ही सम्भव है ।

प्रस्तुत विवेचन मम्मट कृत काव्यप्रकाश के अनुसार किया गया है। आचार्य मम्मट ने शब्दव्यापारविचार में भी इस व्यञ्जना व्यापार की अनिवार्यता को स्पष्ट किया है - विशिष्टलक्षणावादियों का खण्डन करते हुये आचार्य मम्मट कहते हैं कि "तट" लक्षणा का विषय है और उनमें पावनत्वादि स्वतः नहीं होते तो प्रयोजन विशिष्ट तट स्वतः कैसे हो सकता है, अतएव विशिष्ट में लक्षणा कैसे हो सकती है? [3]

यह भी निश्चित है कि लक्षणा प्रयोजन रहने पर होती है और वह प्रयोजन मुख्यार्थाबभावि हेतुओ के द्वारा जिस प्रकार जाना जाता है उस प्रकार किसी अन्य प्रमाण से नहीं । क्योंकि प्रयोजन के लिये ही लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाता है । जिस अर्थ का ज्ञान शब्दमात्र से ही होता है उस अर्थ के बोध के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण प्रवृत्त नहीं होता । प्रत्यक्षमूलक अनुमान भी यहां कोई काम नहीं कर सकता, अनुमानाश्रित अनुमान भी निरर्थ ही होगा क्योंकि ऐसा मानने पर अनवस्था दोष हो जायेगा । स्मृति भी नहीं है क्योंकि प्रयोजन का पूर्व अनुभव तो है नहीं और यदि स्मृति मान भी लें तो यह निश्चय नहीं होगा कि प्रयोजन का स्मरण होगा ही । इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान और स्मृति इस प्रयोजन की प्रतीति कराने में असमर्थ है । इसका ज्ञान केवल शब्द से ही हो सकता है अतएव प्रयोजन बोधक कोई शब्द-व्यापार की कल्पना करनी पड़ेगी । संकेतग्रह न होने के कारण अभिधा तो असमर्थ ही हैं,

---

1- तर्कभाषा पृ. 134

2- प्रत्याक्षादेर्नीलादिविषयः फलन्तु प्रकटता संवित्तिर्वा । - का.प्र.पृ.86

3- लक्षणायास्तटादिर्विषयः । न च तत्र पावनत्वादयः सन्ति । तत् कथं विशिष्टे लक्षणा.......तेन् सिद्धमेतत् लक्षणाया अतिरिक्तो व्यापारः

लक्षणा भी सम्भव नहीं है क्योंकि वह प्रयोजन के होने पर ही होती है यदि उस प्रयोजन को ही लक्ष्य माने तो मुख्यार्थ-बाधादि हेतु उपस्थित नहीं होते। फिर भी यदि माने ही तब भी अनवस्था दोष से दुष्ट होने के कारण सम्भव नहीं है जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। अतएव प्रयोजन का ज्ञान कराने वाला कोई अन्य व्यापार स्वीकार करना अनिवार्य है । वह व्यापार ध्वनन, द्योतन आदि शब्दों से व्यवहृत होता है। निष्कर्षतः लक्षणा का आधारभूत प्रयोजन व्यङ्ग्य होने के कारण व्यन्जना व्यापार से ही ज्ञात होता है ।[1] सर्वप्रथम आचार्य मम्मट ने ध्वनि के दो भेद किये हैं- {1} अभिधामूलक {2} लक्षणामूलक। अभिधामूलक ध्वनि के दो भेद हैं- {1} संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य {2} असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य। संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के दो भेद हैं - {1} वस्तुरूप {2} अलंकार रूप। इनमें वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति का क्रम दिखाई देता है । अतएव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहा गया है। किन्तु असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के एकमात्र भेद रस रूप व्यङ्ग्यार्थ में वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति का क्रम होते हुये भी नहीं दिखाई देता है। आचार्य मम्मट ने ध्वन्यालोककार की ही सरणि पर रस को व्यङ्ग्य सिद्ध करने की चेष्टा की है। वह कथमपि वाच्य नहीं हो सकता । यदि रस वाच्य हो तब तो "रस" शब्द के प्रयोग से अथवा रस विशेष के वाचक श्रृंगारादि शब्दों के प्रयोग से रस-प्रतीति हो जानी चाहिये किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है । रस की प्रतीति विभावादिकों के प्रयोग से ही होती है । ऐसा देखा गया है कि रस अथवा श्रृंगारादि शब्दों के प्रयोग न होने पर तथा विभावादिकों का प्रयोग

1- सप्रयोजनायां च लक्षणायां तदतिरिक्तो व्यापारोऽवश्यमङ्गीकर्त्तव्यः । तथा च, सति प्रयोजने लक्षणा, तच्च न मुख्यार्थबाधनिमित्तवत्प्रमाणान्तराद् बोद्धव्यम् । तदर्थमेव लक्षणाशब्द प्रयोगात् । न खलु शाब्देऽर्थे प्रत्यक्षं क्रमते, नापि तत्पूर्वकमनुमानम् । नानुमानान्तरम्, अनवस्थापत्ते । न स्मृतिः तदनुभवाभावात् । सत्यामपि वा तस्यां नियतस्मरणं न स्यात् । तस्माच्छब्द एव तत्र प्रमाणम् । निर्व्यापारश्च शब्दो नार्थप्रतीतिकृत् । व्यापाररचनाभिधा, तत्र संकेताभावात् । न लक्षणा, तस्मिन् सति हि सा न तु तद्विषया । नाप्यस्या लक्ष्ये बाधोऽस्ति । लक्ष्यप्रयोजनयोश्च सम्बन्धस्य प्रयोजनस्य चाभावात्। तस्यापि लक्षणेऽनवस्थापत्तिरिति न लक्षणा स्यात् । अस्ति च सा । ततः प्रयोजनविषयो व्यापारोऽभ्युपगन्तव्यः स च ध्वननावगमन प्रकाशनद्योतनादिशब्दव्यवहार्यः ।

— शब्दव्यापारविचार।- पृ. 18

होने पर रस रूप व्यड्.ग्यार्थ व्यञ्जित होता है। अतएव अन्व्यव्यतिरेक द्वारा यह सिद्ध है कि विभावानुभावव्यभिचारिमुखेन ही रस प्रतीति सम्भाव्य है । विभावादि के प्रयोग होने पर रस-प्रतीति होगी यह अन्वय व्याप्ति हुई और विभावादिक के प्रयोग न होने पर रस-प्रतीति नहीं होगी, यह व्यतिरेक व्याप्ति है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि रस सर्वथा व्यड्.ग्य ही है[1] रस लक्ष्यार्थ भी नहीं हो सकता, क्योंकि लक्षणा के तीन आवश्यक हेतुओ में से एक भी रस-प्रतीति में नहीं उद्भूत होता । सर्वप्रथम न तो विभावादि के अर्थ में बाध होता है और न मुख्यार्थ से सम्बन्धित किसी अन्य अर्थ की प्रतीति होती है । अथ च रस-प्रतीति में न रूढ़ि है न ही प्रयोजन । इस प्रकार न ही मुख्यार्थ बाध है, न ही मुख्यार्थ सम्बन्ध, न ही रूढ़ि अथवा प्रयोजन। कोई भी हेतु रस प्रतीति में उपस्थित नहीं होते अतएव रस लक्ष्य भी नहीं है यह सिद्ध हुआ ।[2]

उपर्युक्त विवेचन में हम अभिधामूलध्वनि में व्यञ्जना की अपरिहार्यता देख चुके हैं । अथ च लक्षणामूलध्वनि में व्यञ्जना की अपरिहार्यता का परीक्षण आवश्यक है । आचार्य मम्मट ने लक्षणामूल ध्वनि के भी दो भेद किये- (1) अर्थान्तरसड्.क्रमित (2) अत्यन्ततिरस्कृत ।[3]

अर्थान्तरसड्.क्रमित में वाच्यार्थ अनुपयुक्त होने के कारण किसी अन्य अर्थ में परिणत हो जाता है । उदाहरणर्थ -

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति ।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ।।[4]

1- रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः । स हि रसादिशब्देन श्रृड्.गारादिशब्देन वाऽभिधीयेत् । न चाभिधीयते । तत्प्रयोगे विभावाद्यप्रयोगे तस्याऽप्रतिपत्तेस्तदप्रयोगेऽपि विभावादिप्रयोगे तस्य प्रतिपत्तेश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्याम् विभावाद्यभिधानद्वारेणैव प्रतीयते इति निश्चीयते, तेनाऽसौ व्यड्.ग्य एव ।

- का. प्र. पृ. 238

2- मुख्यार्थबाधाद्यभावान्न लक्षणीयः । - का. प्र. पृ. 238

3- अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ ।
अर्थान्तरे सड्.क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ।।

- का. प्र. पृ. 111

4- अत्र वचनादि उपदेशरूपतया परिणमति - का. प्र. पृ. 113

यहां पर वच्मि पद उपदेश अर्थ में परिणत हो गया है । यहां लक्षणा होने पर हितकारिता व्यंग्य है । "अन्यथा आचरण करने पर उपहसनीयता होगी" इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है जो कि एकमात्र व्यञ्जनागम्य ही है ।

लक्षणामूलक ध्वनिकाव्य (अविवक्षितवाच्यध्वनि) का दूसरा भेद अत्यन्ततिरस्कृत है । इसमें वाच्यार्थ अनुपयुक्त होने के कारण अपने अर्थ को छोड़कर अन्यार्थ को लक्षित करने लगता है । उदाहरणार्थ –

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम् ।।[1]

प्रस्तुत उदाहरण में एक अपकारी के प्रति यह उक्ति है । अतएव उपकार के लिये जो स्तुति और शुभकामना रूप मुख्यार्थ है वह बाधित होकर विपरीत अर्थ को लक्षित करता है, जैसे- उपकृतम् का लक्ष्यार्थ अपकृतम्, सुजनता का लक्ष्यार्थ दुर्जनता, सखे का शत्रु, सुखितम् का दुखितम् आदि । इस पद्य में अपकार की अधिकता की प्रतीति व्यञ्जनया ही द्योतित होती है । अतः लक्षणामूल ध्वनि के दोनों भेदों में जो प्रयोजन विशेष होता है वह व्यंग्य ही है । प्रयोजन व्यंग्य है इसीलिये इन दोनों ध्वनिरूपों में लक्षणा प्रवृत्त होती है । व्यंग्य प्रयोजन के अभाव में लक्षणा ही न हो सकेगी ।[2] अतः वस्तुरूप अर्थ की प्रतीति भी व्यञ्जना से ही होगी । मम्मट ने अभिधामूलक ध्वनि काव्य में भी व्यञ्जना की अपरिहार्यता सिद्ध की है । अभिधामूलक ध्वनि के प्रमुख दो भेदों में से असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य (रस ध्वनि) को व्यंग्य सिद्ध करने के बाद संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के तीन भेद शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ और उभयशक्त्युत्थ में क्रमश व्यञ्जना की अनिवार्यता प्रसंगप्राप्त है ।[3]

1- एतदपकारिणं प्रति विपरीतलक्षणया कश्चिदवदति ।
– का. प्र. पृ. 114

2- अर्थान्तरसङ्क्रमितात्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोर्वस्तुमात्ररूपं व्यंग्य बिना लक्षणैव न भवति । ---
– का. प्र. पृ. 240

3- अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु यः ।
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनिः ।
– का. प्र. पृ. 167

पूर्व विवेचन के अनुसार ध्वनि के दो मुख्य भेद हैं- §1§ अविवक्षितवाच्य §2§ विवक्षितान्यपरवाच्य । अविवक्षितवाच्य के दो भेद हैं - §1§ अर्थान्तरसङ्.क्रमित §2§ अत्यन्ततिरस्कृत विवक्षितान्यपरवाच्य के भी दो भेद हैं - §1§ असंलक्ष्यक्रमव्यङ्.ग्य §2§ संलक्ष्यक्रमव्यङ्.ग्य । यदि इन उपर्युक्त भेदों पर ऊपर संङ्.कलित ध्वनि के तीन भेदों की दृष्टि से विचार किया जाये तो रस भावादि असंलक्ष्यक्रम के अन्तर्गत आते हैं, जिनकी व्यङ्.ग्यता सिद्ध की जा चुकी है। शेष अर्थान्तरसंङ्.क्रमित, अत्यन्ततिरस्कृत यह दोनो वस्तुध्वनि के तथा संलक्ष्यक्रमध्वनियां वस्तु एवं अलंकारध्वनि के अन्तर्गत आती है, उन पर क्रमशः विचार किया जा रहा है --

शब्दशक्त्युत्थ संकलक्ष्यक्रमध्वनि में शब्द के अनेक अर्थों में से प्रकरणादि से एक अर्थ मुख्यार्थ के रूप में नियत हो जाता है, इस प्रकार अभिधा तो एक अर्थ देकर नियन्त्रित हो गई, इसके अनन्तर जिस अर्थ की प्रतीति होती है स्वाभाविक ही है कि वह अभिधेयार्थ नहीं कहा जा सकता §शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्यव्यापाराभावः के अनुसार§ मुख्यार्थबाधादि हेतुओ के अभाव में लक्ष्यार्थ भी नहीं है । तब वह दूसरा अर्थ व्यंग्यार्थ ही है और उसकी प्रतीति व्यञ्जना द्वारा ही सम्भाव्य है । यह तो रही वस्तु रूप व्यंग्यार्थ की बात, आचार्य अलंकार रूप व्यंग्यार्थ को भी स्पष्ट कर देते हैं ।

आचार्य के अनुसार अभिधेयार्थ और प्रतीयमानार्थ में जो उपमानोपमेयभावादि की प्रतीति होती है वह भी निर्विवाद रूप से व्यंग्य है । शब्दशक्त्युत्थ अलंकार ध्वनि का उदाहरण द्रष्टव्य है --

उल्लास्यकालकरवालमहाम्बुवाहं देवेन - येन जठरोर्जितगर्जितेन ।
निर्वापितः सकल एव रणे रिपूणां, धाराजलैस्त्रिजगति ज्वलितः प्रतापः ।।

इस पद्य का वाच्यार्थ है - कठोर §जठर§ और बलवत् §ऊर्जित§ सिंहनाद करने वाले जिस राजा ने §देवेन§ शत्रुसंहारक §काल§ खड्ग की महती धारा रूप जल के विस्तार को प्रखरता द्वारा अधिक करके खड्गधारा की कान्तियों द्वारा त्रिभुवन में जगमगाते हुये अपने शत्रुओ के समस्त प्रताप को संग्राम में बुझा दिया ।

पद्य का व्यङ्ग्यार्थ इस प्रकार है -- गम्भीर गर्जन करने वाले जिस इन्द्र ने त्रिभुवन में वर्षा सूचक नवीन मेघ को प्रकट करके जलपतन के कोलाहल के बीच मूसलाधार जल के शत्रुओ अर्थात् सूर्य आदि का प्रकृष्ट ताप शान्त कर दिया ।

प्रस्तुत पद्य में प्राकरणिक राज-प्रताप वर्णन वाच्यार्थ है तथा अप्राकरणिक इन्द्र-प्रताप वर्णन व्यङ्ग्यार्थ है । इन दोनों अर्थों में यदि कोई सम्बन्ध न माना जाये तो असम्बद्धता आ जावेगी अतएव दोनों अर्थों में उपमानोपमेयभाव की कल्पना करनी पड़ती है जो अत्यधिक चमत्कारक है इस प्रकार प्रस्तुत पद्य में उपमालंकार ही व्यंङ्ग्य है ।

इस प्रकार शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि में व्यञ्जना की अनिवार्यता सिद्ध हुई ।[1]

अर्थशक्त्युत्थध्वनि में सर्वप्रथम वाच्यार्थ उपस्थित होता है तत्पश्चात् व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है। वाच्य से वाच्यार्थ कैसे निष्पन्न होता है, इस विषय में मीमांसकों का मत द्रष्टव्य है । आचार्य ने अभिहितान्वयवादी मीमांसक और अन्विताभिधानवादी मीमांसकों की आलोचना से ही इस प्रसङ्ग का प्रारम्भ किया है ।

अभिहितान्वयवाद में "अभिधा" शक्ति से शब्द का संकेतित अर्थ ज्ञात होता है । संकेतग्रह किसमें माना जाय इस विषय पर मीमांसक, नैयायिक, बौद्ध आदि एकमत नहीं हैं । मीमांसक जाति में संकेतग्रह मानते हैं क्योंकि यदि व्यक्ति में संकेतग्रह मानेगें तो आनन्त्य और व्यभिचार दोष उत्पन्न हो जायेगें । यदि मान भी लें तो विषयविभागाप्राप्ति हो जायेगी अर्थात् जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा (गौः शुक्लः चलो डित्थः) एक दूसरे के पर्याय हो जायेगें ।[2] अभिहितान्वयवाद में अभिधा द्वारा

1- शब्दशक्तिमूले तु अभिधाया नियन्त्रणेनानभिधेयस्यार्थान्तरस्य तेन सहोपमादेरलङ्कारस्य च निर्विवादं व्यङ्ग्यत्वम् ।
- का. प्र. पृ. 240

2- यद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव, तथाप्यानन्त्याद् व्यभिचाराच्च तत्र संङ्केतः कर्तुं न युज्यत इति गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादीनां विषयविभागो न प्राप्नोतीति च तदुपाधावेव संङ्केतः ।
- का. प्र. पृ. 43

पदार्थ-सामान्य का बोध होता है । तत्पश्चात् आकांक्षा, योग्यता, सन्निधिवशात् उनका अन्वय होता है । पदार्थों का अन्वय वक्ता के तात्पर्य के अनुरूप होता है । इसलिये वाक्यार्थ को तात्पयार्थ कहते हैं । इससे स्पष्ट हो जाता है कि अभिहितान्वयवाद में वाक्यार्थ तात्पर्य वृत्ति से निष्पन्न होता है। जब वाक्यार्थ ही अभिधा से उत्पन्न नही है तो व्यंड्.ग्यार्थ जिसकी प्रतीति वाक्यार्थ के भी पश्चात् होती है उसकी अभिधेयता का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अतः अभिहितान्वयवाद में भी व्यंड्.ग्यार्थ की प्रतीति के लिये पृथक् व्यापार §अभिधा से भिन्न§ व्यञ्जना व्यापार को मानना ही होगा ।[1]

अन्विताभिधानवाद में भी व्यंग्यार्थ अभिधागम्य नहीं माना जा सकता है । संकेतग्रह के आठ आधारों में से बालक के लिये व्यवहार ही उपयुक्त है। बालक शब्द, वृद्ध और अभिधेय को नेत्रों से प्रत्यक्ष देखता है । उसके बाद मध्यम वृद्ध §श्रोता§ की चेष्टा से उसके ज्ञान का अनुमान करता है । तब वह उत्तम वृद्ध द्वारा कहे गये वाक्य और मध्यम वृद्ध द्वारा समझे गये अर्थ में वाच्य-वाचक सम्बन्ध जानता है । इस प्रकार अर्थापत्ति से वाच्य और वाचक रूपा द्वयात्मिका शक्ति को जानता है, और प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति इन तीनों प्रमाणों से सम्बन्ध को पहचानता है ।[2] पुनः " चैत्र गाय ले जाओ", "अश्व लाओ" आदि वाक्यों में उस-उस शब्द का वह-वह अर्थ है ऐसा समझा जाता है। इस प्रकार अन्वयव्यतिरेक से प्रवृत्ति करने वाला वाक्य ही प्रयोग के लिये उपयुक्त है। वाक्य में स्थित अन्वितपदों का ही अन्वितपदार्थों के साथ संकेतग्रह होता है । उदाहरणार्थ "गामानय" में "आनय" पद "गाम्" के साथ अन्वित है और दोनों का संकेतग्रह अन्वित पदार्थों के साथ ही है ।

1- अर्थशक्तिमूलेऽपि विशेषे संड्.केतः कर्तुं न युज्यत इति सामान्यरूपाणां पदार्थानामाकाड्.क्षासन्निधियोग्यतावशात्परस्परसंसर्गो यत्रापदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे का वार्ता व्यड्.ग्यस्याभिधेयतायाम् ।

— का. प्र. पृ. 241

2- शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति ।
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया ।।
अन्यथाऽनुपपत्त्या तु बोधेच्छक्तिं द्वयात्मिकाम् ।
अर्थापत्त्याऽवबोधेत सम्बन्धं त्रिप्रमाणकम् ।।

— का. प्र. पृ. 242

"गाम्-आनय" वाक्य के आनय का अन्वय अश्व, घट आदि के साथ नहीं हो सकता । अन्विताभिधानवादियों के अनुसार परस्पर अन्वित पदार्थ ही वाक्यार्थ है । किन्तु ऐसा मानने पर एक समस्या उपस्थित हो जाती है कि एक ही शब्द अनेक वाक्यों में प्रयुक्त होता है, यदि शब्द का अन्वय व्यक्तिविशेष में स्वीकार करें और एक अर्थ के साथ अन्वित में शक्तिग्रह माने तो जब वही शब्द दूसरे वाक्य में प्रयोग किया जायेगा तो इस शब्द से अर्थ प्रतीति नहीं हो सकेगी । अतः विशेष अर्थ के साथ अन्वित में संकेतग्रह मानना उचित नहीं है । अपितु सामान्य के साथ अन्वित अर्थ में संकेतग्रह मानना उपयुक्त होगा ।[1] इस प्रकार सामान्य से अन्वित पदार्थ ही वाक्यार्थ होगा । परन्तु वाक्यार्थ तो विशेष अर्थों का परस्पर सम्बन्ध रूप होता है, सामान्य अर्थों का परस्पर सम्बन्ध रूप नहीं । अतः विशेष अर्थों का परस्पर सम्बन्ध रूप वाक्यार्थ अन्विताभिधानवादियों के अनुसार वाच्यार्थ नहीं है। उपर्युक्त शङ्का का निवारण मीमांसक "निर्विशेषं न सामान्यम्" से करते हैं । अर्थात् - बिना विशेष के कोई सामान्य रह ही नहीं सकता है । इसलिये सामान्य रूप से अन्वित अर्थ का पर्यवसान भी विशेष में होता है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि अन्विताभिधानवाद में सामान्य से आच्छादित विशेष संकेतग्रह का विषय होता है । अतः वाक्यार्थ के अन्तर्गत जो अतिविशेष अर्थ है वह असंकेतित होने के कारण अवाच्य हो जायेगा ।[2] क्योंकि सक्षात् संकेतित अर्थ को बतलाने वाला उस

1- देवदत्त गामानयेत्याद्युत्तमवृद्धवाक्यप्रयोगाद्देशाद्देशान्तरं सास्नादिमन्तमर्थं मध्यमवृद्धे नयति सति " अनेनास्माद्वाक्यादेवंविधोऽर्थः प्रतिपन्नः " इति तच्चेष्टयाऽनुमाय, तयोरखण्डवाक्यवाक्यार्थयोरर्थापत्त्या वाच्यवाचकभावलक्षणसम्बन्धमयवधार्य बालस्तत्र व्युत्पद्यते । परतः "चैत्र गामानय" "देवदत्त अश्वमानय", "देवदत्त गां नय" इत्यादिवाक्यप्रयोगे तस्य तस्य शब्दस्य तं तमर्थमवधारयतीति, अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् प्रवृत्तिनिवृत्तिकारिवाक्यमेव प्रयोगयोग्यमिति . वाक्यस्थितानामेव पदानामन्वितैः पदार्थैरन्वितानामेव संङ्केतो गृह्यते इति ।

- का. प्र. पृ. 243

2- यद्यपि वाक्यान्तरप्रयुज्यमानान्यपि प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययेन तान्येवैतानि पदानि निश्चीयन्ते इति पदार्थान्तरमात्रेणान्वितः पदार्थः सङ्केतगोचरः तथापि सामान्यावच्छादितो विशेषरूप एवासौ प्रतिपद्यते व्यतिषक्तानां पदार्थानां तथाभूतत्वादित्यन्विताभिधानवादिनः । तेषामपि मते सामान्यविशेषरूपः पदार्थः सङ्केतविषयः इत्यतिविशेषभूतो वाक्यार्थान्तर्गतोऽसङ्केतितत्वादवाच्य एव । का.प्र.पृ. 244-245

अतिविशेष अर्थ का वाचक होता है और सङ्केतित अर्थ इसका वाच्य । अतिविशेष अर्थ में सङ्केतग्रह नहीं है अतः वह वाच्य भी नहीं है ऐसी स्थिति में वाक्यार्थ – बोध के भी पश्चात् प्रतीत होने वाले व्यङ्ग्यार्थ को वाच्यार्थ कैसे कहा जा सकता है । अतः विशेष अर्थों का परस्पर सम्बन्ध रूप वाक्यार्थ अभिधा द्वारा गम्य न होने के कारण अवाच्य (व्यङ्ग्य) है ।

मीमांसक अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति को स्वीकार नहीं करते । मीमांसकों के अनुसार व्यञ्जनावृत्ति के खण्डन हेतु एक तर्क यह भी दिया गया कि नैमित्तिक के अनुसार निमित्त की कल्पना की जाती है । [1] जो व्यङ्ग्यार्थ है उसका भी निमित्त शब्द ही है । इस प्रकार शब्द और व्यङ्ग्यार्थ में निमित्त नैमित्तिक भाव सम्बन्ध मानना चाहिये और चूंकि यह सम्बन्ध बिना किसी शक्ति के हो नहीं सकता अतएव अर्थबोधिका अभिधा ही यह शक्ति हो सकती है, और जब अभिधा से ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो रही है तो व्यञ्जना की कल्पना निराधार है । इसका खण्डन करते हुये आचार्य मम्मट कहते हैं कि निमित्त दो प्रकार के हैं (1) कारक (2) ज्ञापक । यद्यपि शब्द उस नैमित्तिक अर्थ का कारक (जनक) तो नहीं सकता तथापि वह ज्ञापक निमित्त हो सकता है । किन्तु व्यङ्ग्यार्थ का शब्द कैसे ज्ञापक बनेगा ज्ञापक तो ज्ञात वस्तु का ही हो सकता है और जिसमें सङ्केतग्रह नहीं हुआ है उस व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञापक होना असम्भव है । अन्विताभिधानवादी के अनुसार सङ्केत तो अन्वित मात्र में होता है, अन्वित विशेष में तो सङ्केत है नहीं और विशेष में सङ्केत न मानने से व्यङ्ग्यार्थ (विशेष रूप अर्थ) में कैसे सङ्केत माना जा सकता है और चूंकि शब्द का व्यङ्ग्यार्थ में कोई कारक या ज्ञापक सम्बन्ध नहीं है अतएव " अभिधा से व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति हो सकती है " ऐसा विचार अविचारिताभिधान ही है । [2]

---

1. यदप्युच्यते " नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते "

   का. प्र. पृ. 247

2. तत्र निमित्तत्वं कारकत्वं ज्ञापकत्वं वा । शब्दस्य प्रकाशकत्वान्न कारकत्वं ज्ञापकत्वं तु अज्ञातस्य कथं ज्ञातत्वं च सङ्केतेनैव, स चान्वितमात्रे, एवं च निमित्तस्य नियतनिमित्तत्वं यावन्न निश्चितं तावन्नैमित्तिकस्य प्रतीतिरेव कथमिति "नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते " इत्यविचारिताभिधानम् ।

   का. प्र. पृ. 247

आचार्य भट्ट लोल्लट भी मीमांसक मतानुयायी हैं । मीमांसक होने के नाते उन्होंने भी व्यञ्जना का विरोध किया है । आचार्य के अनुसार अभिधा ही सारे अर्थों ‹ वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य › का बोध कराती है । उनकी दृष्टि में अभिधा इतनी शक्तिशाली है कि वह स्वयं सभी अर्थों का बोध कराने में सक्षम है जैसे अच्छे धनुर्धर का एक ही बाण क्रमशः वर्मच्छेद, मर्मभेद और प्राणहरण करने में समर्थ है, उसके लिये पृथक्-पृथक् बाणों की आवश्यकता नहीं होती । अपने मत के प्रमाणस्वरूप भट्ट लोल्लट ने यह शास्त्रवचन उद्धृत किया है - "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः " अर्थात् जिस अर्थ के प्रति शब्द का प्रयोग होगी वही उस शब्द का शब्दार्थ है । इस प्रकार यदि व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के लिये शब्द का प्रयोग किया गया है तो वही शब्द का शब्दार्थ कहलायेगा । अतः लक्ष्यार्थ, व्यङ्ग्यार्थ कहने की आवश्यकता नहीं है जैसे निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं " में विधि रूप अर्थ ही वाच्यार्थ है । क्योंकि इसी अर्थ में वक्ता का तात्पर्य है । [1]

आचार्य मम्मट ने इसका खण्डन करते हुये कहा है कि वस्तुतः भट्ट लोल्लट ने यत्परः शब्दः स शब्दार्थः इस तात्पर्यवाचीयुक्ति का सही अर्थ नहीं समझा । वस्तुतः यत्परः शब्द स शब्दार्थः का अर्थ यह है कि जितना अंश अप्राप्त होता है उसी का बोध कराने में विधिवाक्य का तात्पर्य होता है । उदाहरणार्थ " लोहितोष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरन्ति " यह विधि वाक्य श्येनभाग के प्रकरण में प्रयोग किया गया है । श्येनभाग का प्रकृति भाग " ज्योतिष्टोम " है । ज्योतिष्टोम याग में ऋत्विक् प्रचरण के विषय में कहा है - सोष्णीषा वितीनवसना ऋत्विजः प्रचरन्ति । " लोहितोष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरन्ति " में ऋत्विजः प्रचरन्ति तो पहले से ज्ञात है अतः लोहितोष्णीषाः ही अप्राप्त है और इसी में वक्ता का तात्पर्य और जो कि इसका विधेयांश है। आशय यह है कि तात्पर्य - वाचक शब्द वाक्य में साक्षात् प्रयुक्त होना चाहिये और प्रतीयमानार्थ वाचक शब्द वाक्य में प्रयुक्त होता नहीं अतएव व्यञ्जना ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति कराती है इस मत की पुष्टि हो जाती है । इस तर्क से आचार्य धनञ्जय -धनिक ‹ जो कि तात्पर्य वृत्ति से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति कराना चाहते हैं › का भी खण्डन हो जाता है। तात्पर्यवादी मीमांसकों के अनुसार वाक्य में अनुपात्त

---

1. ये त्वभिदधति " सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः " इति " यत्परः शब्दः स शब्दार्थः " इति च विधिरेवाऽत्र वाच्य इति ।

शब्द के अर्थ में भी तात्पर्य हो सकता है, तथा वह इसके उदाहरणार्थ "विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्.क्थाः" यह वाक्य उद्धृत करते हैं। तात्पर्यवादियों की दृष्टि में चूंकि यहां पर दो क्रियाओं भक्षय और भुङ्.क्थाः का प्रयोग है और दो क्रियापदों से युक्त वाक्यों का परस्पर अङ्.गाङ्.गभावसंकर नहीं हो सकता। इसलिये यह दो वाक्य हैं तथा तात्पर्य उपात्त शब्द के अर्थ में नहीं है। आचार्य मम्मट की दृष्टि में यह वाक्य किसी मित्र द्वारा प्रयुक्त है और कोई मित्र अपने हितैषी को "विषं भक्षय" कैसे कहेगा इसलिये विष भक्षय के स्वतन्त्र अर्थ के अनुपपन्न होने से आगे वाले वाक्य का अङ्.गत्व अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा जिससे इसकी एकवाक्यता सिद्ध हो सकेगी। इसलिये यहां पर उपात्त शब्दों के अर्थ में ही तात्पर्य सिद्ध होता है। इस प्रकार आचार्य मम्मट ने अपनी खण्डनात्मक युक्तियों से मीमांसकों, तात्पर्यवादियों द्वारा व्यञ्जना - खण्डनार्थ निर्मित व्यूह ध्वस्त कर दिया । आचार्य इतने से ही संतुष्ट नहीं हैं, उन्होंने मीमांसकों द्वारा स्वीकृत लक्षणा वृत्ति विषयक प्रसंग को उठाकर यह सिद्ध कर दिया है कि अकेली अभिधा सभी अर्थों को देने में सक्षम नहीं है । भट्ट लोल्लट ने सभी अर्थों को वाच्य कहा था इसका उत्तर देते हुये आचार्य मम्मट कहते हैं कि फिर मीमांसक लक्षणा क्यों मानते हैं । लक्ष्यार्थ की प्रतीति भी दीर्घदीर्घतर व्यापार से हो जायेगी । " ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः " और ‖ ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी ‖ में क्रमशः हर्ष और विषाद को भी वाच्य माना जाना चाहिये किन्तु यह अनुपयुक्त है और मीमांसा से ही प्रमाण देते हुये कहते हैं कि आप मीमांसकों ने भी तो शब्द के अर्थ - प्रतीति में पौर्वापर्य माना है यदि सभी अर्थ अभिधा नामक व्यापार से गम्य होने लगे तो श्रुति, लिङ्.ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या में पूर्व को पर की अपेक्षा बलवान कैसे माना जाये [1] यह नियम खण्डित हो जायेगा । सभी अर्थ वाच्य मानने पर प्रामाणिकता, अप्रामाणिकता का प्रश्न ही नहीं उठता । इस प्रकार आचार्य ने मीमांसकों के दोनों सम्प्रदायों अन्विताभिधानवाद और अभिहितान्वयनवाद को पूर्णतः निरस्त कर दिया ।

---

1. यदि च शब्दश्रुतेरनन्तरं यावानर्थो लभ्यते तावति शब्दस्याभिधैव व्यापारः, ततः कथं "ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः, ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी" त्यादौ हर्षशोकादीनामपि न वाच्यत्वम् । कस्माच्च लक्षणा लक्षणीयेऽप्यर्थे । दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणैव प्रतीतिसिद्धेः । किमिति च श्रुति-लिङ्.ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वम् । इत्यन्विताभिधानवादेऽपि विधेरपि सिद्धं व्यङ्.ग्यत्वम् ।

का. प्र. पृ. 252

आचार्य मम्मट ने व्यञ्जना की अपरिहार्यता सिद्ध करने के लिये कुछ और भी तर्क दिये हैं । उनके विचार से व्यञ्जना को स्वीकार करने पर ही गुण - दोष की व्यवस्था बन सकती है । " कुरु रुचिम् " इन पदों के क्रम को पलट कर " रुचिंकुरु " यदि लिखा जाये तो चिंकु सुनाई पड़ने से अश्लीलत्व दोष आ जाता है । इस अश्लीलार्थ की प्रतीति अभिधागम्य नहीं है किन्तु इसकी प्रतीति व्यवहारसिद्ध है । इसलिये इस प्रकार के प्रयोग काव्य में परित्याज्य है । व्यङ्.ग्यार्थ की प्रतीति तो शब्द से, उसके अंशमात्र से भी हो सकती है अतएव रुचिंकुरु में अश्लीलत्व व्यङ्.ग्य है । इसे यदि व्यञ्जनावृत्ति का विषय नहीं माना जायेगा तो यह दोष कैसे सिद्ध होगा । अतएव व्यञ्जनावृत्ति दोषों की व्यवस्था के लिये भी अनिवार्य तत्व है । [1]

जो आलङ्.कारिक व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार नहीं करते उनके विचार से भी असाधुत्व आदि नित्य दोष एवं श्रुतिकटुत्व आदि अनित्यदोष है . । वाच्यार्थ की दृष्टि से तो सभी पर्यायवाची समान है तब विशेष शब्द के प्रयोग से विशेष चमत्कार नहीं होना चाहिये किन्तु काव्य में विशेष शब्द के प्रयोग से विशेष चमत्कार की स्पष्ट प्रतीति होती है। अतएव यह आवश्यक है कि वाच्यवाचक भाव से व्यतिरिक्त व्यङ्.ग्यव्यञ्जकभावसम्बन्ध स्वीकार करना चाहिये । [2]

उदाहरणार्थ -

" द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः "

---

1. किञ्च कुरु रुचिम् इति पदयोर्वैपरीत्ये काव्यान्तर्वर्तिनि कथं दुष्टत्वम् न ह्यत्रासभ्योऽर्थः पदार्थान्तरैरन्वित इत्यनभिधेय एवेति एवमादि अपरित्याज्यं स्यात् ।

का. प्र. पृ. 256

2 यदि च वाच्यवाचकत्वव्यतिरेकेण व्यङ्.ग्यव्यञ्जकभावो नाभ्युपेयते तदाऽसाधुत्वादीनां नित्यदोषत्वं कष्टत्वादीनामनित्यदोषत्वमिति विभागकरण-मनुपपन्नं स्यात् । न चानुपन्नं सर्वस्यैव विभक्ततया प्रतिभासात् । वाच्य वाचकभावव्यतिरेकेण व्यङ्.ग्यव्यञ्जकताश्रयणे तु व्यङ्.ग्यस्य बहुविधत्वात्क्वचिदेव कस्याचिदेवौचित्येनोपपद्यत एव विभागव्यवस्था ।

का. प्र. पं. उ. पृ. 257

कुमारसम्भव के इस पद्य में में कपालिन् शब्द का प्रयोग काव्य के अनुकूल है । यहां कपालिनः इस प्रयोग के कारण भगवान् शिव की दरिद्रता और वीभत्सता की अभिव्यक्ति होती है । इसीलिये चन्द्रकला और पार्वती शोचनीय है जो कि ऐसे वीभत्स और दरिद्र से समागम की कामना करती हैं । यदि कपाली के स्थान पर पिनाकी का प्रयोग होता तो यह तो पार्वती और चन्द्रकला का सौभाग्य ही था । यद्यपि वाच्यार्थ दोनों शब्दों " पिनाकी " और " कपाली " के एक ही है, तथापि कपाली के प्रयोग से चमत्कार – सृष्टि और पिनाकी के प्रयोग से चमत्कार की हानि होने से व्यङ्ग्यार्थ का अस्तित्व सिद्ध होता है । इसलिये व्यञ्जना व्यापार को अवश्य मानना ही होगा ।[1]

मम्मटाचार्य ने वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की पृथकता सिद्ध करने हेतु कतिपय अन्य तर्क भी दिये हैं । वाच्यार्थ सभी श्रोताओ के लिये एक रूप होता है । अतः वह नियत होता है उदाहरणार्थ " गतोऽस्तमर्कः " में इसका वाच्यार्थ नियत है जबकि व्यङ्ग्यार्थ प्रकरण, वक्ता, श्रोता आदि की सहायता से अनेक प्रकार का हो जाता है। "यदि राजा सेनापति से गतोऽस्तमर्कः कहे तो शत्रु के प्रति बलात् आक्रमण का अवसर है यह व्यङ्ग्यार्थ तथा दूती अभिसारिका से कहे तो तेरा प्रियतम आने को है, श्रमिक परस्पर कहे तो कार्य से निवृत्त होने का समय है, सेवक किसी धार्मिक से कहे तो सन्ध्यावन्दन प्रारम्भ करने का समय, कोई हितचिन्तक किसी बाहर जाने वाले से कहे तो " दूर मत जाना " यह अर्थ है तथा कोई गृहपति गोपाल से कहे तो गायों को घर पहुंचाओ, दिन में संतप्त व्यक्ति इष्ट मित्रों से कहे तो अब ताप नहीं है, दुकानदार भृत्यों से कहे तो वस्तुओ को एकत्रित करो तथा प्रोषितपतिका किसी से कहे तो " आज भी मेरा प्रियतम नहीं आया । " इस प्रकार भिन्न – भिन्न व्यङ्ग्यार्थ भिन्न – भिन्न स्थलों पर वक्ता, श्रोता आदि के अनुसार

---

1. " द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः " इत्यादौ पिनाक्यादिपदवैलक्षण्येन किमिति कपाल्यादिपदानां काव्यानुगुणत्वम् ।

का. प्र. पृ. 258

प्रतीत होते हैं । [1] निष्कर्षतः यह स्पष्ट है कि वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में भिन्नता होती है ।

वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में स्वरूपगत भेद भी होता है । यदि वाच्यार्थ निषेधपरक है तो व्यङ्ग्यार्थ विधिपरक ।

> निःशेषच्युतचंदनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
> नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।
> मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
> वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ।।

पद्य में वाच्यार्थ निषेधपरक है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ विधिपरक है । [1]

आचार्य मम्मट द्वारा उद्धृत दूसरे उदाहरण में वाच्यार्थ संशयरूप तथा व्यङ्ग्यार्थ निश्चयरूप है ।

> मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु ।
> सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ।।

इसमें वाच्यार्थ है – " सज्जनवृन्द, आप मात्सर्य को छोड़कर, विचार करके मर्यादापूर्वक कर्त्तव्य का कथन कीजिये कि पर्वतों के नितम्ब सेवन योग्य हैं अथवा काम से स्मितवदना रमणियों के । " व्यङ्ग्यार्थ इसके उत्तररूप में अर्थात् शमप्रधान लोगों को पर्वतनितम्बों का सेवन करना

---

1. अपि च वाच्योऽर्थः सर्वान् प्रतिपत्तॄन् प्रति एकरूप एवेति नियतोऽसौ । न हि " गतोऽस्तमर्कः " इत्यादौ वाच्योऽर्थः क्वचिदन्यथा भवति । प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरणवक्तृप्रतिपत्त्रादिविशेषसहायतया नानात्वं भजते । तथा च "गतोऽस्तमर्कः" इत्यतः सपत्नं प्रत्यवस्कन्दनावसर इति, अभिसरणमुपक्रम्यतामिति, प्राप्तप्रायस्ते प्रेयानिति, कर्मकरणान्निवर्तामहे इति, सान्ध्यो विधिरुपक्रम्यतामिति, दूरं मा गा इति, सुरभयो गृहं प्रवेश्यन्तामिति, सन्तापोऽधुना न भवतीति, विक्रेयवस्तूनि संह्रियन्तामिति, नागतोऽद्यापि प्रेयानित्यादिरनवधिर्व्यङ्ग्योऽर्थस्तत्र तत्र प्रतिभाति । का. प्र. पृ. 259
2. वाच्यव्यङ्ग्ययोः निःशेषेत्यादौ निषेधविध्यात्मना ।

चाहिये और श्रृंगार प्रिय लोगों को विलासिनी-नितम्बों का सेवन करना चाहिये - यह निश्चय रूप है ।[1]

आचार्य के अनुसार केवल वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में ही भेद नहीं है अपितु वाचक शब्दों और व्यञ्जक शब्दों में भी भिन्नता होती है । वाचक तो उसी अर्थ का बोध कराने में समर्थ है जिसमें उसका संकेत है किन्तु व्यञ्जक शब्द के साथ ऐसा कोई नियम नहीं है । इस प्रकार वाचक शब्द को वाच्यार्थ की अपेक्षा है जबकि व्यञ्जक शब्द उन अर्थों का भी बोध कराते हैं जिनमें उनका संकेतग्रह नहीं हुआ है ।[2]

> वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकोलाहलं श्रण्वन्त्याः ।
> गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि ।।

यह पद्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है । इसमें कुञ्ज-प्रवेश रूप व्यङ्ग्यार्थ गौण है तथा अङ्गशैथिल्य रूप वाच्यार्थ प्रधान है । यहां पर "संकेत देने वाला कोई उपनायक लताकुञ्ज में प्रविष्ट हुआ है" इस व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वधू के अंग व्याकुल हो रहे हैं यह वाच्यार्थ अधिक चमत्कारक है तथा प्रधान है। जबकि व्यङ्ग्यार्थ गौण है अतएव गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है । प्रस्तुत पद्य में व्यङ्ग्यार्थ तात्पर्यभूत अर्थ तो है नहीं क्योंकि वाच्यार्थ ही तात्पर्यभूत अर्थ है । व्यङ्ग्यार्थ अभिधेय भी नहीं है क्योंकि मीमांसकों के "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" इस न्याय से जो विधेय है वही अभिधेय है । समस्या यह है कि जब व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति न अभिधा से हो रही है न ही तात्पर्या से तो उनसे भिन्न कोई शब्द-व्यापार तो अवश्य ही मानना पड़ेगा । वह व्यापार तो व्यञ्जना वृत्ति है । अतएव व्यञ्जना व्यापार का कथमपि अपलाप नहीं किया जा सकता ।[3]

1- इत्यादौ संशय - शान्त - श्रृङ्गार्यन्यतरगतनिश्चयरूपेण ।
- का. प्र. पृ. 259

2- वाचकानामर्थापेक्षा व्यञ्जकानान्तु न तदपेक्षत्वमिति न वाचकत्वमेव व्यञ्जकत्वम् ।
- का. प्र. पृ. 262

3- किं च वाणीरकुडंग्वित्यादौ प्रतीयमानमर्थमभिव्यज्य वाच्यं स्वरूपे एव यत्र विश्राम्यति तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्येऽतात्पर्यभूतोऽप्यर्थः स्वशब्दानभिधेयः प्रतीतिपथमवतरन् कस्य व्यापारस्य विषयतामवलम्बतामिति ।

नैयायिकों की धारणा है कि अभिधा मुख्यार्थ का बोध कराती है तथा उससे भिन्न जो अर्थ है, उनका बोध लक्षणा के द्वारा होता है, तो फिर अभिधा, लक्षणा के होते हुये इस अतिरिक्त व्यापार व्यञ्जना के मानने की क्या आवश्यकता है नैयायिक व्यञ्जना के विरोध में यह तर्क देते हैं कि जिस प्रकार एक शब्द के अनेक व्यङ्ग्यार्थ निकलते हैं, उसी प्रकार विभिन्न लक्ष्यार्थ भी निकलते हैं तो फिर इस नूतन व्यापार को मानने से क्या लाभ, उदाहरणार्थ "रामोऽस्मि सर्वं सहे" में राम शब्द का लक्ष्यार्थ सकलदुःखपात्र, "रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्" में राम शब्द का लक्ष्यार्थ निष्करुण तथा "रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्" में राम शब्द का लक्ष्यार्थ खरदूषणनिहन्ता है । अर्थात एक ही राम शब्द के भिन्न-भिन्न लक्ष्यार्थ हैं । नैयायिकों की ओर से दूसरा तर्क है कि अर्थान्तरसंक्रमित तथा अत्यन्ततिरस्कृत आदि जो ध्वनि भेद हैं उनमें भी लक्ष्यार्थ हेतु हैं । तीसरा तर्क यह है कि जिस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति शब्द तथा अर्थ के द्वारा होती है उसी प्रकार लक्ष्यार्थ की भी प्रतीति शब्द तथा अर्थ के द्वारा होती है । चौथा तर्क यह है कि जिस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ-बोध वक्तृबोद्धव्य-सापेक्ष होता है उसी प्रकार लक्ष्यार्थ का बोध भी प्रकरण तथा वक्त-सापेक्ष है। इस प्रकार जब व्यङ्ग्यार्थ के सारे वैशिष्ट्य लक्ष्यार्थ में निहित हैं तो व्यञ्जना व्यापार को मानने की क्या आवश्यकता? [1]

आचार्य मम्मट ने उपर्युक्त तर्कों का युक्तिपूर्वक खंडन करते हुये कहा है कि यद्यपि लक्ष्यार्थ के भी व्यङ्ग्यार्थ के समान अनेक रूप होते हैं, तथापि वे सभी अर्थ मुख्यार्थ से सम्बद्ध ही होते हैं । क्योंकि मुख्यार्थ सम्बन्ध लक्षणा का एक अनिवार्य हेतु है । व्यङ्ग्यार्थ के लिये ऐसा कोई अनिवार्य नियम नहीं है कि मुख्यार्थ से सम्बन्ध होना चाहिये । यह प्रतीयमान अर्थ तो कभी मुख्यार्थ से नियत रूप से सम्बन्धित, कभी अनियत

1- ननु - "रामोऽस्मि सर्वं सहे" इति,
रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम् इति ।
रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्" इत्यादौ
लक्षणीयोऽप्यर्थो नानात्वं भजते विशेष व्यपदेशहेतुश्च भवति
तदवगमश्च शब्दार्थायत्तः प्रकरणादिसव्यपेक्षश्चेति कोऽयं नूतनः
प्रतीयमानो नाम?

रूप से सम्बन्धित तथा कभी परम्परया सम्बन्धित होता है ।[1]

उदाहरणार्थ --

श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राऽहं दिवसकं प्रलोकय ।
मा पथिक, रात्र्यन्ध, शय्यायामावयोर्निमङ्. क्ष्यसि ।।

पद्य में मुख्यार्थ निषेधपरक है और व्यङ्. ग्यार्थ विधिपरक है । अतएव मुख्यार्थ और व्यङ्. ग्यार्थ में विरोध सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध प्रसिद्ध है। इस प्रकार यहां तो मुख्यार्थ से नियत सम्बन्ध वाला व्यङ्. ग्यार्थ है । एक तर्क मम्मट की ओर से यह भी है कि उपर्युक्त उदाहरण में मुख्यार्थ बाध तो है नहीं, तो फिर लक्षणा कैसे मानी जा सकती है । जबकि लक्षणा में प्रयोजन की प्रतीति के लिये व्यञ्जना का आश्रय लेना अनिवार्य है । इस प्रकार मम्मट के अनुसार लक्षणा अभिधापुच्छभूता है जो कि लोचनकार को भी मान्य है क्योंकि जिस प्रकार अभिधा को सङ्.केत की अपेक्षा होती है उसी प्रकार लक्षणा मुख्यार्थ-बाधादि हेतुत्रय की अपेक्षा रखती है । व्यञ्जना व्यापार लक्षणा कभी नहीं हो सकता क्योंकि यह व्यापार लक्षणा के पश्चात् भी प्रवृत्त होता है। जबकि लक्षणा का व्यञ्जना के पश्चात् कोई स्थान नहीं है । व्यञ्जना व्यापार अभिधा के पश्चात् भी प्रवृत्त होता है । किन्तु यह भी कोई अनिवार्य नियम नहीं है कि वह अवश्य ही अभिधा के पश्चात् ही प्रवृत्त हो । व्यञ्जना तो अवाचक वर्णों अर्थात् व्यञ्जक वर्णों से एवम् शब्द से रहित विभाव अनुभाव यथा कटाक्ष-निक्षेप आदि के द्वारा भी व्यङ्. ग्यार्थ का बोध कराती है ।[2]

1- उच्यते, लक्षणीयार्थस्य नानात्वेऽपि, अनेकार्थशब्दाभिधेयवन्नियतत्वमेव न खलु मुख्येनार्थेनाऽनियतसम्बन्धो लक्षयितुं शक्यते । प्रतीयमानस्य प्रकरणादिविषयवशेन नियतसम्बन्धः, अनियतसम्बन्धः, - द्योत्यते ।

- का. प्र. पं. उ. पृ. 264-65

2- न च लक्षणात्मकमेव ध्वननम्, तदनुगमेन तस्य दर्शनात् । न च तदनुगतमेव, अभिधावलम्बनेनापि तस्य भावात् न चोभयानुसार्येव, अवाचकवर्णानुसारेणापि तस्य दृष्टेः । न च शब्दानुसार्येव, अशब्दात्मकनेत्रत्रिभागावलोकनादिगतत्वेनापि तस्य प्रसिद्धेः ।

मुख्यार्थ के साथ व्यड्.ग्यार्थ के अनियत सम्बन्ध का उदाहरण द्रष्टव्य है --

कस्य वा न भवति रोषो दृष्टवा प्रियायाः सव्रणमधरम्

इसमें मुख्यार्थ का व्यड्.ग्यार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । प्रस्तुत उदाहरण में मुख्यार्थ का विषय सखी तथा व्यड्.ग्यार्थ का विषय बोद्धव्य भेद से अनेक रूप हैं । यथा पति, सपत्नी, सामाजिक आदि ।

मुख्यार्थ से परम्परया सम्बन्धित व्यड्.ग्यार्थ का उदाहरण द्रष्टव्य है --

विपरीतरते लक्ष्मीर्ब्रह्माणं दृष्ट्वा नाभिकमलस्थम् ।
हरेर्दक्षिणनयनं रसाकुला झटिति स्थगयति ।।

उपर्युक्त उदाहरण में व्यड्.ग्यार्थ का परम्परया सम्बन्ध है। अर्थात् वाच्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ के साथ व्यड्.ग्यार्थ का साक्षात् सम्बन्ध है तथा वाच्यार्थ के साथ अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है । इस श्लोक का वाच्यार्थ है --

विपरीत रति के समय, नाभिकमल में स्थित ब्रम्हा को देखकर रसाकुला लक्ष्मी, हरि के दक्षिण नेत्र को शीघ्र ही आवृत कर लेती ‡ढक लेती‡ है ।

यहां "हरि" पद से दक्षिण नेत्र का सूर्य रूप होना व्यञ्जना द्वारा गम्य है । सूर्य, चन्द्र विष्णु के दक्षिण तथा वाम नेत्र के रूप में पुराणों में प्रसिद्ध हैं । दक्षिण नेत्र के ढक लेने से सूर्यास्त होना व्यड्.ग्य है, सूर्यास्त होने पर पद्मसड्.कोच होने के कारण ब्रम्हा का ढक जाना व्यड्.ग्य है - ब्रम्हा के तिरोहित होने पर गोपनीय अड्.गों के दिखाई न देने के कारण अबाध रूप से रति विलास व्यड्.ग्य है । इस प्रकार यहां सम्बन्ध परम्परा के आधार पर प्रतीति-परम्परा होती है । अतएव

व्यङ्ग्य और वाच्य में सम्बद्धसम्बन्ध है ।[1]

इस प्रकार अभिधा, तात्पर्या तथा लक्षणा व्यापार से भिन्न ध्वनन व्यापार का कथमपि अपलाप सम्भाव्य नहीं है ।[2]

आचार्य मम्मट ने ब्रह्मवादी वेदान्तियों के सिद्धान्त का भी खण्डन करके व्यञ्जना की स्थापना की है । वेदान्तियों के अनुसार पद-पदार्थ विभाग से रहित वाक्य अखण्ड है। अतएव उसका अर्थ-बोध भी अखण्डरूप में ही होता है । इस प्रकार वाक्य ही वाचक है और वाक्यार्थ ही वाच्य है एवम् व्यङ्ग्यार्थ में भी वाक्य की ही शक्ति है, अन्य कुछ नहीं । आचार्य मम्मट इसका भी प्रत्युत्तर देते हुये कहते हैं कि भले ही वेदान्ती अखण्डवाक्य का सिद्धान्त स्वीकार करें किन्तु संसार में अविद्याकृत व्यवहार का आलम्बन करने वाले उन लोगों को भी पद पदार्थ की कल्पना करनी पड़ेगी ।[3] क्योंकि बिना इस प्रक्रिया के अखण्ड अर्थ के साथ अखण्ड वाक्य का बोध कैसे सम्भव हो सकेगा । परमार्थतः तो वाचक और वाच्य में कोई भेद नहीं । किन्तु व्यवहार दशा में वेदान्तियों के अनुसार दृश्यमान जगत की भी स्थिति है अतः । वाक्य में पद पदार्थ भी मानने ही होंगे ।

1- तत्र "अत्ता एत्थ" इत्यादौ नियतसम्बन्धः । कस्स वा ण होइ रोसो" इत्यादावानियतसम्बन्धः । "विपरीतरते........स्थगयति" इत्यादौ - : । अत्र हि हरिपदेन दक्षिणनयनस्य सूर्यात्मकता व्यज्यते। तन्निमीलनेन सूर्यास्तमयः, तेन पद्मस्य सङ्कोचः, ततो ब्रह्मणः स्थगनम् । तत्र सति गोप्याङ्गस्यादर्शनेन अनिर्यन्त्रणं निधुवनविलसितमिति ।

– का. प्र. पं. उ. पृ. 266-67

2- इति, अभिधातात्पर्यलक्षणात्मकव्यापारत्तयातिवर्ती ध्वननादिपर्यायो व्यापारोऽनपलपनीय एव ।

– का. प्र. पं. उ. पृ. 266

3- "अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः वाक्यमेव च वाचकम्" इति येऽप्याहुः, तैरप्यविद्यापदपतितैः पदपदार्थकल्पना कर्त्तव्यैवेति तत्पक्षेऽप्यवश्यमुक्तोदाहरणादौ विध्यादिर्व्यङ्ग्य एव ।

सामान्यतः पदार्थ संसर्गबोध को वाक्यार्थ कहा जाता है, किन्तु वेदान्तियों के अनुसार ऐसे वाक्य भी हैं जिनसे पदार्थ संसर्गबोध नहीं होता है, वे अखण्ड वाक्य हैं । ये वाक्य मुख्यतः लक्षण वाक्य हैं । किसी पदार्थ के रूप की जिज्ञासा होने पर लक्षण वाक्य द्वारा इसका उत्तर दिया जाता है । उदाहरणार्थ यदि चंद्रमा का स्वरूप जानने को उत्सुक कोई यह कहे कि "कतमश्चन्द्रः" तो उत्तर होगा "प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः" । इस प्रकार यह वाक्य संसर्ग का नहीं अपितु स्वरूपमात्र का बोध कराने के कारण अखण्डार्थ-वाक्य है । "सोऽयं देवदत्तः" तथा "तत्त्वमसि" आदि अखण्डार्थ वाक्य हैं ।

अखण्डार्थ वाक्य को दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि जिन वाक्यों में क्रिया - कारकादि का विभाजन न हो सके वे अखण्ड वाक्य हैं । वेदान्तियों के अनुसार ब्रह्म से भिन्न यह दृश्यमान जड़ जगत मिथ्या है "सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" अतः धर्म-धर्मिभाव तथा पद, पदार्थादि सब मिथ्या है । परमार्थिक दृष्टि से वेदान्ती अभिधा, लक्षणादि वृत्तियों को स्वीकार नहीं करते हैं किन्तु व्यवहारिक रूप में "तत्त्वमसि" महाकाव्य के अर्थ के लिये वेदान्ती "जहद्जहल्लक्षणा" (लक्षणा का एक भेद) को स्वीकार करते हैं । इस प्रकार जब वेदान्ती व्यावहारिक दृष्टि से पद-पदार्थ की स्थिति स्वीकार करते ही हैं तो व्यङ्.ग्यार्थ के स्थलों में भी उदाहरणार्थ "निःशेषच्युतचन्दनं" में वेदान्ती को व्यञ्जना व्यापार अवश्य ही स्वीकार करना होगा । वस्तुतः वेदान्ती ब्रम्हातिरिक्त कुछ भी सत्य नहीं मानते । अतएव उपर्युक्त उदाहरण में विधिरूप व्यङ्.ग्यार्थ भी असत्य है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से जगत की दृश्यमान स्थिति मान लेने पर इन अर्थों की सत्यता माननी पड़ेगी और जब अर्थ स्वीकार ही कर लिया तो उसकी प्रतीतिं कराने वाले व्यापार की स्वीकृति भी अनिवार्य है, क्योंकि अन्य कोई व्यापार इसकी प्रतीति कराने में सक्षम नहीं है, यह तो पूर्वसिद्ध है ।

जहां एक ओर प्रदीप, सारबोधिनी तथा बालबोधिनी टीकाओ के अनुसार मम्मट ने अपर्युक्त खण्डन वेदान्तियों के अखण्डतावाद का किया है वहीं दूसरी ओर प्रभा आदि टीकाओ के अनुसार उपर्युक्त खण्डन शब्दब्रम्हवादी वैयाकरणों का है ।

पदों का कोई अर्थ नहीं होता। अपितु पदार्थों का समष्टि रूप ही वाक्यार्थ होता है । पद प्रकृति का भेद केवल बालबुद्धि वालों के समझने के लिये है । इस प्रकार केवल प्रक्रिया दशा में §अविद्या पदपतितैः= असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा§ वैयाकरणों ने पद, पदार्थ के विभाग को स्वीकार किया है । इस प्रकार यही मानना उचित है कि आचार्य ने अपनी विशिष्ट शैली में वेदान्ती और वैयाकरण दोनों के मतों का एक साथ ही खण्डन किया है । वैयाकरणों के मत के प्रमाण रूप में लोचनकार द्वारा उद्धृत ये पंक्तियां हैं --

"येऽप्यविभक्तं स्फोटं वाक्यं तदर्थं चाहुः,
तैरप्यविद्यापदपतितैः सर्वैयमनुसरणीया प्रक्रिया ।[1]

यद्यपि आनन्दवर्धन ने वैयाकरणों की व्यञ्जना-विरोधियों के मध्य गणना नहीं की है और इस विषय में वे मौन हैं तथा ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना के लिये उनके ऋणी हैं[2] किन्तु लोचनकार ने स्पष्ट रूप से वैयाकरणों को भी व्यञ्जना को स्वीकार करने के लिये बाध्य कर दिया है ।

आचार्य मम्मट सभी विरोधियों के तर्कों का खण्डन करने के पश्चात् अब अनुमितिवाद को प्रस्तुत कर व्यञ्जना से उसका वैशिष्ट्य एवं पार्थक्य सिद्ध करते हैं । यदि अनुमितिवादी यह कहें कि अनुमान द्वारा ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ और वाच्यार्थ में व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव सम्बन्ध तो अवश्य ही रहता है, बिल्कुल असम्बद्ध तो नहीं होता अन्यथा किसी शब्द से किसी अर्थ की व्यञ्जना होने लगेगी । व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सम्बन्ध नियत सम्बन्ध है। नियत सम्बन्ध का ही अपर पर्याय व्याप्ति है । इस प्रकार व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव सम्बन्ध वस्तुतः अनुमाप्यानुमापकरूप है और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति अनुमिति है ।

1- ध्व. लो. प्र. उ. पृ. 111

2- परिनिश्चितनिरपभ्रंशशब्दब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहार इति तैः सह किं विरोधाविरोधौ चिन्त्येते ।
— ध्व. तृ. उ. पृ. 481

"त्रिरूपात् लिङ्.गात् लिङ्.गज्ञानम् अनुमानम्" । लिङ्.ग की त्रिरूपता है {1} पक्षसत्व {2} सपक्षसत्व {3} विपक्षव्यावृत्ति । यहां पर व्यञ्जक लिङ्.ग है तथा व्यङ्.ग्य लिङ्.गी है । व्यञ्जक रूप लिङ्.ग में व्याप्तत्व है अर्थात् प्रसिद्ध व्यङ्.ग्यार्थों के स्थल में व्यञ्जक अवश्य रहता है {सपक्षसत्व} । वाच्य आदि स्थलों में व्यञ्जक नहीं होता {विपक्षव्यावृत्ति} । जिज्ञासित व्यङ्.ग्य स्थल में भी व्यञ्जक विद्यमान है {पक्षसत्व} । इस प्रकार व्यञ्जक द्वारा व्यङ्.ग्य की प्रतीति अनुमान है ।[1] उदाहरणार्थ "भ्रम धार्मिक" में वाच्यार्थ विधिरूप है तथा व्यङ्.ग्यार्थ निषेधरूप है । महिमभट्ट ने बड़े संरम्भ के साथ इस निषेधरूप व्यङ्.ग्यार्थ को अनुमानगम्य माना है महिमभट्ट के अनुसार वाच्य और प्रतीयमान ये दोनों क्रम से ज्ञात होते हैं, उनके बीच साध्य-साधन सम्बन्ध है । वाच्य धूम के समान साधन है तथा प्रतीयमान अग्नि के समान साध्य है । वाच्यार्थ तो स्पष्ट है क्योंकि उसके भ्रमणविधान रूपी साध्य और भ्रमणविरोधी दुष्ट कुत्ते का मारा जाना रूपी कारण दोनों कह दिये गये हैं, किन्तु दूसरा {प्रतीयमान} भी इसी {वाच्यार्थ-विधि} से प्रतीत होता है जो इसके मारितः पद में णिजर्थ के ऊपर ध्यान से तथा प्रयोजक {मारने वाले} के स्वरूप का ज्ञान करने से सामर्थ्यवशात् विवेकी ज्ञाता को प्रतीत हो जाता है । यह सामर्थ्य कुत्ते के मर जाने पर भी वहां उससे अधिक क्रूर प्राणी के सद्भाव का कथन है, वही निषेधरूप प्रतीयमान की प्रतीति में

1- ननु वाच्यादसम्बद्ध तावन्न प्रतीयते यतः कुतश्चिद् यस्य कस्यचिदर्थस्य प्रतीतेः प्रसङ्.गाद् । एवं च सम्बन्धात् व्यङ्.ग्यव्यञ्जकभावोऽप्रतिबन्धेऽवश्यं न भवतीति व्याप्तत्वेन नियतधर्मिनिष्ठत्वेन च त्रिरूपाल्लिङ्.गाल्लिङ्.गज्ञानमनुमानं यत् तद्रूपः पर्यवस्यति ।

— का. प्र. पं. उ. पृ. 269

साधन है । इस साध्य और साधन का व्याप्ति सम्बन्ध है ।[1]

इस निषेधरूप अर्थ की अनुमानलभ्यता का खण्डन आचार्य मम्मट ने किया है । महिमभट्ट के उक्त विवेचन को पूर्वपक्ष के रूप में उपन्यस्त करके उसका खण्डन करते हुये आचार्य मम्मट कहते हैं कि "भ्रम धार्मिक" इस उदाहरण में जो हेतु महिमभट्ट ने माने हैं वे वस्तुतः हेतु नहीं हेत्वाभास हैं क्योंकि इसमें अनैकान्तिकतादि दोष निहित हैं । आचार्य मम्मट के अनुसार भीरु पुरुष भी कभी-कभी गुरु अथवा स्वामी की आज्ञा से या प्रिया के प्रबल अनुरागवश भय का कारण होने पर भी भ्रमण कर सकता है । इसीलिये यह हेतु अनैकान्तिक है । आचार्य का दूसरा तर्क है कि कुत्ते के स्पर्श से डरता हुआ भी कोई पुरुष वीरता के कारण सिंह से नहीं डरता इसलिये यह हेतु विरुद्ध भी है । तीसरा तर्क यह है कि सिंहोपलब्धिरूप हेतु में नायिका के कथन से सिंह का सद्भाव ज्ञात होता है, जो कि प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण द्वारा निश्चित नहीं है, अतएव अर्थ के साथ वचनों के नियत सम्बन्ध न होने के कारण यह वचन अप्रामाणिक है, अतएव

1-(क) अत्र हि द्वावर्थौ वाच्यप्रतीयमानौ विधिनिषेधात्मकौ क्रमेण प्रतीतिपथमवतरतः तयोर्धूमाग्नयोरिव साध्यसाधनभावेनावस्थानात् तत्राद्यस्तावद्विवेकसिद्धः स्पष्ट एव, भ्रमणविधिलक्षणस्य साध्यस्य तत्परिपन्थिक्रूरकुक्कुरमारणात्मनः साधनस्य चोभयोरप्युपादानात् । द्वितीयस्त्वत्र एव हेतोः पर्यालोचितणिजर्थस्य विवेकिनः प्रतिपत्तुः प्रयोजकस्वरूपनिरूपणेन सामर्थ्यात् प्रतीतिमवतरति । तस्य सामर्थ्यं मृतेऽपि कौलेयके क्रूरतरस्य सत्त्वान्तरस्य तत्रसद्भावावेदनं नाम नापरम् । तदेव च साधनम् । तयोश्चसाध्यसाधनयोरविनाभावनियमो विरोधमूलः ।

— हि. व्य. वि. पृ. 463

(ख) अत्र गृहे श्वनिवृत्त्या भ्रमणं विहितं गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धेरभ्रमणमनुमापयति । यद् यद भीरुभ्रमणं तत्तद्भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम् , गोदावरीतीरे च सिंहोपलब्धिरिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः ।

— का. प्र. पं. उ. पृ. 269

यह हेतु असिद्ध है ।[1] अब यह सहृदयों द्वारा ही विचारणीय है कि अनैकान्तिकतादि दोषों से युक्त हेतु से साध्य की सिद्धि कैसे सम्भव है ?[2]

इसी प्रकार "निःशेषच्युचन्दनं" उदाहरण में भी आचार्य मम्मट ने यह सिद्ध कर दिया है कि दूसरा अर्थ {व्यङ्ग्यार्थ} व्यञ्जना की सहायता से ही प्रतीत होता है अनुमानगम्य नहीं है । यदि अनुमितिवादी इस उदाहरण में "चन्दनच्यवन" आदि को सम्भोग के अनुमापक माने तो यह उचित नहीं है, क्योंकि चन्दनच्यवन आदि तो स्नानादि अन्य कारणों से भी सम्भव है अतः उपभोग के साथ इनकी व्याप्ति न बनने के कारण यह हेतु भी अनैकान्तिक है । व्यञ्जनावादी के अनुसार उपर्युक्त पद्य में "अधम" पद की सहायता से ही व्यङ्ग्यार्थ निकलता है । यहाँ पर अधमता प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध नहीं है अतएव अनुमान नहीं हो सकता किन्तु व्यञ्जना हो सकती है । क्योंकि इस प्रकार के अर्थ से "इस प्रकार का अर्थ प्रकट हो सकता है" इस मत को मानने वाले व्यञ्जनावादी के मत में उपर्युक्त उदाहरण में व्यञ्जना मानना सर्वथा अदुष्ट है ।[3]

1- अत्रोच्यते भीरुरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन प्रियानुरागेण अन्येन चैवंभूतेन हेतुना सत्यपि भयकारणे भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतुः । शुनो बिभ्यदपि वीरत्वेन सिंहान्न बिभेतीति विरुद्धोऽपि । गोदावरीतीरे सिंहसद्भावः प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न निश्चतः, अपि तु वचनात्, न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति, अर्थेनाप्रतिबन्धादित्यसिद्धश्च ।

— का. प्र. पं. उ. पृ. 271

2- तत्कथमेवंविधाद्धेतोः साध्यसिद्धिः ।

— का. प्र. पं. उ. पृ. 271

3- तथा निःशेषच्युतेत्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यवनादीन्युपात्तानि तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति अतश्चात्रैव स्नानकार्यत्वेनोक्तानीति नोपभोगे एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तिकतानि ।

व्यक्तिवादिना चाधमपदसहायानामेषां व्यञ्जकत्वमुक्तम् । न चात्राधमत्वं प्रमाणप्रतिपन्नमिति कथमनुमानम् । एवंविधादर्थादेवंविधोऽर्थ उपपत्त्यनपेक्षत्वेऽपि प्रकाशते इति व्यक्तिवादिनः पुनस्तद् अदूषणम् ।

— का. प्र. पं. उ. पृ. 272

मम्मट द्वारा हेत्वाभास पर आधारित महिमा की काव्यनुमिति का खण्डन बहुत उचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि महिमभट्ट ने काव्यानुमिति को लोकानुमिति से विलक्षण प्रतिपादित किया है । लोक में अग्नि सत् है किन्तु काव्य में रत्यादिक असत् है । अतः काव्यानुमिति प्रमाकोटि तक पहुंच भी कैसे सकती है । किन्तु जिस प्रकार महिमभट्ट ने आनन्दवर्धन के सिद्धान्त को बिना समझे उनकी आलोचना की है उसी प्रकार से इन्हीं की सरणि पर ध्वनि-सिद्धान्त के अनुयायियों ने भी महिमभट्ट की आलोचना की है, पर सम्पूर्ण दोष इन आलोचकों का ही हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, इसलिये कि आचार्य महिमभट्ट स्थल-स्थल पर उद्धृत करते हैं --

"त्रिरूपाल्लिङ्.गाद्यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्"[1]

इस शास्त्रीय अनुमान के लक्षण से अपने मत की पुष्टि करते समय उनके लिये यह आवश्यक था कि काव्यानुमिति सम्बन्धी अन्य बातों के समान ही वह यह भी प्रतिपादित करते कि काव्यानुमिति का लिङ्.ग शास्त्रों के लिङ्.ग से भिन्न है । यहाँ काव्य में लिङ्.ग की त्रिरूपता अनिवार्य नहीं, हेत्वाभासों से भी काव्य में कार्य चल सकता है ।[2]

विश्वनाथ

साहित्यदपर्णकार कविराज विश्वनाथ ने व्यन्जना की ऐसी परिभाषा दी है, जिससे उसकी अपरिहार्यता तो सिद्ध होती है, उसके आक्षेपों का भी निराकरण हो जाता है । आचार्य विश्वनाथ के अनुसार "अपना-अपना नियत अर्थ बोधन करके अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा इन तीनों वृत्तियों के विरत हो जाने पर रसादि के बोध के लिये चतुर्थ वृत्ति व्यन्जना वृत्ति स्वीकार की गई है।"[3]

1- हिन्दी व्यक्तिविवेक पृ. 81

2- संस्कृत काव्यशास्त्र को महिमभट्ट के देयाशों का मूल्यांकन.

3- वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधातात्पर्यलक्षणाख्यानाम् ।
अङ्.गीकार्या तुर्या वृत्तिर्बोधे रसादीनाम् ।।1।।
— सा. द. पं. परिच्छेद पृ. 156

आचार्य इसकी व्याख्या करते हुए बताते हैं कि अभिधा चूंकि सङ्केतित अर्थ का बोध कराके विश्रान्त हो जाती है और "शब्दबुद्धिकर्मणांविरम्यव्यापाराभावः" के अनुसार अभिधावृत्ति का पुनरुत्थान असम्भव है । इसके अतिरिक्त रस में सङ्केतग्रह नहीं होता और न ही विभावानुभावादि का अभिधान रस का अभिधान होता है अर्थात् दोनों एकरूप नहीं हैं अपितु रस और विभावादि परस्पर भिन्न-भिन्न हैं । अतएव अभिधा के द्वारा रस-प्रतीति का प्रश्न ही नहीं उठता । आचार्य एक तर्क और देते हैं कि जहां रस-प्रतीति होती है वहां श्रृंगारादि रसों का शब्दतः कथन नहीं होता और यदि होता है, तो वह स्थल दुष्ट माना जाता है । अतएव अभिधा रस-प्रतीति में असमर्थ है । जैसा कि देखा गया है कि " श्रृंगाररसोऽयम् " कहने पर श्रृंगार रस की प्रतीति नहीं होती जबकि विभावानुभावों के प्रतिपादन से ही रस-प्रतीति सम्भाव्य है पुनश्च रस को तो किसी भी प्रकार से शब्द की परिधि में बद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि यह तो स्वयं प्रकाश एवं आनन्दस्वरूप हैं ।[1]

आचार्य विश्वनाथ ने व्यङ्ग्यार्थ-प्रतीति में अभिधा को निरस्त करके तात्पर्या को भी इस विषय में असमर्थ सिद्ध किया है ।[2] अभिहितान्वयवादियों के द्वारा स्वीकृत तात्पर्या वृत्ति पदों के परस्पर अन्वय करने में ही परिक्षीण हो जाती है । अतएव तात्पर्य वृत्ति रस का बोध कैसे करा सकती है ।[3] साहित्यदर्पणकार ने भी मम्मट की ही सरणि पर व्यञ्जनाविरोधियों के तर्कों को निराधार सिद्ध किया है ।

---

1. अभिधायाः सङ्केतितार्थमात्रबोधनविरताया न वस्त्वलंकाररसादि व्यङ्ग्यबोधने क्षमत्वम् । न च सङ्केतितो रसादिः । नहि विभावाद्यभिधानमेव तदभिधानम्, तस्य तदेकरूप्यनङ्गीकारात् । यत्र च स्वशब्देनाभिधानं तत्र प्रत्युत दोष एवेति वक्ष्यामः । क्वचिच्च "श्रृङ्गाररसोऽयम् " इत्यादौ स्वशब्देनाभिधानेऽपि न तत्प्रतीतिः, तस्य स्वप्रकाशानन्दरूपत्वात् । – सा. द. पं. परि. पृ. 156
2. अभिहितान्वयवादिभिरङ्गीकृता तात्पर्याख्या वृत्तिरपि संसर्गमात्रे परिक्षीणा न व्यङ्ग्यबोधिनी ।

   सा. द. पंचम परिच्छेद पृ. 157
3. तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने ।
   तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधकं परे ।।
   अभिधायाः एकैकपदार्थबोधनविरमाद् वाक्यार्थरूपस्य पदार्थान्वयस्य

आचार्य विश्वनाथ ने पूर्वपक्षी के रूप में भट्ट लोल्लट एवं तात्पर्यवादी धनञ्जय-धनिक के मत को प्रस्तुत किया है । भट्ट लोल्लट के "सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधा-व्यापारः" सिद्धान्त का विगत पृष्ठों में सविस्तार उल्लेख किया जा चुका है । आचार्य धनिक के अनुसार, तात्पर्या वृत्ति से ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो सकती है । व्यञ्जना मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । उनके अनुसार केवल इतने अर्थ में ही तात्पर्य की विश्रान्ति हो जाती है, इसका नियम किसने बना दिया । वस्तुतः कार्य के बोध पर्यन्त तात्पर्य शक्ति का प्रसार होता है, वह, तराजू पर तौला नहीं गया है कि यहां तक तात्पर्य का विषय है आगे व्यङ्ग्य का ।[1]

आचार्य विश्वनाथ ने बड़ी ही कुशलता से इन दोनों ही मतों का एक ही युक्ति से खण्डन कर दिया है । भट्ट लोल्लट तो मीमांसक हैं ही, आचार्य धनिक की तात्पर्य वृत्ति भी मूलतः मीमांसकों की ही मान्यता है । अतएव अत्यधिक विस्तार न करके कविराज ने मीमांसकों द्वारा मान्य " शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः " सिद्धान्त के आधार पर उन दोनों के ही सिद्धान्त को निरस्त कर दिया है । मीमांसकों के अनुसार शब्द, बुद्धि और कर्म के एक बार प्रवृत्त होकर विश्रान्त होने पर पुनः प्रसरण नहीं होता है । प्रकृत विषय में इस सिद्धान्त के अनुसार यह निष्कर्ष हुआ कि तात्पर्या वृत्ति वाक्य में स्थित पदों का परस्पर अन्वय करने में प्रवृत्त होने के पश्चात् तथा अभिधावृत्ति संकेतित अर्थ का बोध कराने के पश्चात् पुनः प्रवृत्त नहीं हो सकती तो फिर व्यङ्ग्यार्थ का बोध इनके (अभिधा और तात्पर्या) द्वारा कैसे सम्भाव्य है । अतएव मीमांसक अपनी ही मान्यताओ का विरोध करने के कारण दण्डनीय हो जाते हैं ।[2]

कविराज की दूसरी युक्ति यह है कि जब भट्ट लोल्लट आदि अभिधा से ही समस्त अर्थों की प्रतीति मानते हैं तो फिर लक्षणा को क्यों

---

1. यावत्कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधृतम् । - दशरूपक च. प्र.
2. यच्च केचिदाहुः "सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः " इति, यच्च धनिकेनोक्तम्-"तात्पर्याव्यतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनिः । यावत्कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधृतम् ।।" इति, तयोरुपरि "शब्द-बुद्धिकर्मणां विरम्यव्यापाराभावः" इति वादिभिरेव पातनीयो दण्डः । सा. द. पं. परिच्छेद पृ. 157

मानते हैं । अतएव उनकी मान्यता में अन्तर्विरोध भी है । कविराज आचार्य मम्मट के ही तर्क को पुनः प्रस्तुत करते हुये कहते हैं कि यदि सभी अर्थ अभिधा के द्वारा बोध्य माने जायें तो फिर " ब्राह्मण । पुत्रस्ते जातः " तथा " कन्या ते गर्भिणी " इत्यादि वाक्यों में व्यञ्जित हर्ष और शोक आदि भी वाच्य मानने पड़ेंगे जो कि कथमपि सम्भाव्य नहीं है। अतएव भट्टलोल्लट की उपर्युक्त मान्यता निराधार है ।

अभिधा को व्यङ्ग्यार्थ-सिद्धि में अक्षम सिद्ध करके आचार्य विश्वनाथ ने एक बार पुनः धनञ्जय-धनिक की मान्यता का पूर्व वाचन करके अपने मौलिक तर्क से उसे निर्मूल कर दिया है । आचार्य धनञ्जय ने पौरुषेय तथा अपौरुषेय सभी वाक्यों को कार्यपरक बताया है । क्योंकि ऐसा न होने पर उद्देश्यहीन वाक्य तो उन्मत्त व्यक्ति का प्रलाप ही हो जावेगा अतएव काव्यशब्दों को भी कार्यपरक होना चाहिये । काव्य-शब्दों का उद्देश्य है " निरतिशयसुखास्वाद " इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं । प्रतिपाद्य (श्रोता) और प्रतिपादक (वक्ता) की प्रवृत्ति का औपयिक प्रयोजन निरतिशय सुखास्वाद के अतिरिक्त अन्य कुछ न होने के कारण काव्य शब्दों का कार्य निरतिशय सुखास्वाद ही माना जाना चाहिये। " यत्परः शब्दः स शब्दार्थः " के अनुसार शब्द जिस तात्पर्य का बोध कराने के लिये प्रयुक्त हो वही उस शब्द का अर्थ होता है । [1]

आचार्य विश्वनाथ पूर्वपक्षियों के उपर्युक्त सिद्धान्त पर प्रश्न चिन्ह रखते हैं कि यह " तत्परत्व " क्या वस्तु है । चूंकि धनञ्जय धनिक ने " तत्परत्व " के आधार पर ही अपने सिद्धान्त की स्थापना की है। अतएव कविराज सर्वप्रथम तत्परत्व का ही अर्थ पूर्वपक्षियों से पूछते हैं । कविराज के अनुसार तत्परत्व के दो अर्थ हो सकते हैं एक तो तत्परत्व-तदर्थत्व, दूसरा तत्परत्व=तात्पर्या वृत्ति से बोधित होना । यदि पहला अर्थ लें तो तदर्थत्व का अर्थ हुआ उस पद का अर्थ होना और इस प्रकार तत्परत्व का अर्थ व्यङ्ग्यार्थकत्व, भी हो सकता है । तदर्थत्व में यह

यत्पुनरुक्तं "पौरुषेयमपौरुषेयं च वाक्यं सर्वमेव कार्यपरम् , अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वादुन्मत्तवाक्यवत्, ततश्च काव्यशब्दानां निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रवृत्त्यौपयिक प्रयोजनानुपलब्धेर्निरतिशयसुखास्वाद एव कार्यत्वेनावधार्यते । "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" इति न्यायात्" इति ।

सा. द. पं. परिच्छेद पृ. 158

नहीं निश्चित होता है कि किस वृत्ति से वह अर्थ - बोध होगा । अतएव व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा गम्य अर्थ व्यङ्ग्यार्थ भी तदर्थ हो सकता है । अतएव प्रथम पक्ष में तो कोई विवाद का प्रश्न ही नहीं उठता । अब रही दूसरे पक्ष की बात तो कविराज पुनः एक प्रश्न करते हैं कि यह कौन सी तात्पर्या वृत्ति है यदि यह अभिहितान्वयवादिसम्मत है तो इसके द्वारा किसी भी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ का बोध नहीं सम्भाव्य है क्योंकि इसका कार्य वाक्य स्थित पदों के परस्पर अन्वय तक ही सीमित है, यदि यह तात्पर्यवृत्ति अभिहितान्वयवादियों द्वारा स्वीकृत तात्पर्यवृत्ति से भिन्न मानी जाये, तब तो यह तात्पर्यवृत्ति व्यञ्जना ही है, नाममात्र में भेद है । 1

इस प्रकार आचार्य विश्वनाथ ने अपने मौलिक तर्क से यह सिद्ध कर दिया है कि धनञ्जय धनिक की तात्पर्या वृत्ति न ही अभिहितान्वयवाद-सम्मत है और न ही परम्परागत वृत्ति है अपितु व्यञ्जना का ही अपरपर्याय है । वस्तुतः आचार्य धनिक ने तात्पर्या वृत्ति का अत्यधिक विस्तार करके उसे व्यञ्जना की कोटि तक पहुंचा दिया है । इस प्रकार तात्पर्या वृत्ति से व्यञ्जना का भेद आचार्य ने सुस्पष्ट कर दिया। यदि आचार्य विश्वनाथ धनञ्जय-धनिक सम्मत तात्पर्यावृत्ति को व्यञ्जना से भिन्न परम्परागत वृत्ति मानें तो पुनः एक समस्या उठ खड़ी होती है कि क्या तात्पर्यावृत्ति से विभावादि संसर्ग बोध तथा रस प्रतीति एक ही समय में साथ-साथ होगी ? किन्तु यह सम्भव नहीं है क्योंकि विभावादि-संसर्ग-बोध रस प्रतीति में कारण है तथा रसप्रतीति कार्यरूप है । अतएव युगपद् प्रतीति मानने पर कारणकार्यभाव सम्बन्ध ही न रह पायेगा । भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में उपर्युक्त सिद्धान्त की पुष्टि के लिये

---

1. तत्र प्रष्टव्यम्-किमिदं तत्परत्वं नाम, तदर्थत्वं वा, तात्पर्यवृत्त्या तद्बोधकत्वं वा । आद्ये न विवादः, व्यङ्ग्यत्वेऽपि तदर्थतानपायात् द्वितीये तु-केयं तात्पर्याख्या वृत्तिः । अभिहितान्वयवादिभिरङ्गीकृता, तदन्या वा । आद्ये दत्तमेवोत्तरम् । द्वितीये तु नाममात्रे विवादः । तन्मतेऽपि तुरीयवृत्तिसिद्धेः ।

सा. द. पं. प. पृ. 159

" विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः " कहा है । [1] इस प्रकार आचार्य विश्वनाथ के अनुसार तात्पर्यावृत्ति कदापि व्यञ्जना का स्थान ग्रहण नहीं कर सकती, यह सुनिश्चित है । लक्षणा में व्यञ्जना के अन्तर्भाव का निषेध करते हुये वे कहते हैं कि " गङ्‌.गायाम् घोषः " इत्यादि स्थलों में तटरूप अर्थ का बोध कराने वाली लक्षणा शैत्यपावनत्वरूप प्रयोजन की प्रतीति कराने में असमर्थ है । अतएव व्यञ्जना को स्वीकार करना अनिवार्य है ।

आचार्य इस विषय को संक्षेप में ही प्रस्तुत करके वाच्यार्थ और व्यङ्‌.ग्यार्थ का भेद भी स्पष्ट करते हैं । कविराज के अनुसार बोद्धा, स्वरूप, संख्या, निमित्त, कार्य, प्रतीति, काल, आश्रय, विषय आदि की भिन्नता के कारण व्यङ्‌.ग्यार्थ वाच्यार्थ से भिन्न है । [2]

वाच्यार्थ और व्यङ्‌.ग्यार्थ में परस्पर भेद का सर्वप्रथम आधार है बोद्धा । क्योंकि शब्दों का वाच्यार्थ तो वैयाकरणों को भी ज्ञात होता है किन्तु व्यङ्‌.ग्यार्थ की प्रतीति सहृदयमात्र को ही होती है । यदि दोनों अर्थों में भेद न होता तो फिर व्यङ्‌.ग्यार्थ को नीरस एवं शुष्क वैयाकरण भी समझ लेते ।

द्वितीय आधार है स्वरूप-भेद । " भ्रम धार्मिक " इत्यादि उदाहरणों में वाच्यार्थ विधिरूप एवं व्यङ्‌.ग्यार्थ निषेधरूप है। " निःशेष - च्युतचन्दनं " में वाच्यार्थ निषेधरूप एवं व्यङ्‌.ग्यार्थ विधिरूप है । तृतीय आधार है संख्या भेद । वाच्यार्थ सदैव एकरूप और नियत होता है जबकि व्यङ्‌.ग्यार्थ अनेकरूप होता है जैसे " गतोऽस्तमर्कः " इत्यादि में बोद्धा के भेद से व्यङ्‌.ग्यार्थ परिवर्तित होता जाता है ।

---

1. नन्वस्तु युगपदेव तात्पर्यशक्त्या विभावादिसंसर्गस्य रसादेश्च प्रकाशनम् इति चेत्, न । तयोर्हेतुफलभावाङ्‌.गीकारात् । यदाह मुनिः - "विभा-वानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः " इति । सहभावे च कुतः सव्येतरविषाणयोरिव कार्यकारणभावः । पौर्वापर्यविपर्ययात् ।
सा. द. पं. परिच्छेद पृ. 159
2. बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्य प्रतीतिकालानाम् ।
आश्रयविषयादीनां भेदाद् भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्‌.ग्यः ।।
सा.द.पं.परिच्छेद पृ. 159

चतुर्थ आधार निमित्त - भेद है । वाच्यार्थ का निमित्त शब्दज्ञानमात्र है परन्तु व्यङ्.ग्यार्थ के लिये सहृदयत्व और प्रतिभानैर्मल्य भी अपेक्षित है । पंचम आधार प्रतीति - भेद है । वाच्यार्थ से शब्द-बोध होता है जबकि व्यङ्.ग्यार्थ चमत्कारमय होता है । षष्ठ आधार काल-भेद है क्योंकि वाच्यार्थ प्रतीति के पश्चात् व्यङ्.ग्यार्थ की प्रतीति होती है । सप्तम आधार आश्रय-भेद है । वाच्य केवल शब्दाश्रित होता है । जबकि व्यङ्.ग्य शब्द में, शब्द के किसी एक अंश में अर्थ, वर्ण एवं रचना में भी हो सकता है । अन्तिम आधार विषय - भेद है। "कस्य वा न भवति रोषो" इत्यादि पद्य में वाच्यार्थ का विषय सखी और व्यङ्.ग्यार्थ का विषय उसका पति, सपत्नी जन एवं सहृदय इत्यादि अनेकों हैं।

कविराज ने वाच्यार्थ और व्यङ्.ग्यार्थ के जो भेदक लक्षण प्रस्तुत किये हैं, सम्भवतः उनका आधार आचार्य आनन्दवर्धन एवं मम्मट ही है । उदाहरणार्थ वाच्यार्थ और व्यङ्.ग्यार्थ में प्रथम भेद है बोद्धा का जो कि आनन्दवर्धन की निम्न पंक्तियों पर आधारित है ।

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्वज्ञैरेव केवलम् ।। [1]

शेष सभी भेदों का आधार भी आनन्दवर्धन एवं आचार्य मम्मट हैं । [2]

---

1. ध्व. प्र. उ. पृ. 157
2. अपि च वाच्योऽर्थः सर्वान् प्रतिपत्तृन् प्रति एकरूप एवेति नियतोऽसौ । न हि गतोऽस्तमर्कः इत्यादौ वाच्योऽर्थः क्वचिदन्यथा भवति । प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरणवक्तृप्रतिपत्त्रादिविशेषसहायतया नानात्वं भजते । ..... पूर्वपश्चाद्भावेन प्रतीतेः कालस्य शब्दाश्रयत्वेन शब्द - तदेकदेश - तदर्थवर्ण-संघटनाश्रयत्वेन च आश्रयस्य, शब्दानुशासनज्ञानेन प्रकरणादिसहायप्रतिभानैर्मल्यसहितेन तेन चावगम इति निमित्तस्य, बोद्धमात्र विदग्धव्यपदेशयोः प्रतीतिमात्रचमत्कृत्योश्च करणात् कार्यस्य, गतोऽस्तमर्क इत्यादौ ..... संख्यायाः कस्य वा न भवति .... इत्यादौ सखीतत्कान्तादिगतत्वेन विषयस्य च भेदेऽपि यद्येकत्वं तत्क्वचिदपि नीलपीतादौ भेदो न स्यात् ।

का.प्र.पं.उ.पृ. 258, 60-61

रसादि की प्रतीति तो व्यञ्जना के बिना हो ही नहीं सकती इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिये इस कारिका को उद्धृत करते हैं –

प्रागसत्वाद्रसादेर्नो बोधिके लक्षणाभिधे ।
किंच मुख्यार्थबाधस्य विरहादपि लक्षणा ।। 1

लक्षणा और अभिधा पूर्व सिद्ध अर्थों का बोध कराती हैं किन्तु रस का सत्व पूर्वसिद्ध नहीं है, अतएव अभिधा, लक्षणा रस प्रतीति में सक्षम नहीं है । रसनात्मक व्यापार से भिन्न रस पद का प्रतिपाद्य कोई पदार्थ प्रमाणसिद्ध नहीं है जिसे लक्षणा और अभिधा बोधित कर सके । इसके अतिरिक्त रसप्रतीति के स्थल में मुख्यार्थ–बाध तो होता नहीं अतएव लक्षणा निरवकाश है । काव्यप्रकाशकार की ये पंक्तियां द्रष्टव्य है –

"वाचकानामर्थापेक्षा, व्यञ्जकानां तु न तदपेक्षत्वम्"

अर्थात् अभिधा, लक्षणा दोनों संकेतित अर्थों की अपेक्षा रखती है, व्यञ्जकों को उनकी अपेक्षा नहीं होती । इस प्रकार अभिधा के द्वारा रस – बोध इसी कारण नहीं हो पाता क्योंकि रस के व्यञ्जक पदों का सङ्केत उस रस में नहीं होता । पुनः लक्षणा द्वारा अर्थ – प्रतीति में तीन परमावश्यक हेतु भी हैं जिनके न होने पर लक्षणा नहीं हो सकती और चूंकि रस – बोध में लक्षणा के तीनों हेतु रहते नहीं है अतएव लक्षणा रस – प्रतीति में समर्थ नहीं है ।

लक्षणा का प्रवेश तो वहीं हो सकता है जहां " गङ्गायां घोषः " इत्यादि प्रयोगों में पदों का अन्वय अनुपपन्न होने के कारण बाधित हो जाय जैसा कि न्याय कुसुमाञ्जलि में उदयनाचार्य ने भी लिखा है –

श्रुतान्वयादनाकाङ्क्षं न वाक्यं ह्यन्यदिच्छति ।
पदार्थान्वयवैधुर्यात्तदाक्षिप्तेन सङ्गतिः ।। 2

---

1. सा. द. पं. पृ. 161
2. किंच यत्र " गङ्गायां घोषः " इत्यादावुपात्तशब्दार्थानां बुभूषन्नेवान्वयोऽनुपपत्तया बाध्यते तत्रैव हि लक्षणायाः प्रवेशः । यदुक्तं न्यायकुसुमाञ्जलावुदयनाचार्यैः :–

सा. द. पं. परि. पृ. 161

होता है । इसलिये लक्षणा विषयक ज्ञान का विषय तट तथा शैत्यपावनत्वादि प्रयोजन की प्रतीति रूप फल भिन्न-भिन्न हैं । अतएव लक्षणा प्रयोजन की प्रतीति कराने में असमर्थ है ।[1]

उपर्युक्त लक्षणा विषयक विवेचन आचार्य विश्वनाथ ने आचार्य मम्मट की ही सरणि पर किया है तथा जो-जो तर्क मम्मट ने दिये हैं, उन्हीं तर्कों का पुनरुल्लेख किया है ।

कविराज विश्वनाथ के अनुसार व्यङ्ग्य रसादि का बोध कराने में अनुमान सक्षम नहीं है, क्योंकि व्यङ्ग्य अर्थ को अनुमेय सिद्ध करने के लिये जो हेतु दिये जाते हैं, वे वस्तुतः हेत्वाभास हैं, तथा हेतु के असत् होने के कारण रसादि की प्रतीति स्मृति भी नहीं मानी जा सकती ।[2]

कविराज ने पूर्वपक्षी के रूप में महिमभट्ट के मत को प्रस्तुत करके अपनी खण्डनात्मक युक्तियों से स्वमत का स्थापन करके रस को अनुमान प्रक्रिया से अलभ्य सिद्ध किया है ।

महिमभट्ट के अनुसार जो विभावादिकों के द्वारा रस-प्रतीति होती है वह अनुमान के द्वारा ही सम्भाव्य है । रसादि की प्रतीति में विभावानुभाव व्यभिचारी साधन हैं । इस प्रकार विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी क्रमशः कारण, कार्य और सहाकारी होकर उनका अनुमान कराते हुये ही रस का निष्पादन करते हैं । अनुमान के द्वारा प्रतीयमान वें विभावादिक आस्वादपदवी को प्राप्त होते हुये " रस- रूप " हो जाते हैं ।

---

1. न चापि प्रयोजनविशिष्ट एव तीरे लक्षणा । विषयप्रयोजनयोर्युगपत्प्रतीत्यनभ्युपगमात् । नीलादिसंवेदनानन्तरमेव हि ज्ञाततायाः अनुव्यवसायस्य वा सम्भवः ।

   सा. द. पं. परि. पृ. 162

2. नानुमानं रसादीनां व्यङ्ग्यानां बोधनक्षमम् ।
   आभासत्वेन हेतूनां स्मृतिर्न च रसादिधीः ।।

   सा. द. पं. परि. पृ. 162-63

इस प्रकार कारणादि की प्रतीति, रत्यादि का अनुमान और तत्पश्चात् रस निष्पत्ति होती है, इस प्रकार यहां पर भी पौर्वापर्य क्रम अवश्य है किन्तु शीघ्रता के कारण दिखाई नहीं पड़ता, अतएव अलक्ष्यक्रमव्यङ्.ग्य कहा गया है । चूंकि विभावादि - प्रतीति और रस प्रतीति में क्रम है, अतएव विभावादि - प्रतीति साधन तथा रस-प्रतीति साध्य हुई और चूंकि साधन ‡ हेतु ‡ की सहायता से साध्य का ज्ञान अनुमान के द्वारा ही होता है अतएव यह रस -प्रतीति भी अनुमान के द्वारा ही मानी जानी चाहिये ।[1]

महिमभट्ट की उपर्युक्त धारणा के सन्दर्भ में कविराज ने दो प्रश्न चिन्ह रखे हैं - ‡1‡ क्या महिमभट्ट का तात्पर्य है कि काव्य में वर्णित अथवा अभिनय में प्रदर्शित विभावादि के द्वारा रामादिगत रत्यादि का ज्ञान ही रस रूप में अभिहित होता है? अथवा रस से व्यक्तिविवेककार का तात्पर्य उस स्वप्रकाशानन्द रस से है जो काव्य, नाटक द्वारा समर्पित विभावादि के द्वारा सहृदयों के हृदय में भावित हो ।

ग्रन्थकार बड़े ही विश्वस्तपूर्ण ढंग से उपर्युक्त दोनों विकल्पों का मूल्यांकन करते हुये कहते हैं कि यदि पहला विकल्प स्वीकार करें तो कोई विशेष विरोध नहीं किन्तु इतना अवश्य है कि ध्वनिवादी के अनुसार रामादिगतरति का ज्ञान ही रस नहीं है अतएव रस अनुमानगम्य सिद्ध नहीं हो सकता । दूसरे विकल्प को मानने पर तो व्याप्ति ही नहीं बनती । सामाजिक के हृदय में भावित स्वप्रकाशानन्दस्वरूप रस को यदि अनुमान का विषय मान लेंगे तो हेतु ही नहीं बनेगा अपितु हेत्वाभास ही है । अर्थात् राम और सीता की चेष्टाओं से हमें यह अनुमान हो जाता है कि " राम सीता में अनुरक्त हैं " किन्तु रामादिगत रत्यादिज्ञान ही रस नहीं है अपितु सहृदयों के हृदय में स्थित रत्यादि का जो अलौकिक आनन्द के रूप में परिणाम होता है वही रस है । इस प्रकार यहां पर अनुमान प्रक्रिया

---

1. व्यक्तिविवेककारेण हि-"यापि विभावादिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः सानुमान एवान्तर्भवितुमर्हति । विभावानुभावव्यभिचारिप्रतीतिर्हि रसादिप्रतीतेः साधनमिष्यते । ते हि रत्यादीनां भावानां कारणकार्यसहकारिभूतास्तान - नुमापयन्त एव रसादीन्निष्पादयन्ति । त एव प्रतीयमाना आस्वादपदवीं गताः सन्तो रसा उच्यन्त इति अवश्यंभावी तत्प्रतीतिक्रमः, केवलमाशुभावितया न लक्ष्यते, यतोऽयमद्याप्यभिव्यक्तिक्रमः । "
सा. द. पं. परि. पृ. 163

का कोई अवकाश नहीं है । [1]

कविराज अभी इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हैं, अपितु पुनः महिमभट्ट के मत को प्रस्तुत करके उसके खण्डन के लिये कटिबद्ध हैं ।

महिमभट्ट के अनुसार स्वप्रकाशानन्दरूप रस में व्याप्ति इस प्रकार है – जहां – जहां इस प्रकार के विभाव, अनुभाव, संचारी भावों का अभिनय या कथन होता है, वहां – वहां श्रृंगारादि रसों का आविर्भाव होता है । अर्थात् यहां पर व्याप्ति और पक्षधर्मता दोनों ही सुग्रह है । [2] आचार्य महिमभट्ट की यह भी मान्यता है कि व्यञ्जनावादी जिस सामग्री (विभावादि) को दूसरे अर्थ की अभिव्यक्ति का कारण मानते हैं उसी को वे अनुमितिपक्ष में गमक अर्थात् अनुमिति का साधक मानते हैं । [3]

जो महिमभट्ट ने व्याप्ति बनाई है अर्थात् जहां – जहां विभावादिकों का वर्णन होता है, वहां – वहां रसों का आविर्भाव होता है इसमें ध्वनिवादियों को कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि अन्वय – व्यतिरेक से ध्वनिवादी भी यही मानते हैं कि जहां – जहां विभावादि का वर्णन होता है वहां – वहां रस प्रतीति भी होती है । किन्तु रस–प्रतीति उस

---

1. तत्र प्रष्टव्यम् किं शब्दाभिनयसमर्पितविभावादिप्रत्ययानुमितरामादिगतरागादि – ज्ञानमेव रसत्वेनाभिमतं भवतः, तद्भावनया भावुकैर्भाव्यमानः स्वप्रकाशानन्दो वा । आद्ये न विवादः । किन्तु रामादिगतरागादिज्ञानं रससंज्ञया नोच्यतेऽस्माभिः इत्येव विशेषः । द्वितीयस्तु व्याप्तिग्रहणाभावाद्धेतोराभासतयाऽसिद्ध एव ।

   सा. द. पं. प्रिर. पृ. 163

2. यच्चोक्तं तेनैव – " यत्र यत्रैवंविधानां विभावानुभावसात्त्विकसंचारिणा – मभिधानमभिनयो वा तत्र तत्र श्रृंङ्.गारादिरसाविर्भावः " इति सुग्रहैव व्याप्तिः पक्षधर्मता च ।

   सा. द. पं. परि. पृ. 164

3. यार्थान्तराभिव्यक्तौ वः सामग्रीष्टा निबन्धनम् ।
   सैवानुमितिपक्षे नो गमकत्वेन संमता ।।

रूप में मान्य नहीं है, जिस रूप में अनुमितिवादियों को मान्य है।[1] अनुमितिवादियों के अनुसार प्रतीति है रसादि विषयक बोध, किन्तु आस्वाद्य रूप रस नहीं । ध्वनिवादियों की यह मान्यता है कि निरन्तर आनन्द के अतिशय से युक्त, अपने ही प्रकाशमात्र में विश्रान्त प्रतीति "रस" है, वही सहृदयों द्वारा अनुभूत होता है। अनुमितिवादियों के अनुसार रस-प्रतीति का जो स्वरूप है उसमें निरन्तर आनन्दातिशय तथा स्वप्रकाशकत्व कैसे सम्भव है इस प्रकार अनुमान से ज्ञात रसविषयक प्रतीति और प्रत्यक्ष अनुभूत रस-प्रतीति में पर्याप्त भेद है ।

कविराज को अनुमितिवादियों द्वारा मान्य "विभावादिप्रतीतिमत्त्वात्" हेतु स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि रसादिविषयक प्रतीति और रसादिरूप में प्रतीति-भेद है । उस प्रकार की अनुमिति में आस्वाद्यत्व का कोई स्थान ही नहीं है । यहां पर हेतु है "विभावादिप्रतीतिमत्त्वात्" तथा साध्य है "स्वप्रकाशानन्दरूपरस" जबकि सिद्ध हो रही है रसादि विषयक प्रतीति अतएव यह शुद्ध हेतु नहीं अपितु हेत्वाभास है । जहां जो सिद्ध करना अभीष्ट हो, उससे भिन्न वस्तु को सिद्ध करने के कारण हेतु में आभासत्व हो जाता है अर्थात वह हेतु हेत्वाभास कहलाते हैं ।[2]

उपर्युक्त हेतु "विभावादिमत्त्वात्" में एक दोष यह भी है कि शुष्क मीमांसक और वैयाकरण आदि को भी विभावादि प्रतीति होती है परन्तु रसस्वरूप की प्रतीति नहीं होती अर्थात् वे रस का आस्वादन नहीं कर पाते । अर्थात् मीमांसक आदि भी तो विभावादिकों के द्वारा राम, सीतागत अनुराग का अनुमान तो कर लेते हैं, किन्तु उसका आस्वादन नहीं कर पाते, अतएव यह हेतु व्यभिचारी है और "विभावादिप्रतीतिमत्त्वात्" और "रसादिप्रतीतिमान" में व्याप्ति नहीं बनती ।

आचार्य महिमभट्ट ने जो यह कहा कि व्यञ्जनावादियों के

1- इदमपि नो न विरुद्धम्। न ह्येवंविधा प्रतीतिरास्वाद्यत्वेनास्माकमभिमता।
- सा. द. पं. परि. पृ. 164

2- तेनात्र सिषाधयिषितादर्थादर्थान्तरस्य साधनाद्धेतोराभासता ।
- सा. द. पं. परि. पृ. 164

अनुसार जिस सामग्री का अर्थान्तर की प्रतीति में निबन्धन होता है उसी को अनुमिति पक्ष में गमक कहा जाता है , कविराज के अनुसार यह भी अनुचित है, क्योंकि विभावादि की प्रतीति के साथ अनुमान कैसे हो सकता है. विभावादि व्यञ्जक तो हो सकते हैं , क्योंकि वह स्वयं को प्रकाशित करता हुआ व्यङ्.ग्य को भी प्रकाशित करता है। किन्तु व्यङ्.ग्यार्थ की प्रतीति सहृदयों को ही होती है। अतएव वाच्यार्थ के पश्चात् व्यङ्.ग्यार्थ की प्रतीति अतिप्रसंग नहीं कही जा सकती। अतएव व्यञ्जनावादियों के अनुसार विभावादि के साथ रस-प्रतीति सर्वथा उपयुक्त है, किन्तु अनुमितिवादियों के अनुसार ऐसा होने पर हेत्वाभास हो जाता है । अतः रस अनुमेय नहीं है, अपितु व्यङ्.ग्य है ।

व्यक्तिविवेककार ने वस्तुरूप और अलंकाररूप व्यङ्.ग्य को भी अनुमानगम्य माना है और इनके उदाहरणस्वरूप दो पद्य उद्धृत किये हैं ।

सर्वप्रथम वस्तुध्वनि का उदाहरण द्रष्टव्य है --

भम धम्मिअ वीसत्थो स सुणओ अज्ज मारिओ देण ।
गोलाणइकच्छकुडङ्.गवासिणा दरिअसिंहेण ।।
§भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदावरीनदीकूललतागहनवासिना दृप्तसिंहेन ।। §

प्रस्तुत पद्य में भी अनुमान है । जैसे - "पर्वतो वह्निमान धूमवत्त्वात्" इस अनुमान में पक्षसत्व सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति यह तीनों धर्मों से युक्त हेतु अनुमापक होता है उसी प्रकार प्रस्तुत पद्य में सहृदय पुरूष अनुमाता हैं । धार्मिक पुरुष पक्ष है, गोदावरी नदी के तट पर भ्रमण न करना साध्य है। कुत्ते की निवृत्ति के कारण भ्रमण में विश्वस्तता से भीरूसम्बिन्धत्व प्रतीत होता है। अर्थात् भीरूपुरुष ही कुत्ते से डरते हैं, क्योंकि धार्मिक कभी कुत्ते से भयभीत रहता था, अतएव धार्मिक भीरू है। इसलिये "भीरूभ्रमण" रूप हेतु सिंहयुक्त गोदावरी के तट पर भ्रमण-निषेध का अनुमापक है ।[1]

1- "भम धम्मिअ - इत्यादौ गृहे श्वनिवृत्त्या विहितं भ्रमणं गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धेरभ्रमणमनुमापयति" ।

- सा. द. पं. परि. पृ. 165-66

अथ अलंकारध्वनि का उदाहरण द्रष्टव्य है --

जलकेलितरलकरतलमुक्तपुनः विहितराधिकावदनः ।
जगदवतु कोकयूनोर्विघटनसंघटनकौतुकी कृष्णः ।।

जलक्रीडा के समय श्रीकृष्ण राधिका के मुख को बार-बार ढकते हुये और मुक्त करते हुये, चक्रवाक युगल के संयोग और वियोग में आनन्द लेने वाले श्री कृष्ण जगत की रक्षा करें । यहां पर रूपक अलंकार शब्दतः कथित नहीं हैं, अपितु व्यङ्.ग्य है । क्योंकि राधा के मुख पर चन्द्र का अभेद आरोप होने पर ही मुखरूपी चन्द्र के ढकने से मुखरूपी चन्द्र का संयोग और मुक्त होने पर वियोग सम्भव है ।

महिमभट्ट के अनुसार पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति इन तीनों धर्मों से युक्त लिंग द्वारा लिंगी का अनुमान होता है, तथा वाच्यार्थ से असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति तो हो ही नहीं सकती, अन्यथा अतिप्रसंग हो जाये । इसलिये बोध्य और बोधक अर्थों में कोई सम्बन्ध अवश्य होना चाहिये । इस प्रकार बोधक अर्थ लिङ्.ग है तथा बोध्य लिङ्.गी है । बोधक अर्थ का पक्षसत्त्व सिद्ध है । सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति भी यद्यपि कहे नहीं गये हैं, किन्तु सामर्थ्य से जान लेना चाहिये । इस प्रकार वाच्यार्थ रूप लिङ्.ग से प्रतीयमान अर्थरूप लिङ्.गी की प्रतीति अनुमान ही है ।[1]

कविराज ने उपर्युक्त मत का खण्डन आचार्य मम्मट की ही सरणि पर किया है । विश्वनाथ ने भी "भ्रम धार्मिक" पद्य में सिंहोपलब्धि हेतु

1- इत्यादौ च रूपकालंकारादयोऽनुमेया एव । तथाहि-अनुमानं नाम पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तत्वविशिष्टाल्लिङ्.गाल्लिङ्.गिनो ज्ञानम् । ततश्च वाच्यादसंबद्धोऽर्थस्तावन्न प्रतीयते । अन्यथातिप्रसङ्.गः स्यात्, इति बोध्यबोधकयोरर्थयोः कश्चित्संबन्धोऽस्त्येव । ततश्च बोधकोऽर्थो लिङ्.गम् , बोध्यश्च लिङ्.गी । बोधकस्य चार्थस्य पक्षसत्त्वं निबद्धमेव । सपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तत्वे अनिबद्धे अपि सामर्थ्यादवसेये । तस्मादत्र यद्वाच्यार्थाल्लिङ्.गरूपाल्लिङ्.गिनो व्यङ्.ग्यार्थस्यावगमस्तदनुमान एव पर्यवस्यति । - सा. द. पं. परि. पृ. 165

को अनैकान्तिक, असिद्ध और विरुद्ध सिद्ध किया है जिसका कि आचार्य मम्मट ने बड़े ही विस्तार पूर्वक काव्य-प्रकाश में विवेचन किया है ।

कविराज ने संक्षेप में ही इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है कि वस्तुध्वनि में कथमपि अनुमान प्रमाण समर्थ नहीं है । विश्वनाथ कहते हैं कि यहां पर महिमभट्ट ने भीरुभ्रमण "हेतु" माना है तथा गोदावरीतट पर भ्रमणाभाव साध्य माना है, किन्तु यह हेतु अनैकान्तिक है क्योंकि यदि भयावह स्थान पर भीरु का कभी भ्रमण होता ही न हो तब तो भीरुभ्रमण होने के कारण गोदावरीतट पर भीरु धार्मिक के भ्रमण का अभाव सिद्ध हो सकता है, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं होता क्योंकि ऐसा देखा गया है कि कभी गुरु अथवा स्वामी की आज्ञा अथवा प्रिय के अनुराग में भीरु पुरुष का भ्रमण भयावह स्थानों पर भी होता है । इसलिये उक्त हेतु हेत्वाभास है ।[1] यदि यह कहा जाये कि क्योंकि स्वेच्छया भीरु ऐसे स्थानों में कभी नहीं जाता, अतः हम उसका अनुमान करेगें तो भी उचित नहीं है क्योंकि यहां पर सूचना देने वाली एक पुंश्चली है और उसके वचन की प्रामाणिकता में सन्देह होने के कारण उक्त हेतु असिद्ध भी हैं ।[2]

अलंकार ध्वनि की अनुमेयता का खण्डन करते हुये आचार्य कहते हैं -- पहले जो महिमभट्ट ने अलंकारध्वनि के स्थल में अनुमान प्रक्रिया लगाई है वहां यह कोई आवश्यक नहीं कि चक्रवाक-युगल के संयोग और वियोग का कारण चन्द्रमा ही हो, क्योंकि उनके संयोग वियोग का कारण किसी बहेलिया अथवा शक्तिशाली पशु का संत्रास भी हो सकता है, इसलिये यह हेतु भी अनैकान्तिक है ।

यदि इस प्रकार से अनुमान प्रक्रिया घटित की जाये कि "इस प्रकार के अर्थ इस प्रकार के अर्थ का बोधक है इस प्रकार के अर्थ होने

1- तथा ह्यत्र "भ्रम धम्मिअ - इत्यादौ गृहे श्वनिवृत्त्या भ्रमणं गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धेरभ्रमणमनुमापयति" इति यद्वक्तव्यं तत्रानैकान्तिको हेतुः । भीरोरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन प्रियानुरागेण वा गमनस्य सम्भवात् ।

— सा. द. पं. परि. पृ. 165-66

2- पुंश्चल्या वचनं प्रामाणिकं न वेति संदिग्धासिद्धश्च ।

— सा. द. पं. परि. पृ. 166

से यदि वैसा अर्थ न होता अर्थात् बोधक अर्थ ऐसा न होता तो इस प्रकार अर्थ भी न होता । ऐसे स्थलों पर अनिष्ट अर्थ भी लिया जा सकता है क्योंकि यहां हेतु है "एवंविधार्थत्वात्" उसके शब्द ऐसे नहीं जो किसी विशेष वस्तु का विशेष रूप से निर्देश कर सकें, सामान्यतः सभी ओर उसे घटित किया जा सकता है अतः यहां भी हेत्वाभास हो जावेगा । इस प्रकार अलंकार ध्वनि का बोध कराने के लिये व्यञ्जना ही अनिवार्य है अनुमान नहीं ।[1]

इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण देकर आचार्य पुनः इसे और स्पष्ट करते हैं ।

> दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि । क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि ,
> प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति ।
> एकाकिन्यपि यामि सत्वरमितः स्त्रोतस्तमालाकुलम्
> नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थयः ।।

यह एक नायिका का कथन है, जो उपपति से मिलने के लिये जाना चाहती है । संभोग के प्रसंग में स्तनों पर नखक्षत आदि को छिपाने के लिये अपनी सखी से इस प्रकार कह रही है --

हे पड़ोसिन । क्षण भर को मेरे इस घर पर भी दृष्टि रखना । इस शिशु का पिता कुएं का विरस पानी नहीं पियेगा । अतः अकेली ही जाऊंगी, शीघ्रता से लौटूंगी, भले ही स्त्रोत के निकट उठे हुये नल के तनों से शरीर पर क्षत हो जाये ।

प्रस्तुत पद्य में अनुमानवादियों की दृष्टि में "एकाकी गमन" और "नलग्रन्थियों" से पड़े हुये क्षत के कथन के द्वारा उपपति से उपभोग का अनुमान होता है । यहां पर भी आचार्य विश्वनाथ के अनुसार पूर्व

1- "एवंविधोऽर्थ एवंविधार्थबोधक एवंविधार्थत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्" इत्यनुमानेऽप्याभाससमानयोगक्षेमो हेतुः । "एवंविधार्थत्वात्" इति हेतुना एवंविधानिष्टसाधनस्याप्युपपत्तेः ।

— सा. द. पं. परि. पृ. 166-67

पद्यों की भांति हेतु अनैकान्तिक है, चूंकि श्लोक में पति के प्रेम के कारण अकेले आने की बात कही गई है और किसी पतिव्रता स्त्री के लिये यह असम्भव नहीं है । अतः उपपति से उपभोग का अनुमान इस पद्य में सम्भव नहीं है ।[1]

आचार्य विश्वनाथ एक और उदाहरण देकर व्यङ्ग्यार्थ का व्यङ्ग्यत्व सिद्ध करने के लिये अनुमितिवाद का प्रबल युक्तिपूर्वक खण्डन करते हैं --

> निःशेषच्युतचंदनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
> नेत्रे दूरमनंजने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।
> मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे,
> वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ।।

प्रस्तुत पद्य में एक नायिका का दूती के प्रति कथन है --

कविराज इस पद्य के सन्दर्भ में अनुमितिवादियों से यह पूछते हैं कि यदि यहां पर दूती का नायक के साथ सम्भोग अनुमित होता है तो §1§ क्या नायिका की यह उक्ति स्वयं दूती की रतिक्रीडा का अनुमान कराती है । §2§ अथवा वहां पर स्थित अन्य जन दूती की रति क्रीडा का अनुमान कर रहे हैं। §3§ अथवा सहृदय जन दूती की रति क्रीडा का अनुमान कर रहे हैं।

प्रथम विकल्प में अनुमान का कोई प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि दूती प्रत्यक्ष ही स्वयं उसके साथ सम्भोग करके आई है । द्वितीय विकल्प में अन्य जनों के द्वारा चन्दन च्यवनादि का कारण वापी-स्नान मान लेना भी स्वभाविक है । तृतीय विकल्प के विषय में सहृदयों के अनुमान के विषय में सन्देह है। वस्तुतः वापी-स्नान से चन्दन-च्यवनादि सम्भव है यह

1- तथा "दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे" - इत्यादौ नलग्रन्थीनां तनूलिखनम् एकाकितया च स्त्रोतोगमनम् तस्याः परकामुकोपभोगस्य लिङ्गिनो लिङ्गमित्युच्यते । तच्चात्रैवाभिहितेन स्वकान्तस्नेहेनापि सम्भवतीत्यनैकान्तिको हेतुः ।

— सा. द. पं. परि. पृ. 167

उपभोग के कार्य कैसे माने जा सकते हैं। अतएव मात्र कामुकोपभोग में प्रति नियत न होने के कारण अनुमापक और व्याप्तिग्राहक नहीं हो सकते । किन्तु जहां उस प्रकार व्यङ्ग्य अभिप्रेत नहीं है, केवल यही अभिप्राय है कि "तू नहाने चली गई थी, उसके पास नहीं" वहां व्यभिचार होगा । इस प्रकार के शब्दों से सब स्थलों पर ऐसा ही अर्थ बोधित हो, यह नियम तो है नहीं अतएव व्याप्ति नहीं बनेगी ।[1]

यदि कोई यह कहे कि वक्ता की अवस्था अथवा उसके मुख-भङ्गिमा से यह अनुमान किया जा सकता है कि यदि इस अवस्था में ऐसे शब्द कहे जायें तो इस प्रकार का सम्भोग रूप अर्थ अनुमिति होता है, तो इस प्रकार का सम्भोग रूप अर्थ अनुमिति होता है, तो यह भी युक्तियुक्त नहीं है । क्योंकि सदैव इस प्रकार की व्याप्ति नहीं बन सकती ।[2]

ध्वनिमार्गानुयायियों के अनुसार इस पद्य में "अधम" पद व्यञ्जक है जिससे व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है । चूंकि नायक अधम है इसलिये अवश्य ही उसने दूती के साथ रति क्रीड़ा की होगी किन्तु अनुमानवादी को तो "अधमत्व" का प्रमाण चाहिये अन्यथा हेतु सन्दिग्ध होने के कारण असिद्ध होगा। अतएव अधमत्व से अनुमान नहीं हो सकता ।[3]

1- यच्च निःशेषच्युतचन्दनम् - इत्यादौ इत्यास्तत्कामुकोपभोगोऽनुमीयते, तत्किं प्रतिपाद्यया दूत्या, तत्कालसंनिहितैर्वान्यैः, तत्काव्यार्थभावनया वा सहृदयैः । आद्ययोर्नविवादः । तृतीये तु तथाविधाभिप्रायविरहस्थले व्यभिचारः ।

— सा. द. पं. परि. पृ. 167-68

2- ननु वक्त्राद्यवस्थासहकृतत्वेन विशेष्यो हेतुरिति न वाच्यम् । एवंविधव्याप्त्यनुसंधानस्याभावात् ।

— सा. द. पं. परि. पृ. 168

3- किंचैवंविधानां कविप्रतिभामात्रजन्मनां प्रमाण्यानावश्यकत्वेन संदिग्धासिद्धत्वं हेतोः । व्यक्तिवादिना चाधमपदसहायानामेवैषां पदार्थानां व्यञ्जकत्वमुक्तम् । तेन च तत्कान्तस्याधमत्वं प्रामाणिकं न वेति कथमनुमानम् ।

— सा. द. पं. परि. पृ. 168

उपर्युक्त विवेचन से यह निश्चित है कि अनुमान से व्यङ्‌ग्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती, और जब अनुमान ही व्यङ्‌ग्यार्थावबोध में सक्षम नहीं है तो अर्थापत्ति का तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि अर्थापत्ति भी व्याप्तिज्ञान का आश्रय करके ही प्रवृत्त होती है, व्यभिचरित और सन्दिग्ध हेतुओं के रहते हुये नहीं ।[1]

कविराज के अनुसार व्यङ्‌ग्यार्थ सूचन-बुद्धि का विषय भी नहीं है । उदाहरणार्थ कपड़ों के विक्रय आदि में उंगली उठाने से जैसे दस संख्या का बोध होता है उसी प्रकार से रस का भी सूचन-बुद्धि से ज्ञान हो जाना चाहिये, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है क्योंकि सूचन-बुद्धि में भी संकेत की अपेक्षा होती है । इस प्रकार यहां पर भी एक प्रकार का अनुमान ही है जो संकेतग्रह की व्याप्ति पर आधारित है अतएव रस की सूचन-बुद्धि से प्रतीति नहीं हो सकती ।[2]

आचार्य अब रस को स्मृति से भिन्न सिद्ध करने में अपनी युक्ति देते हुये कहते हैं कि वासना नामक संस्कार से उत्पन्न होने के कारण रसादिज्ञान को स्मृति नहीं मानना चाहिये । जहां पहले देखी हुई वस्तु को सामने देखने पर उसका ज्ञान हो जाता है, उसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं । यह प्रत्यभिज्ञा भी संस्कारजन्य तो होती है किन्तु स्मृति नहीं होती । अतः जो संस्कारजन्य हो वह स्मृति ही हो ऐसा कोई नियम नहीं है । इस प्रकार रस को स्मृति रूप सिद्ध करने में संस्कारजन्यरूप हेतु के प्रत्यभिज्ञा में व्यभिचरित हो जाने के कारण यहां भी हेत्वाभास है ।[3]

1- एतेनार्थापत्तिवेद्यत्वमपि व्यङ्‌ग्यानामपास्तम् । अर्थापत्तेरपि पूर्वसिद्धव्याप्तीच्छामुपजीव्यैव प्रवृत्तेः ।

— सा. द. पं. परि. पृ. 168

2- किंच वस्त्रविक्रयादौ तर्जनीतोलनेन दशसंख्यादिवत्सूचनबुद्धिवेद्योऽप्ययं न भवति । सूचन बुद्धेरपि संकेतादिलौकिकप्रमाणसापेक्षत्वेनानुमान - प्रकारताङ्‌गीकारात् ।

— सा. द. पं. परि. पृ. 168

3- यच्च "संस्कारजन्यत्वाद्रसादिबुद्धिः स्मृतिः" इति केचित् तत्रापि प्रत्यभिज्ञायामनैकान्तिकतया हेतोराभासता ।

— सा. द. पं. परि. पृ. 168

इसके अतिरिक्त जो महिमभट्ट ने शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के उदाहरण "दुर्गालङ्घित विग्रहो" में द्वितीय अर्थ नहीं माना है वह तो आचार्य विश्वनाथ की दृष्टि में अनुभवसिद्ध पदार्थ का अपलाप करने वाले उनकी गजनिमीलिका ही है ।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह सुस्पष्ट एवं सुनिश्चित है कि रसरूप अर्थ का कथमपि अपलाप सम्भव नहीं है एवं उसकी प्रतीति व्यञ्जना द्वारा ही मान्य है, क्योंकि उसकी प्रतीति कराने में न ही तीनों वृत्तियां अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या आदि सक्षम हैं और न ही अनुमान और अर्थापत्ति प्रमाण एवं स्मृति आदि ।[2]

आचार्य विश्वनाथ की व्यन्जना रक्षार्थ प्रयुक्त युक्तियों के आलोचनात्मक विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि कविराज मूलतः मम्मट से बहुत अधिक प्रभावित हैं, इसलिये अधिकतर इस प्रसंग में उन्होंने मम्मट की ही युक्तियों का आश्रय लिया है किन्तु अनुमान द्वारा रस-प्रतीति के खण्डन के प्रसंग में उनके तर्क बिल्कुल मौलिक हैं ।

विश्वनाथकृत अनुमान विषयक आलोचना निश्चित ही अधिक विद्वत्तापूर्ण है । महिमभट्ट द्वारा प्रतिपादित सरणि पर काव्यानुमिति को लोकानुमिति से विलक्षण स्वीकार कर लेने पर भी यह मानना पड़ता है कि काव्यानुमिति अव्याप्ति दोष से दूषित है, जैसा कि कविराज ने सिद्ध किया है कि रस तक तो इस काव्यानुमिति की पहुंच है ही नहीं, वस्तु एवं अलंकारध्वनि के कुछ ही स्थल ऐसे हैं जहां काव्यानुमिति मानी जा सकती है । इसलिये जहां महिमभट्ट को कोई हेतु नहीं दिखलाई देता, वहां वे प्रतीयमान की सत्ता का निषेध करते हैं । "अत्था एत्थणिमज्जइ"

1- "दुर्गालङ्घित" इत्यादौ च द्वितीयोऽर्थो नास्त्येव- इति यदुक्तं महिमभट्टेन, तदनुभवसिद्धमपलपतो गजनिमीलिकैव ।

– सा. द. पं. परि. पृ. 168

2- तदेवमनुभवसिद्धस्य तत्तद्रसादिलक्षणार्थस्याशक्यापलापतया तत्तच्छब्दाद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायितया चानुमानादिप्रमाणावेद्यतया चाभिधादिवृत्तित्रयाबोध्यतया च तुरीया वृत्तिरुपास्यैवेति सिद्धम् । इयंच व्याप्त्याद्यनुसंधानं विनापि भवतीत्यखिलं निर्मलम् ।

– सा. द. पं. परि. पृ. 169

में अर्थान्तर की प्रतीति होती है, इसमें तो सहृदयजन ही प्रमाण है, किन्तु महिमभट्ट इस उदाहरण में उसकी सत्ता का ही निषेध करते हैं । इस प्रकार जब इस उदाहरण के एक प्रतीयमान अर्थ तक अनुमिति की पहुंच नहीं है तो "गतोऽस्तमर्कः" आदि के अनेक अर्थों की प्राप्ति तो इसके द्वारा असम्भव ही है । विश्वनाथ कृत विवेचन को देखने के पश्चात् व्यन्जना की अपरिहार्यता स्वीकार करनी ही पड़ेगी, यह नितान्त सत्य है ।[1]

पंडितराज जगन्नाथ

पं. जगन्नाथ मूलतः ध्वनिवादी हैं, किन्तु अपने ग्रन्थ में कहीं भी व्यन्जना का स्वतन्त्र रूप से विवेचन नहीं किया है । द्वितीय आनन में चूंकि ध्वनि-विवेचन किया गया है, अतएव यह सिद्ध है कि पं. जगन्नाथ को व्यड्.ग्यार्थ की सत्ता स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है । पं. जगन्नाथ ने व्यड्.ग्यार्थ की प्रधानता एवं अप्रधानता के आधार पर ही काव्य भेद सुनिश्चित किये हैं ।[2]

उत्तमोत्तम काव्य का लक्षण है -- जब शब्द और अर्थ स्वयं को गौण करके किसी चमत्कारजनक अर्थ को व्यक्त करे, वहां उत्तमोत्तम काव्य है । व्यड्.ग्यार्थ न ही अत्यधिक गूढ़ होना चाहिये न ही स्फुट । जहां व्यड्.ग्य की सहायता से वाच्य की सिद्धि हो, वहां भी उत्तमोत्तम काव्य नहीं हो सकता ।[3] उपर्युक्त परिभाषा आनन्दवर्धन के आधार पर है । अतएव इन्हें ध्वन्यनुयायियों की कोटि में रखना सर्वथा उचित है ।

1- संस्कृत काव्यशास्त्र को महिमभट्ट के देयांश का मूल्यांड्.कन -पृ.110

2- तच्चोत्तमोत्तममध्याधमभेदाच्चतुर्धा ।
शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यड्.क्तस्तदाद्यम् ।
- रसगंगाधर - प्रथम आनन पृ. 11

3- कमपीति चमत्कृतिभूमिम् । तेनातिगूढस्फुटव्यड्.ग्ययोर्निरासः ।
अपराड्.गवाच्यसिद्धयड्.गव्यड्.ग्यस्यापि चमत्कारितया
तद्वारणाय गुणीभावितात्मानाविति स्वापेक्षया व्यड्.ग्य-
प्रधान्याभिप्रायकम् ।
- रसगंगाधर - प्रथम आनन पृ. 12

पंडित जगन्नाथ ने "निःशेषच्युत" आदि पद्यों की व्याख्या करके यह सिद्ध किया है कि व्यञ्जना द्वारा ही द्वितीय अर्थ अर्थात् प्रतीयमानार्थ की प्रतीति होती है । पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार यदि दूती से सामान्य स्नान की ही बात होती तो फिर वाच्यार्थ से ही काम चल जाता किन्तु सहृदय वाच्यार्थ से संतुष्ट नहीं होते और यह बात ध्यान में आती है कि नायिका साधारण दुख देने के कारण ही नायक को अधम नहीं कह रही है अपितु कोई विशेष दुख है । ऐसी जिज्ञासा होने पर व्यञ्जनया सहृदय जनों को यह प्रतीति होती है कि नायक ने दूती के साथ रति-क्रीड़ा की है । अतएव नायिका पतिव्रता होकर भी पति को अधम कह रही है । इस प्रकार इस विषय में पं. जगन्नाथ मम्मट से सहमत हैं ।[1]

पं. जगन्नाथ ने द्वितीय प्रकार के काव्य "उत्तम काव्य" इस प्रकार लक्षण किया है --

यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद्द्वितीयम् ।

अर्थात् जहां व्यङ्ग्य अप्रधान होकर भी चमत्कार का कारण हो, वह उत्तम काव्य है । पंडितराज की दृष्टि में ऐसा भी काव्य सम्भव है जिसमें व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अथवा अन्य व्यङ्ग्यार्थों की अपेक्षा गौण हो, किन्तु चमत्कारक हो । उपर्युक्त लक्षण में "व्यङ्ग्यमप्रधानयेव" में यदि "एव" का प्रयोग न होता तो जहां पर व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान तथा अन्य व्यङ्ग्यार्थों की अपेक्षा गौण हो, वहां भी इस

---

1 (क) एवं साधारणेष्वेषु वाक्यार्थेषु मुख्यार्थे बाधाभावात् तात्पर्यार्थस्य झटित्यनाकलनात् कुतोऽत्र लक्षणावकाशः । अनन्तरं च वाच्यार्थ-प्रतिपत्तेर्वक्तृबोद्धव्यनायकादीनां वैशिष्ट्यस्य प्रतीतौ सत्यामधमपदेन स्वप्रवृत्तिप्रयोजको दुःखदातृत्वरूपो धर्मः साधारणात्मा वाच्यार्थदशायामपराधान्तर-निमित्तकदुःखदातृत्वरूपेणस्थितो व्यञ्जनाव्यापारेणदूतीसम्भोगनिमित्तकदुःखदातृत्वा कारेण पर्यवस्यतीत्यालं-कारिकसिद्धान्तनिष्कर्षः ।

— रसगंगाधर — प्र. आ. पृ. 57

(ख) इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ।

— का. प्र. प्र. उ. पृ. 23

(ग) अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गताऽसीति प्राधान्येनाधमपदेन व्यज्यते ।

— का. प्र. प्र. उ. पृ. 26

लक्षण की व्याप्ति होने लगेगी ।[1] जैसे--

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरूजघनस्पर्शी नीवीविस्त्रंसनः करः ।।

यहां पर करूण रस तथा श्रृंगार रस दोनों ही व्यड्.ग्य हैं । किन्तु मृत नायक भूरिश्रवा के प्रति उसकी पत्नी की उक्ति होने के कारण करूण रस रूप व्यड्.ग्य प्रधान है एवं श्रृड्.गार रस रूप गौण। व्यड्.ग्य है किन्तु वाच्यार्थ से प्रधान है अतएव यह भी उत्तम काव्य कहा जायेगा, इसी अतिव्याप्ति से बचने के लिये अप्रधानमेव कहा गया है। इस प्रकार जब व्यड्.ग्य अन्य व्यड्.ग्य एवं वाच्य दोनों से ही गौण हो और तब भी चमत्कारजनक हो, तो वहां उत्तम काव्य होगा । "चमत्कारकारणं" जो विशेषण यहां पर प्रयुक्त हुआ है वह भी साभिप्राय है । चूंकि चित्रादि काव्यों में व्यड्.ग्य लीन रहता है, चमत्कार नहीं उत्पन्न करता अतएव यह विशेषण उत्तम काव्य से चित्र काव्य का भेदक है ।[2]

1- §क§ वाच्यापेक्षया प्रधानीभूतं व्यड्.ग्यान्तरमादाय गुणीभूतं व्यड्.ग्यमादायातिव्याप्तिवारणायावधारणम्। तेन तस्य ध्वनित्वमेव। लीनव्यड्.ग्यवाच्यचित्रातिप्रसड्.गवारणाय चमत्कारेत्यादि ।

— रसगंगाधर — प्र. आ. पृ. 20

§ख§ अर्थात् "एव" कारनिवेशः । अयं भावः — यद्यत्र "व्यड्.ग्यमप्रधानमेव सत्" इत्यवधारणं न दीयेत तर्हि "व्यड्.ग्यमप्रधानं सत् चमत्कारकम्" इत्यर्थो भवेत्। ततश्च "अयं स रशनोत्कर्षी" त्याद्यपराड्.गोदाहरणेषु करूणापेक्षया अप्रधानं श्रृंगारश्चमत्कारकारणमस्तीति ध्वनित्वस्थाने अस्याप्युत्तमकाव्यत्वं प्रसज्येत् । एवकारनिवेशे तु—यद् व्यड्.ग्यमप्रधानमेव सदित्युक्त्या करूणापेक्षया गुणत्वेपि वाच्यार्थापेक्षया श्रृंगारस्य प्राधान्यमस्तीति ध्वनिकाव्यत्वमस्याऽव्याहतम्। अत्र "अयं स रशनोत्कर्षी" त्यत्र वाच्यापेक्षया श्रृंगारस्य न प्राधान्यम्, वाच्यस्यैव शोकोत्कर्षकतया "चमत्कारित्वात्" इति नागेशोक्तिस्तु मूल विरुद्धा केवलं भ्रमापादिकैव । पूर्ववृत्तश्रृंगारस्य करूणप्रसड्.गे शोकोत्कर्षकतया चमत्कारित्वस्य प्रदीपाद्यड्.गीकृतत्वात् ।

— रसगंगाधर — प्र. आ. पृ. 20

2- चित्रकाव्येषु व्यड्.ग्य लीनं भवति, न तत्कृतश्चमत्कारः । तेष्वतिप्रसक्ति-वारणाय चमत्कारकमित्युक्तम् ।

मध्यम काव्य का स्वरूप-वर्णन पण्डितराज जगन्नाथ ने इस प्रकार किया है - जहाँ व्यङ्.ग्य-चमत्कृति के अधीन वाच्य-चमत्कार न हो अर्थात् वाच्यार्थ के चमत्कार में ही व्यङ्.ग्यार्थ का वैचित्र्य अर्थ निहित हो जाय, वहाँ मध्यम काव्य मानना चाहिये ।

सामान्यतः यह देखा जाता है कि वाच्यार्थ में स्वयं कोई वैशिष्ट्य नहीं होता उसमें तभी वैचित्र्य एवं चमत्कार उत्पन्न होता है जबकि किसी अंश में व्यङ्.ग्यार्थ से सम्बन्धित हो । अतएव मध्यम काव्य में भी पण्डितराज को व्यङ्.ग्यार्थ का अभाव वांछनीय नहीं है भले ही उसका स्वतन्त्र अस्तित्व अभीष्ट न हो ।[2]

इस प्रकार उत्तम और मध्यम दोनों कही काव्यों में व्यङ्.ग्य अप्रधान है, तथापि उत्तम काव्य में व्यङ्.ग्य अप्रधान होते हुये भी चमत्कृति उत्पन्न करता है, किन्तु मध्यम काव्य में व्यङ्.ग्य होते हुये भी वाच्यार्थ का उपकारक एवं निश्चयत्कारक होता है । इस प्रकार ये दोनों ही काव्य अलंकार प्रधान काव्य हैं ।[3] द्वितीय कोटि के अन्तर्गत समासोक्ति इत्यादि अलंकार जिनमें व्यङ्.ग्यार्थ गौण होते हुये भी वैचित्र्याधायक होता है तथा तृतीय व्यङ्.ग्य गौण भी है तथा चमत्कारक भी नहीं ।

आचार्य अधम काव्य की सत्ता वहाँ स्वीकार करते हैं जहाँ वाच्यार्थ के चमत्कार से उपस्कृत शब्द की चमत्कृति का प्राधान्य हो ।[4]

पण्डितराज ने काव्य को चार वर्गों में विभाजन व्यङ्.ग्यार्थ को आधार बनाकर किया है जिससे व्यञ्जना की अपरिहार्यता सिद्ध होती

1- यत्र व्यङ्.ग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत्तृतीयम् ।
- रसगंगाधर प्र. आ. पृ. 22

2- न तादृशोऽस्ति कोऽपि वाच्यार्थो यो मनागनामृष्ट प्रतीयमान एव स्वतो रमणीयतामाधातुं प्रभवति ।

3- अनयोरेव द्वितीयतृतीयभेदयोर्जागरूकाजागरूकगुणीभूतव्यङ्.ग्ययोः प्रविष्टं निखिलमलंकारप्रधानं काव्यम् ।
- रसगंगाधर प्र. आ. पृ. 23

4- यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं तदधमं चतुर्थम् ।
- रसगंगाधर, प्र. आ. पृ. 23

हैं । उनके विचार से वाच्यार्थ में किसी न किसी अंश में व्यङ्ग्यार्थ का सम्बन्ध होने पर ही चमत्कार आता है, भले ही वह प्रधान हो अथवा अप्रधान ।

ध्वनि-भेदों का विवेचन पण्डितराज ने आचार्य आनन्दवर्धन के आधार पर ही किया है । रसध्वनि को ही काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है ।[1] जैसा कि आनन्दवर्धन को भी मान्य है ।

प्राचीन आचार्यों के शब्दशक्त्युत्थध्वनि विषयक मान्यताओं का खण्डन करते हुये इस सम्बन्ध में अपने मत का प्रतिपादन करते हुये वे सबल शब्दों पुष्ट तर्कों के साथ व्यञ्जना की अपरिहार्यता का प्रतिपादन करते हैं । वे कहते हैं कि - योगरूढ़ि पद में द्वितीय अर्थ का बोध व्यञ्जना द्वारा होता है । आचार्य के अनुसार अभिधा का एक भेद योगरूढ़ि है जो कभी शास्त्रकल्पित, कभी अवयवार्थमिश्रित और कभी समुदायार्थबोधकतारूप होती है । उदाहरणार्थ - पंकज योगरूढ़ शब्द है । यहां रूढ़ि शक्ति के ज्ञान में ही योगशक्ति का बोध होता है । "पंकज" में पंक से उत्पन्न शैवाल का बोध न होकर केवल रूढ़ अर्थ कमल का बोध होता है, किन्तु कहीं-कहीं योगरूढ़ पद से रूढ़ि अर्थ का बोध हो जाने के बाद योगार्थ की प्रतीति होती है । यह प्रतीति अभिधा से सम्भव नहीं है क्योंकि रूढ़ियोंगापहारिणी के अनुसार योगशक्ति रूढ़ि शक्ति में बाधित होने के कारण अभिधा भी नियंत्रित हो जायेगी, ऐसे स्थलों में व्यञ्जना ही स्वीकार्य करनी होगी ।[2] उदाहरण के लिये -

अबलानां श्रियं हत्वा वारिवाहैः सहानिशम् ।
तिष्ठन्ति चपला यत्र स कालः समुपस्थितः ।।

1- {क} एवं पञ्चात्मके ध्वनौ परमरमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मा रसः ।
- रसगंगाधर प्र. आ. पृ. 25

{ख} "काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा" ।
- ध्व. प्र. उ. पृ. 142

2- एवमपि योगरूढस्थले रूढ़िज्ञानेन योगापहरणस्य सबल तन्त्रसिद्धतया रूढ्यनधिकरणस्य योगार्थालिङ्गितस्यार्थान्तरस्य व्यक्तिं बिना प्रतीतिर्दुरुपपादा ।

इसका अर्थ यह है – अबलाओं की श्री का हरण कर विद्युत जब मेघों के साथ सदैव रहती है, वह समय उपस्थित हो गया है ।

इस पद्य का अन्य अर्थ है – "जब चंचल कुलटाएं निर्बल व्यक्तियों के अर्थ का हरण कर जलवाहकों के साथ रहने लगी है, वह समय [कलिकाल] आ गया है ।

उपर्युक्त अर्थान्तर अबला, वारिवाह, और चपला आदि शब्दों से योगरूढ़ि शक्ति से नहीं निकल सकता क्योंकि योगरूढ़ि से तो मेघ और विद्युत आदि अर्थों का ही बोध होता है । अतएव इस अर्थान्तर की प्रतीति के लिए व्यञ्जना को स्वीकार करना आवश्यक है ।[1]

इस प्रकार यौगिकरूढ़िस्थल में समझना चाहिये । उदाहरण इस प्रकार है --

चाञ्चल्ययोगि नयनं तव जलजानां श्रियं हरतु ।
विपिनेऽतिचञ्चलानामपि च मृगाणां कथं हरति ।।

चंचलतारूपगुण से युक्त तुम्हारा नेत्र कमल का तिरस्कार करे, यह आश्चर्य की बात नहीं है, किन्तु अत्यधिक चंचल मृग नेत्रों का तिरस्कार करे, यह आश्चर्य है ।

इस वाच्यार्थ के निष्पन्न होने पर रूढ़िरहित यौगिक अर्थ इस प्रकार होगा – "असावधान व्यक्ति का धन हरण करना सुलभ है, किन्तु गवेषक व्यक्ति का नहीं ।

काव्य में "ड" और "ल" में अभेद माना गया है, इस दृष्टि से "जलज" का "जडज" अर्थ होगा अर्थात् मूर्ख अथवा असावधान पुत्र और

1– अत्राशक्तानां द्रव्यमपहृत्य जलवाहकैः पुरुषैः सह पुंश्चल्यो रमन्त इत्यर्थान्तरं न तावदबलावारिवाहचपलाशब्दैर्योगरूढ्या शक्यते बोधयितुम्, मेघत्वविद्युत्त्वाद्यघटितस्यैव तस्यार्थस्य प्रतीतेः । अन्यथा चमत्कारो न स्यात् अतएव न योगशक्त्यापि केवलया ।
– रसगंगाधर, द्वि. आ. पृ. 145

नयन का अर्थ होगा ले जाने वाला अर्थात् चोर, मृगयन्ति का अर्थ है गवेषक । इस प्रकार द्वितीय अर्थ व्यञ्जना वृत्ति द्वारा ही सम्भव है । योगरूढ़ पद रूढ़िरहित योग शक्ति से युक्त अर्थ का बोध कराने में असमर्थ है अतएव व्यञ्जना ही यहां पर युक्तियुक्त है ।[1]

पूर्वोक्त पद्यों मे योगरूढ़ शब्दों का प्रयोग है, अतएव सइनसे जो अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति होती है, वह व्यञ्जनया ही सम्भव है । व्यञ्जना व्यापार की अपरिहार्यता सिद्ध करने के लिए आचार्य अन्य वृत्तियों ‡लक्षणा एवं तात्पर्य आदि‡ की प्रकृत प्रसङ्.ग में निरर्थकता प्रदर्शित करते हैं ।

पंडितराज के अनुसार उपर्युक्त पद्य में लक्षणा का अवकाश नहीं है क्योंकि लक्षणा तो मुख्यार्थ बाध होने पर ही हो सकती है तथा "अबलानाम्...आदि तथा चान्चल्य...आदि श्लोकों में मुख्यार्थ बाध है नहीं। यदि "तात्पर्यानुपपत्तिरेव लक्षणा बीजम्" के अनुसार तात्पर्यानुपत्ति को भी लक्षणा का कारण माने तो वह भी नहीं, क्योंकि यदि कोई कहे कि अवलानां...आदि में अप्राकरणिक अर्थ है – दुर्बल पुरुषों का धन अपहरण कर चंचल कुलटाएं जलवाहकों के साथ रहने लगी हैं" इसी में वक्ता का तात्पर्य है तथा वाच्यार्थ में यह अनुपपन्न रहता है। इसलिये तात्पर्यानुपपत्ति से लक्षणा होनी चाहिये,[2] इस शंका के समाधान हेतु पंडितराज का कथन है कि अप्राकरणिक अर्थ में वक्ता का तात्पर्य है यह बात श्रोता को ज्ञात कराने के लिये ही व्यञ्जना व्यापार का आश्रय लिया गया है, अतः लक्षणा द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति सम्भन नहीं है ।

1– अत्र नैवाश्चर्यचमत्कारी चान्चल्यगुणरहितानां कमलानां चाञ्चल्यगुणाधिकेन तव लोचनेन शोभायास्तिरस्कारः, आश्चर्यकृत्तु हरिणानां तद्गुणयुक्तानां तस्याः स इति वाच्यार्थे पर्यवसन्नेऽपि रूढिनिर्मुक्तकेवलयोगमर्यादया मुर्खपुत्राणामत एव प्रमत्तानां नेतृभिश्चोराद्यैः श्रियो धनस्य हरणं सुशकम्, न तु गवेषकाणामत एव प्रमत्तानामिति जलजनयनशब्देभ्यः प्रतीयमानो अर्थः कथं नाम व्यञ्जनाव्यापारं विनोपपादयितुं शक्यते ।
– रसागंगाधर द्वि. आ. पृ. 145

2– तस्मादर्थान्तरमिह न शक्तवेद्यम्, अपि तु व्यक्तिवेद्यमेव । यथाश्रुतार्थस्यैवोपपत्तेर्बाधाभावेन लक्ष्यमित्यपि न शक्यं वक्तुम् ।

स्यादित्युपायोज्यं विचिन्त्यते ।

यदि व्यञ्जना को अस्वीकार करने वाले विरोधी यह तर्क दें कि क्या प्रमाण है कि अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति होती है तो इसका साक्षात् प्रमाण सहृदय हैं जो स्वयं इसका अनुभव करते हैं । इसका जोरदार समर्थन करते हुए आनन्दवर्धन की ही सरणि पर कहते हैं कि शब्दार्थशासनज्ञानमात्र से ही व्यञ्जना का बोध सम्भव नहीं है अपितु शब्द और अर्थ की गहन व्युत्पत्तियों से मसृणीकृत अन्तःकरण वाले सहृदय ही अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति करने में सक्षम हैं ।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् पंडितराज ने शाब्दी अभिधामूला व्यञ्जना का इस प्रकार लक्षण किया है ।

जब योगरूढ़ पद की योग शक्ति रूढ़ि द्वारा नियन्त्रित हो जाती है तब योगशक्ति - स्पृष्ट अर्थ की प्रतीति जो कराती है वह वृत्ति व्यञ्जना ही है ।[2]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि पंडितराज व्यञ्जना वृत्ति के पक्षधर हैं ।

विद्याधर

एकावलीकार विद्याधर भी कट्टर ध्वन्यनुयायी हैं । आचार्य विद्याधर ध्वनि का प्रयोग व्यंग्यार्थ के लिये करते हैं और उसे काव्य की आत्मा कहते हैं ।

1- न ह्यपहर्तृव्यवहारो वक्ता विवक्षित इति श्रोतृबोधे कश्चिदुपायोऽस्ति ऋते सहृदयहृदयोन्मिषितादस्माद् व्यापारात् । एवमन्यत्राप्यूह्यम् । तादृशार्थप्रतिपत्तिरेव नास्तीति तु गाढतरशब्दार्थव्युत्पत्तिमसृणीकृतान्तःकरणैर्न शक्यते वक्तुम् ।

— रसगंगाधर, द्वि. आ. पृ. 146

2- योगरूढस्य शब्दस्य योगे रूढ्या नियन्त्रिते ।
धियं योगस्पृशोऽर्थस्य या सूते व्यञ्जनैव सा ।।

— रसगंगाधर, पृ. 147

आचार्य भी अन्य ध्वनिवादियों की भाँति रस की स्वशब्दवाच्यता का खण्डन करते हैं । उनके अनुसार विभावों द्वारा अंकुरित, अनुभावों के द्वारा कन्दलित तथा व्यभिचारी भावों के द्वारा पल्लवित रस केवल व्यञ्जनाव्यापारगम्य ही है । यह न तो अभिधा का विषय है, न ही तात्पर्य का, न ही लक्षणा का यहां अवकाश है । प्रत्यक्ष, अनुमान प्रमाणों एवं स्मृति आदि से भी ज्ञाप्य नहीं है । सामाजिकों की वासना के रूप में स्थित रति आदि भाव ही श्रृंगारादि रस कहा जाता है ।[1]

आचार्य विद्याधर जैसे आलोचक ने किन्चिद् भिन्न सरणि पर चलकर काव्यानुमिति को धराशायी करने का प्रयास किया है । अनुमान प्रमाण का अंग है व्याप्ति, जो कि साध्य-सामान्य के साथ साधन-सामान्य का अविभावसम्बन्धरूप है ।[2] प्रस्तुत प्रसङ्ग में साध्य-सामान्य है ध्वनि एवं साधन-सामान्य है शब्दार्थ । व्याप्ति के तीन प्रयोजक हैं - साध्य की अनुपलब्धि, साध्यसाधन का तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति । इनमें से अनुपलब्धि के द्वारा साध्य की सिद्धि सम्भव नहीं, क्योंकि उनके द्वारा अभाव रूप साध्य की ही सिद्धि हो सकती है ।[3]

1- विभावैर्ललनादिभिरालम्बनकारणैरङ्कुरितः सितकरकोकिलालापमलयानिलकेलिकाननादिभिरुद्दीपनकारणैः कन्दलितोऽनुभावैर्नयनान्तविलोकितस्मितभुजवल्लीवेल्लनादिभिः प्रतीतिपद्धतिमध्यारोपितो व्यभिचारिभिश्चिन्तादिभिः पल्लवितः कदाचिदपि नानुभूतोऽभिधया न कर्णातिथीकृतस्तात्पर्येण न लक्ष्यीकृतो लक्षणया न स्वविषयं प्रापितः प्रत्यक्षेण नात्मनः सीमानमानीतोऽनुमानेनपरिशीलितसरणिः स्मरणेन नाक्रान्तः कार्यतया न ज्ञातो ज्ञाप्यतया विगलितवेद्यान्तरत्वेन परिमितावनधीती ध्वननाभिधानाभिनवव्यापारपरिरम्भनिर्भरतयानुकार्यानुकर्तृगतत्वपरिहारेण सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको भाव एव . . . . श्रृंगारादिको रसोऽभिधीयते ।
– एकावली, पृ. 86-88

2- अनुमानस्य चाङ्गं व्याप्तिः । . . . . साध्यसामान्येन साधनसामान्यस्याविनाभावो हि व्याप्तिः ।
– एकावली, पृ. 32

3- साध्यसामान्येन साधनसामान्यस्याविनाभावो हि व्याप्तिः । प्रकृते ध्वनिः साध्यसामान्यं शब्दार्थौ च साधनसामान्यं तत्र च ध्वनेरनुपलब्धिर्वा, शब्दार्थयोस्तादात्म्यं वा तदुत्पत्तिर्वा साधिका ।
– एकावली पृ. 32

जैसे--

"नात्र कुम्भः उपलम्भयोग्यस्य तस्यानुपलब्धेः" उदाहरण में कुम्भाभाव साध्य है अतः यहां अनुपलब्धि से कार्य चल सकता है किन्तु यहां पर ध्वनि की अनुपलब्धि से ध्वनि का अभाव साध्य नहीं है, प्रत्युत ध्वनि की उपलब्धिपूर्वक ध्वनि ही साध्य है । अतएव साध्य ध्वनि की अनुपलब्धि द्वारा साध्य ‡ध्वनि या प्रतीयमान अर्थ‡ की सत्ता यहां नहीं सिद्ध की जा सकती । साधन अथवा गमक शब्दार्थ की अनुपलब्धि के आधार पर भी साध्य ध्वनि के अभाव की सिद्धि सम्भव नहीं, इसलिए कसी एक वस्तु की अनुपलब्धि किसी अन्य वस्तु के अभाव की साधिका नहीं बन सकती । कुम्भाभाव कभी स्तम्भाभाव को सिद्ध नहीं कर सकता ।[1] व्याप्ति के अन्य दो प्रयोजकों के अभाव को भी एकावलीकार ने उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है । इस प्रकार "मूलं नास्ति कुतो शाखा" न्यायेन काव्यानुमिति का खण्डन किया है । एकावलीकार विद्याधर अभाववाद का खंडन करने के लिये यह तर्क देते हैं कि अभाववादी आचार्यों के अनुसार "ध्वनिर्नास्ति" यह कहना वदतोव्याघात है क्योंकि ध्वनि कहने से विधि तथा नास्ति कहने से निषेध इन दो विरोधी धर्मों की एक धर्मी में स्थिति उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार तिमिर और आतप की एक स्थान में सहस्थिति सम्भव नहीं है । जिस प्रकार घटादि का देश-भेद तथा काल-भेद से भाव तथा अभाव दोनों की व्यवस्था हो सकती है उस प्रकार ध्वनि के सम्बन्ध में देश-भेद, काल भेद नहीं है । जिससे ध्वनि का भाव एवं अभाव सिद्ध किया जा सके । पुनः अभाववादियों से आचार्य विद्याधर एक प्रश्न और पूछते हैं कि वे प्रतीत ध्वनि का निषेध करते हैं अथवा अप्रतीत ध्वनि का । यदि प्रतीत ध्वनि का निषेध करते हैं तो यह निषेध क्वाचित्क है अथवा सार्वत्रिक, यदि क्वाचित्क निषेध मानें तो ध्वनिवादियों से कोई विरोध नहीं क्योंकि ध्वनिवादी भी तो सब जगह

1- न तावदनुपलब्धिः साध्यं बोधयतीति शक्यतेऽभिधातुमभावरूपसाध्यैकसाधनायप्रगल्भमानत्वात्तस्याः । यथात्र न कुम्भः । उपलम्भयोग्यस्य तस्यानुपलब्धेरिति । प्रकृते त्वन्यतरासिद्धो हेतुः । न हि वयं ध्वन्यनुपलम्भेन ध्वन्यभावं साधयामः । ध्वन्युपलम्भेन ध्वनेरेवास्माभिः साध्यमानत्वात् । नापि शब्दार्थयोरनुपलम्भेन । न हि कुम्भानुपलम्भः स्तम्भाभावं साधयितुमीष्टे

ध्वनि नहीं मानते । यदि सार्वत्रिक अभाव मानें तो अभाववादियों का सिद्धान्त स्वतः खण्डित हो जाता है क्योंकि प्रतीत वस्तु का सार्वत्रिक निषेध नहीं हो सकता है। यदि अभाववादी अप्रतीत ध्वनि का निषेध मानें तो उनका यह वदतोव्याघात है कि क्याकि अभाव के प्रतियोगी की प्रतीति होना आवचश्यक है । यदि ध्वनिर्नास्ति में ध्वनि ध्वन्यभाव का प्रतियोगी है तो फिर इसकी पूर्वप्रतीति तो सिद्ध ही है क्योंकि प्रतियोगी की प्रतीति ही प्रतिषेध के प्रति कारण बनती है । अप्रतीत वस्तु का कैसा प्रतिषेध [1] एकावलीकार के उक्त तर्क केवल शुष्क तर्करूप हैं इन तर्कों के आधार पर ध्वनि की सत्ता सिद्ध करना सहृदयों को प्रभावित नहीं कर सकता, अतएव ध्वनिकार ने अनुभूतिगम्य सैद्धान्तिक विवेचन कर अभाववादी को परास्त किया है।[2]

आचार्य रुय्यक

मम्मट के परवर्ती साहित्याचार्यों में राजानक रुय्यक मुख्य आचार्य हैं । राजानक रुय्यक ध्वनिमत के एकनिष्ठ अनुयायी थे । रुय्यकविरचित ग्रन्थों में से ﴾1﴿ सहृदयलीला, ﴾2﴿ व्यक्तिविवेक की टीका ﴾3﴿ अलंकारसर्वस्व, उपलब्ध हैं, जिसमें सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ अलंकार सर्वस्व है ।

राजानक रुय्यक चूंकि ध्वनिवाद के समर्थक थे, अतएव उन्होंने सर्वप्रथम भामह[3], रुद्रट[4], वामन[5], उद्भट[6]

1- एकावली पृ. 24-25

2- ध्वनि सिद्धान्त विरोधी सम्प्रदाय और उनकी मान्यताएं।

3- इह हि तावद्भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरंतनालंकारकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारकतयालंकारपक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते ।

4- रुद्रटेन तु भावालंकारो द्विधैवोक्तः । रूपक दीपकापह्नुतितुल्ययोगितादावुपमाद्यलंकारो वाच्योपस्कारकत्वेनोक्तः । उत्प्रेक्षा तु स्वयमेव प्रतीयमाना कथिता । रसवत्प्रेयः प्रभृतौ रसभावादिर्वाच्यशोभाहेतुत्वेनोक्तः । तदित्थं त्रिविधमपि प्रतीयमानमलंकारतया ख्यापितमेव ।

5- वामनेन तु सदृश्यनिबन्धनाया लक्षणाया वक्रोक्त्यलंकारत्वं ब्रुवता कश्चिद् ध्वनिभेदोऽलंकारतयैवोक्तः । केवलं गुणविशिष्टपदरचनात्मिका रीतिः काव्यात्मत्वेनोक्ता ।

6- उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम् । विषयमात्रेण भेदप्रतिपादनात् । संघटनाधर्मत्वेन शब्दार्थधर्मत्वेन चेष्टेः । तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्

कुन्तक[1], भट्टनायक[2], आनन्दवर्धन[3], आदि के व्यञ्जना-विषयक दृष्टिकोण का विवेचन किया है, तत्पश्चात् स्वयं व्यञ्जना की अपरिहार्यता सिद्ध करते हुये उसका बलपूर्वक समर्थन किया है । चूंकि पूर्ववर्ती आचार्यों का पिछले अध्यायों में पृथक् रूप से विवेचन हो चुका है अतएव विस्तार के भय से यहाँ पर उनका नामोल्लेख मात्र कर दिया गया है ।

रुय्यक ने ध्वनिकार के मत का उल्लेख करने के पश्चात् संक्षेप में ही पूर्ववर्ती आचार्यों का खण्डन करके स्वमतस्थापन किया है । उनके अनुसार व्यापार का स्वरूप विषय के द्वारा ही बनता है, तथा विषय की प्रधानता से ही व्यापार की प्रधानता होती है । प्रस्तुत प्रसङ्.ग में "व्यापार" शब्द "व्यञ्जना" के लिये प्रयुक्त हुआ है तथा "विषय" शब्द "व्यङ्.ग्यार्थ" का द्योतक है । चूंकि व्यापार स्वतः नहीं जाना जा सकता अतः विषय ही {आत्मा की संज्ञा} सारे भार को वहन करने में समर्थ होने के कारण {व्यङ्.ग्य} ही काव्य की आत्मा है ।[4]

1- वक्रोक्तिजीवितकारः पुनर्वैदग्ध्यभिणितिस्वभावां बहुविधां वक्रोक्तिमेव प्राधान्यात् काव्यस्य जीवितमुक्तवान् । व्यापारस्य प्राधान्यं च काव्यस्य प्रतिपेदे । अभिधानप्रकार विशेषा एवालंकाराः । सत्यपि त्रिविधे प्रतीयमाने व्यापाररूपा भणितिरेव कविसंरम्भगोचरः । उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृतः । केवलमुक्तिवैचित्र्यजीवितं काव्यं न व्यङ्.ग्यार्थजीवितमिति तदीय दर्शनं व्यवस्थितम् ।

2- भट्टनायकेन तु व्यङ्.ग्यव्यापारस्य प्रौढ़ोक्त्याभ्युपगतस्य काव्यांशत्वं ब्रुवता न्यग्भावितशब्दार्थस्वरूपस्य व्यापारस्यैव प्राधान्यमुक्तम् । तत्राप्यभिधाभावकत्वलक्षणव्यापारद्वयोत्तीर्णो रसचर्वणात्मा भोगापरपर्यायो व्यापारः प्राधान्येन विश्रान्तिस्थानतयाङ्.गीकृतः ।

3- ध्वनिकारः पुनरभिधा तात्पर्य लक्षणाख्यव्यापारत्रयोत्तीर्णस्य ध्वननद्योतनादिशब्दाभिधेयस्य व्यञ्जनव्यापारस्यावश्याभ्युपगम्यत्वाद् व्यापारस्य च वाक्यार्थत्वाभावाद्वाक्यार्थस्यैव च व्यङ्.ग्यरूपस्य गुणालंकारोपस्कर्तव्येन प्राधान्याद्विश्रान्तिधामत्वादात्मत्वं सिद्धान्तितवान् ।

— अलंकार सर्वस्व पृ. 2-8

4- व्यचापारस्य विषयमुखेन स्वरूपप्रतिलम्भात्तत्प्राधान्येन प्राधान्यात्स्वरूपेण विचार्यत्वाभावाद् विषयस्यैव समग्रभरसहिष्णुत्वम् । तस्माद् विषय एव व्यङ्.ग्यनामा जीवितत्वेन वक्तव्यः ।

— अ. स. पृ. 9-10

जो भामह, उद्भट आदि आचार्यों ने वाच्यार्थ के उपस्कारक होने से प्रतीयमान अर्थ को अलंकारों की कोटि में रखा है, वामन आदि आचार्यों ने गुणविशिष्टपदरचनात्मिका रीति को काव्य की आत्मा कहा है उन सभी का एक वाक्य में खण्डन करते हुये आचार्य कहते हैं कि गुण और अलंकार से उत्पन्न शोभा को स्वीकार करने में उसी (व्यङ्ग्य) का प्रभुत्व है । रस आदि काव्य के प्राण हैं, उन्हें कभी भी अलंकार रूप में नहीं समझना चाहिये क्योंकि अलंकार उपस्कारक होते हैं तथा रस आदि प्रधान होने से उपस्कार्य हैं ।

इस प्रकार वाक्यार्थीभूत व्यङ्ग्य ही काव्य की आत्मा है । यही पक्ष वाक्यार्थ के ज्ञाता सहृदयों को प्रिय एवं आकर्षक प्रतीत होता है । इसकी व्यापकता एवं प्रामाणिकता का उल्लेख करते हुये आचार्य का अभिप्राय है कि चूंकि व्यञ्जना व्यापार किसी से छिपा नहीं है, अतएव इसे स्वीकार करने पर कोई भी पक्ष मान्य नहीं रह जाता ।[1]

राजानक रुय्यक ने व्यञ्जना वृत्ति की स्थापना करके अनुमानवादी आचार्य महिमभट्ट कृत व्यञ्जना-खण्डन के प्रकरण का उल्लेख कर अनुमितिवाद का खण्डन किया है ।[2] रुय्यक के अनुसार उस व्याप्ति के प्रयोजक तादात्म्य और तदुपपत्ति हैं। "यत्र यत्र अनित्यत्वं तत्र तत्र कृतकत्वं" इस व्याप्ति में लिङ्ग अनित्यत्व तथा लिङ्गी कृतकत्व के बीच तादात्म्य हैं। इसी प्रकार "यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः" इस व्याप्ति में लिङ्ग और लिङ्गी के बीच तदुत्पत्तिभाव है। आचार्य महिमभट्ट के अनुसार वाच्य लिङ्ग है तथा अनुमेय लिङ्गी है ।[3]

1- यस्य गुणालंकारकृत चारुत्वपरिग्रहसाम्राज्यम् । रसादयस्तु जीवितभूता नालंकारत्वेन वाच्याः । अलंकाराणामुपस्कारकत्वाद्रसादीनां च प्राधान्येनोपस्कार्यत्वात् । तस्माद् व्यङ्ग्य एव वाक्यार्थीभूतः काव्यजीवितमित्येष एव पक्षो वाक्यार्थविदां सहृदयानामावर्जकः । व्यञ्जनव्यापारस्य सर्वैरपह्नुतत्वात्तदाश्रयेण च पक्षान्तरस्याप्रतिष्ठानात् ।

— अ. स. पृ. 16

2- यत्तु व्यक्तिविवेककारो वाच्यस्य प्रतीयमानं प्रतिलिङ्गतया व्यञ्जनस्यानुमानान्तर्भावमाख्यत् तद्वाच्यस्य प्रतीयमानेन सह तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावादविचारिताभिधानम् ।

राजानक रुय्यक के अनुसार वाच्य और प्रतीयमान में न ही तादात्म्य है, न ही तदुत्पत्ति । उदाहरणार्थ "निःशेषच्युतचन्दनं" में निषेधरूप अर्थ वाच्य है तथा विधिरूप अर्थ प्रतीयमान, किन्तु यहां पर दोनों अर्थों में तादात्म्यसम्भव नहीं है, क्योंकि वाच्यार्थ अभावरूप है तथा प्रतीयमानार्थ भाव रूप है दोनों के विरोधी होने पर तादात्म्य कैसे हो सकता है । इसी प्रकार तदुपत्ति भी नहीं हो सकती है, क्योंकि अभाव का कसी के साथ जन्यजनक सम्बन्ध नहीं हो सकता है । "निःशेषच्युत चन्दन" आदि विशेषणों को "तदिन्तकगमन" का हेतु नहीं मान सकते, क्योंकि स्नान के भी गमक उपर्युक्त विशेषण हो सकते हैं, ऐसी दशा में हेतु अनैकान्तिकत्व दोष से दुष्ट हो जायेगा । इस प्रकार व्यञ्जना का जो अनुमान में अन्तर्भाव सिद्ध करने का प्रयास किया गया है वह निस्सन्देह अविचारित कथन है ।[1]

सम्पूर्ण विवेचन के पश्चात् रुय्यक ने बड़े विश्वस्तपूर्ण ढ़ग से कहा है- "अस्ति तावद् व्यङ्ग्यनिष्ठो व्यञ्जना व्यापार" निष्कर्षतः रुय्यक व्यञ्जना समर्थक आचार्य हैं । इन्होंने अतिसंक्षेप में पूरा विवेचन किया है, किन्तु काव्यानुमिति का खण्डन अपने मौलिक तर्क के आधार पर किया है ।

हेमचन्द्र

हेमचन्द्र आचार्य रुय्यक के समय में एक लब्धप्रतिष्ठ ग्रन्थकार हुये । उनके द्वारा रचित काव्यानुशासन संग्रहात्मक होने पर भी एक विशिष्ट ग्रन्थ है । यह ग्रन्थ ध्वन्यालोक, लोचन, अभिनवभारती, काव्यप्रकाश एवं काव्यमीमांसा पर आधारित हैं । जहां तक व्यञ्जना - विषयक विवेचन है, वह अधिकतर आचार्य मम्मट पर ही आधारित है । अतएव इनका पृथक् रूप से विवेचन नहीं किया गया है । आचार्य हेमचन्द्र भी ध्वनिवादी एवं प्रबल व्यञ्जना समर्थक आचार्य थे ।

1- संस्कृत काव्य शास्त्र को महिमभट्ट के देयांशों का मूल्याङ्कन पर आधारित ।

उपसंहार

प्रकृत प्रबन्ध के विगत पांच अध्यायों में व्यञ्जना का विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है । व्यञ्जना की आधार शिला पर आधारित ध्वनि-सिद्धान्त सतत प्रवहमान भारतीय काव्यचिन्तन का अप्रतिम सिद्धान्त है । ध्वन्यालोक में व्यञ्जना को काव्य का सर्वश्रेष्ठ तत्व मानकर उसी की प्रशस्ति की गई है एवं व्यङ्ग्य की प्रतीति के लिये उसे आवश्यक सिद्ध किया गया है ।

व्यञ्जना व्यापार अभिधा, लक्षणा आदि वृत्तियों से विलक्षण है तथा एक नवीन उद्भावना भी है, अतएव प्रथम अध्याय में पहले अभिधा, लक्षणा का विवेचन किया गया है उसके पश्चात् व्यञ्जना का निरूपण है । प्रस्तुत प्रबन्ध में व्यञ्जना की उपादेयता एवं अपरिहार्यता पर पुष्कल विचार प्रस्तुत किये गये हैं ।

यद्यपि व्यञ्जना आचार्य आनन्दबर्धन की ही उद्भावना है किन्तु इसके इतिहास को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यज्यते आदि शब्द ऋग्वेद के समय से ही प्रचलित थे । तथा भामह आदि अलंकारिकों के समय में व्यञ्जना एक वृत्ति के रूप में नहीं अपितु अलंकारों के रूप में ही अन्तर्भूत थी ।

चूंकि उस समय व्यञ्जना वृत्ति सर्व सामान्य को ज्ञात नहीं थी, अतएव इसका विरोध होना स्वाभाविक था और इसका प्रबल विरोध हुआ भी । अतएव आचार्य आनन्दबर्धन ने कल्पित व्यञ्जना विरोधियों तथा वास्तविक व्यञ्जना विरोधी आचार्यों दोनों का ही खण्डन किया है । परवर्ती प्रायः सभी आचार्यों ने आनन्दवर्धन की ही सरणि पर विरोधी आचार्यों का खण्डन किया है किन्तु अनुमितिवाद के खण्डन में प्रायः सभी की मान्यतायें मौलिक हैं । किसी भी मान्यता में दोष की उद्भावना उतना कठिन कार्य नहीं है, जितना कि दोष-परिहार सम्बन्धी सैद्धान्तिक विवेचन । इस दृष्टि से भी व्यञ्जना के संस्थापक एवं उनके अनुयायी आचार्यों का संस्कृत साहित्य में सराहनीय योगदान है । एक दृष्टि से व्यञ्जना का सैद्धान्तिक विरोध उसकी पुष्टि में सहायक ही है क्योंकि जब तक किसी तथ्य पर शंकायें नहीं होती उसकी प्रमाणिकता पर सन्देह बना रहता है । इसी कारण आचार्य आनन्दवर्धन ने व्यञ्जना के खण्डन से सम्बन्धित सूक्ष्म से सूक्ष्म शंकाओ का भी समाधान कर दिया है ।

इस प्रकार निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है आचार्य आनन्दवर्धन की प्रतिभा विलक्षण थी तभी तो ध्वनि सिद्धान्त जैसे-गहन प्रस्थान की स्थापना एवं व्यञ्जना व्यापार की मौलिक उद्भावना की तथा यह साहित्य शास्त्र के लिये एक अनुपम एवं आलौकिक उपलब्धि है । मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, पं. जगन्नाथ आदि धुरन्धर आचार्यों ने इसे स्वीकार ही नहीं किया है अपितु अपने विवेक और तर्क से व्यञ्जना की उपादेयता पर अधिक बल भी दिया है ।

सहायक-ग्रन्थ-सूची

ऋग्वेद - चौखम्बा प्रकाशन.
अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग - नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली 1969.
अलंकारसर्वस्व - सञ्जीविनी - मोतीलाल बनारसी दास, वाराणासी, 1963.
अभिधावृत्तिमातृका - चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1863.
अमरकोष - निर्णय सागर प्रेस.
अष्टाध्यायी - पाणिनि.
एकावली - सं. कमलाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी, बम्बई-1903.
काव्यालंकार - भामह - नागनाथ शास्त्री, तन्जौर, 1926.
काव्यालंकार - रुद्रट - चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1966.
काव्यालंकारसारसंग्रह - उद्भट - नारायणदास बनहट्टी, पूना, 1925.
काव्यादर्श - चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1984.
काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः - चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, 1979.
काव्यालंकारसारसंग्रह एवं लघुवृत्ति की व्याख्या - हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 1966.
काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः - सं.1922 पं. श्रीनित्यबोध - विद्यारत्न द्वारा साम्पादित.
काव्यप्रदीपः - चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1982.
काव्यप्रकाशः - आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 1967.
काव्यप्रकाशः - श्रीनिवास शास्त्री.
काव्यानुशासन - सं. 1934 पाण्डुरंग जावजी द्वारा सम्पादित.
काव्य - मीमांसा - गायकवाड ओरियन्टल सिरीज, 1934.
चन्द्रालोकः - चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1984.
तर्कभाषा - चौखम्बा प्रकाशन.
तन्त्रवार्तिक - पं. गंगाधर शास्त्री द्वारा सम्पादित.
ध्वन्यालोक - मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1975.
सलोचन ध्वन्यालोक - प्रथम उद्योत, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, 1975.
सलोचन ध्वन्यालोक - द्वितीय उद्योत, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1979.
(डॉक्टर रामसागर त्रिपाठी)

ध्वन्यालोक लोचन तथाउ कौमुदीयुक्त - कुप्पुस्वामी शास्त्री, रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मद्रास - 1944.
दशरूपकम् - चौखम्बा विद्याभवन, 1967.
हिन्दी ध्वन्यालोक - पं. चण्डिका प्रसाद शुक्ल.
निरुक्तम् - चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983.
न्यायरत्नमाला - पार्थसारथिमिश्र - के.एस. रामास्वामी शास्त्री, बड़ौदा, 1937.
न्यायसूत्र - न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - सं. नृसिंहदेवशास्त्री, लाहौर, 1928.
न्यायमञ्जरी - सं. सूर्यनारायण शुक्ल, बनारस, 1926.
परमलघुमञ्जूषा - कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1985.
प्रतिभादर्शन - चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1964.
महाभाष्यम् - पतञ्जलि - कलकत्ता, 1957.
मीमांसासूत्र - शाबरभाष्य सहित.
भारतीय साहित्य शास्त्र - जी.टी.देशपाण्डे, सं. ग.रा.भटकल, बम्बई, 1960.
रसगंगाधर ‡द्वितीय‡ - चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1983.
रसगंगाधर ‡तृतीय‡ - चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1978.
रसगंगाधर ‡प्रथम‡ - चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1987.
लघुसिद्धान्त कौमुदी - चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 1985.
वक्रोक्तिजीवितम् - चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1977.
वाक्यपदीय - भर्तृहरि - चौखम्बा प्रकाशन.
व्यक्तिविवेकः - चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1979.
वृत्तिवार्तिकम् - सं. पं. शिवदत्त, बम्बई, 1940.
शब्दव्यापारविचारः - चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1974.
श्लोकवृर्तिक - कुमारिलभट्ट - मद्रास संस्सकरण.
श्रृङ्गारप्रकाश - मैसूर संस्करण, 1955.
सरस्वतीकण्ठाभरण - सं. केदारनाथ दुर्गाप्रसाद, बम्बई, 1925.
साहित्य दपर्ण - मोतीलाल बनारसीदास, 1977.
सर्वदर्शन संग्रह - सायण माधव - भण्डारकर आरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1978.
शब्दखण्डम् - आयुर्य-प्राच्य-विद्या-प्रकाशन-संस्थानम्, वाराणसी, 1977.
संस्कृत साहित्य का इतिहास - आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा निकेतन, वाराणसी, 1978.
संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास - साहित्य संस्थान, 1983.

सांख्य तत्व कौमुदी - चौ. विद्याभवन, वाराणसी.
भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा - डॉ. नगेन्द्र.
भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त - चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1967.
महिमभट्ट के योगदान का मूल्यांड्.कन - शिव प्रकाशन, 1976.
व्यञ्जना विमर्शः - वन्दना प्रकाशन, दिल्ली, 1977.
ध्वनि, सिद्धान्त, विरोधी सम्प्रदाय और उनकी मान्यताएं - वसुमती प्रकाशन, 1972.
वाक्यवृत्ति - शंकराचार्य.
तत्वप्रदीपिका - चित्सुखाचार्य.
न्यायकोषः -
अलड्.कारमहोदधि - सं. लालचन्द भगवानदास गांधी, बड़ोदा, 1942.
वेदान्तसार - चौखम्बा प्रकाशन.
प्रौढमनोरमा - भट्टोजिदीक्षित.
हिन्दी व्यक्तिविवेक - चौखम्बा संस्कृत संस्थान, 1982.
त्रिवेणिका - सं. जयकृष्णदास गुप्ता, वाराणसी, 1925.
हिन्दी नाट्य शास्त्र - चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1984.
ध्वनि सम्प्रदाय का विकास - डॉ. शिवनाथ पान्डेय,
पट्टाभिरामाभिनन्दनग्रन्थः
स्वतन्त्र कला शास्त्र - डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय.
काव्यप्रकाशदर्पण - विश्वनाथ.
काव्य सम्प्रदाय - अशोक कुमार सिंह - ओरियन्टल बुक डिपो, जालन्धर.
काव्य सर्जना और काव्यास्वाद - डॉ. वेंकट शर्मा.
हिन्दी वक्रोक्ति जीवित की भूमिका - डॉ. नगेन्द्र
दीधिति ध्वन्यालोक टीका - चौ. सं. लि., 1953
अभिनवभारती - गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज

ENGLISH

Dhvanyaloka- K. Krishnamoorthy- Motilal Banarasi Das,1974.

History of Sanskrit Poetics- P.V. Kane- Motilal Banarasi Das, 1961.

History of Sanskrit Poetics- S.K. De- Motilal Banarasi Das, 1960.

Highways and Byways of Literary Criticism in Sanskrit- Mm. Kuppuswami Shastri.

History of Sanskrit Literature - A.B.Keith.

Theories of Rasa and Dhvani - A. Shankaran.

Dhvanyaloka and its critics
- K. Krishnamoorthy, Mysore, 1968.

Aesthetics and Sanskrit Literature
- Pushpendra Kumar.

The Origin and Development of the theory of Rasa and Dhvani - Tapasvi S. Nandi, Ahmedabad, 1973.

A History of Sanskrit Literature
- A Varadachari.

Philosophy of Poetry - N.N.Chowdhary

JOURNALS

Journal of Ganga Nath Jha Institute.

Journal of Oriental Research, Madras.

Gaekwad Oriental Series.